सहजानंद शास्त्रमाला

सुभाषित रत्न संदोह प्रवचन

भाग-1

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला (सर्वाधिकार सुरक्षित)

सुभाषित रत्न संदोह प्रवचन

(भाग १, २, ३)

मूल ग्रन्थकर्त्ता :—

श्रीमदमितगति आचार्य (द्वितीय)

प्रवचनकार :—

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, गुरुवर्य श्रीमनोहर जी वर्णी, 'सहजानन्द महाराज'

सम्पादक :—

पवन कुमार जैन

सदर, मेरठ

प्रकाशक :—

खेमचन्द जैन

मंत्री श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५-ए रंजीतपुरी, सदर मेरठ

प्रति १०००
सन् १९८२

Not for Sale

लागत रु० २०/-

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ।।५।।

०००○०००

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें ।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर ।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रों द्वारा ।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा ।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

स्वाध्याय प्रेमियों को सप्रेम भेंट
श्री पार्श्वनाथ पुस्तकालय
भेंटकर्ता— डॉ० नानक चन्द जैन,
(DR. N. C. JAIN'S HOME LIBRARY)
शान्तोल हाउस, मौ० ठटेरवाड़ा - मेरठ शहर 250002
गली पार्श्वनाथ, मो० ठठेरवाड़ा, मेरठ शहर
.... अनुरोध स्वाध्याय पूर्ण करके सूचना दें आपके आभारी होंगे।

सुभाषित रत्नसंदोह प्रवचन

प्रथम भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

जनयति मुदमंतर्भव्यापाथोरुहाणां, हरति तिमिरराशिं या प्रभा मानवीया ।
कृतनिखिलपदार्थद्योतना भारतीद्धा, वितरतु धुतदोषा सार्हती भारतीं वः ।।१।।

मंगलाचरणमें आर्हती भारतीका आशीर्लाभ—भारती अर्थात् जिनवाणी हम सबको तुम सबको भारती प्रदान करे अर्थात् जिनवाणीकी उपासनाके प्रसादसे हमको जिनवाणी प्राप्त हो, जो जिनवाणी सत्य खोजी भव्य जीवोंको हर्ष उत्पन्न करती है, जो जिनवाणी सूर्य की प्रभाकी तरह अज्ञान अंधकारकी राशिको नष्ट करती है, जो जिनवाणी समस्त पदार्थोंका यथार्थस्वरूप प्रकाशन करती है, जिस जिनवाणीमें रंच भी दोष नहीं है वह अरहंत भगवान से प्रकट हुई भारती हम सबको भारती प्रदान करे अर्थात् सद्बुद्धि दे, तत्त्वज्ञान देवे ।

भव्य जीवोंको आनन्द देने वाली भारतीका गुणानुवाद—इस मंगलाचरणमें पहला विशेषण दिया है वाक्य रूपमें कि यह जिनवाणी सत्य खोजी भव्य जीवोंको आनन्द प्रदान करती है । वास्तवमें आनन्द वस्तुस्वरूपके सम्यग्ज्ञानमें है और वस्तुस्वरूपके सम्यक् बोध होने पर जो आनन्द प्रकट होता है उस आनन्दकी तुलना यहाँ संसारके बड़ेसे बड़े सुखोंसे भी नहीं दी जा सकती है संसारके प्रत्येक सुखमें आकुलता भरी हुई है और पहले तो यह ही देखें कि आकुलतासे ही सुखका भोगना होता है । ५ इन्द्रियके विषय और मनका विषय इनके सुखोंको जो कोई भी भोगता है वह शान्तचित्त होकर नहीं भोग सकता, किन्तु अन्तः क्षोभ आकुलता विकल्प मचा कर ही उसको भोग सकता है । तो सांसारिक सुखमें प्रथम तो यह ही एक अवगुण है कि वह आकुलतासे ही भोगा जा सकता है । तो जगतका कोई भी सुख

सत्य तथ्यके ज्ञान होनेमें हुए आनन्दकी तुलना नहीं कर सकता। जिस समय जीवको समस्त पदार्थोंकी स्वतंत्रताका परिज्ञान होता है। प्रत्येक वस्तु परिपूर्ण स्वतंत्र सत् है। एकका दूसरे पर रंच भी अधिकार नहीं है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे ही परिणमता है ऐसा ही स्वरूप मेरा है। मैं असाधारण चैतन्यस्वरूप हूं। अपने आपमें ही अपनेको परिणमाता रहता हूं। इसका बाह्यसे रंच सम्बन्ध नहीं। यह स्वयं खुदमें अनन्त आनन्द और ज्ञानसे परिपूर्ण स्वभाव वाला है। वस्तु तत्त्वका जब यथार्थ। बोध होता है तो वहाँ अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। इस आनन्दको देने वाली कौन है? यह भारती माता, जिनेन्द्र भगवानकी वाणी। सो जो सत्यके खोजनहार पुरुषोंको अलौकिक आनन्द प्रदान करती है वह प्रभु वाणी हम आप सबको सद्बुद्धि प्रदान करे, निर्मल ज्ञान दे।

अज्ञानान्धकारको हटानेवाली प्रभुवाणीका गुणानुवाद—यहाँ दूसरा विशेषण दिया है कि यह जिनेन्द्र वाणी सूर्यकी प्रभाकी तरह तिमिर राशिको नष्ट करती है जैसे सूर्यकी प्रभा अंधकारको दूर कर देती है। यद्यपि सूर्य अपने आपमें ही है, जैसे वह पृथ्वीकायिक विमान है वह अपने आपमें अपना परिणमन कर रहा है। वह विमान अपने प्रदेशोंसे बाहर किसी को कुछ प्रदान नहीं करता, न किसीका कुछ हरता है, पर निमित्त नैमित्तिक योग है ऐसा कि सूर्यका उदय हुआ, सूर्यकिरणोंका सन्निधान हुआ कि ये पृथ्वी आदिक प्रकाशावस्था वाले बन जाते हैं और जहाँ प्रकाश रूप बने पदार्थ वहाँ अंधकार पर्याय बिलीन हो जाती है। इस तरह निमित्त नैमित्तिकयोग वश यह बात होती ही है कि सूर्यकी किरणें इस तिमिर राशिको दूर कर देती हैं, अंधकार है पुद्गलद्रव्यकी पर्याय और यह है द्रव्य पर्याय, क्योंकि अंधकार पुद्गलद्रव्यके रूप, रस, गंध स्पर्श इन चार गुणोंमें से किसी भी गुणकी पर्याय नहीं है। कोई वस्तु यदि सफेद है तो अंधेरा छा जानेसे क्या उस वस्तुका रंग काला हो जाता है? रूपमें कुछ परिणमन नहीं होता। वह तो सफेद ही वहाँ पड़ी हुई है, सो देख लो, तुरन्त ही प्रकाशका सन्निधान पाकर वह वस्तु अपनी अंधकार अवस्थाको त्यागकर प्रकाश अवस्थामें आ जाता है। तो यह अंधकार जैसे गुणपर्याय नहीं है, ~~किन्तु पुद्गलकी द्रव्य पर्याय नहीं है~~, प्रदेश पर्याय है, इस प्रकार प्रकाश भी पुद्गलद्रव्यकी गुणपर्याय नहीं है, किन्तु द्रव्यपर्याय है। सो जब पुद्गलद्रव्यमें प्रकाश पर्याय जगती है तो अंधकार पर्याय बिलीन हो जाती है। सो जैसे सूर्यकी प्रभा अंधकारकी राशिको दूर कर देती है इसी प्रकार यह जिनेन्द्र वाणी अज्ञान अंधकारको दूर कर देती है। ऐसी जिनेन्द्र वाणी हम आप सब लोगोंको निर्मल ज्ञान प्रदान करे।

वस्तुस्वरूपका द्योतन करने वाली प्रभुवाणीका गुणानुवाद—तीसरा विशेषण दिया है कि यह भारती समस्त पदार्थोंका द्योतन करती है। जो पदार्थ जिस रूपमें है उस पदार्थ

को उसी रूपमें जीवोंके ज्ञानमें प्रकाशित कर देना यह इस भारतीका कार्य है। भारती अर्थात् जिनवचन, ये वचन दो प्रकारके हैं--(१) भाववचन और (२) द्रव्यवचन। द्रव्यवचन तो पौद्गलिक हैं, भाववचन भावरूप हैं। सो प्रभुकी दिव्यध्वनि तो द्रव्यवचन हैं, पर उसको सुन-कर श्रोताजन अपने आपमें उसे भाववचन बना लेते हैं। उन वचनोका जो अर्थ है उन अर्थो के रूपमें उनका अन्तर्जल्प चलता है। सो वचनों द्वारा पदार्थोंके स्वरूपका द्योतन किया जाता है। यदि यह भारती न होती तो पदार्थका स्वरूप लोग कहांसे प्राप्त करते और मोक्षमार्गका कैसे उपाय बनाते? इस कारण जिनेन्द्रवाणीका जितना उपकार माना जाय वह सब थोड़ा है. भले ही जिसको इस जिनेन्द्रवाणीका महत्त्व नहीं मालूम है वह भले ही इसकी उपेक्षा करे, सो उपेक्षा करके वे अपना भवितव्य ही बिगाड़ रहे हैं। जैनेन्द्र वाणीके विरोधमें, उपेक्षामें ज्ञानलाभ न अब है, न भविष्यमें हो पायगा, पर जो जानते हैं कि हमारी अगर कोई हित-कारिणी माता है तो वह प्रभुवाणी है।

प्रभुवाणीमें असत्यताकी असंभवता--अरहंतदेवके वीतरागता और सर्वज्ञता प्रकट हुई है, जिसके रागद्वेष नहीं रहा और समस्त पदार्थोंका परिपूर्ण ज्ञान हो रहा उसके वचन कभी भी असत्य नहीं हो सकते। असत्य वचन निकलनेके दो कारण हैं। एक तो रागद्वेष भाव होना, दूसरे—ज्ञानकी कमी रहना, किसीको ज्ञान पर्याप्त भी हो किन्तु किसी इष्ट अनिष्ट पदार्थमें रागद्वेष जग रहा हो तो अपनी खुदगर्जीके लिए जैसेमें इसका मन संतुष्ट हो उस प्रकार का वचन बोलेगा, वहाँ असत्य बात भी कही जा सकती है अथवा कोई प्रकट रागद्वेष तो नहीं है, किन्तु ज्ञान कम है, जानकारी ही नहीं है तो वह भी किसी प्रसंगमें असत्य बात कह सकता है। तो कहीं बिना जाने असत्य वचन निकले और कहीं कषायवश असत्य वचन निकले, किन्तु परमात्मामें रागद्वेष विकार रंचमात्र नहीं हैं और ज्ञानका परिपूर्ण विकास है, उसमें रंच भी कमी नहीं है, फिर शरीरसहित होनेसे ये परमात्मा दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश करते हैं। उस ध्वनिमें कोई भी वचन असत्य नहीं है। और उस ध्वनिको सुनकर गणधर देवने उसको स्पष्ट द्वादशांगकी वाणीमें समझा है, फिर उस वाणीमें समझकर लोक भाषामें उन्होंने उपदेश किया है। तो ऐसी शुद्ध परम्परासे आयी हुई वाणीमें किसी भी प्रकारका दोष नहीं है, अतएव वह वाणी सत्य ही है, उसमें जो कुछ पदार्थका स्वरूप बताया है वह निर्दोष है।

शुद्ध परम्परामें जिनवचनोंकी आज भी उपलब्धता—यह जैन शासनका उपदेश तीन तरहकी वचन रचनामें हुआ है। प्रथम भाषावर्गणा तो अरहंत भगवानकी दिव्यध्वनिमें है, उसमें लोक भाषाके योग्य कोई अक्षर नहीं होता, इसी कारण उसे निरक्षरी कहा करते हैं।

फिर भी कुछ ध्वनि तो होती ही है, वह ध्वनि मंत्रस्वरूप बीजाक्षर रूप होती है, जिसका बोलना कुछ कठिन है। जैसे कि कभी मंत्रशास्त्रमें ७-८ व्यञ्जनोंका संयुक्त अक्षर देखनेको मिलता है। जैसे तल्व्यूँ ह् म् ल् र् व् य् ऊ म्, इतने व्यञ्जन उसमें पड़े हैं, स्वर एक है, तो ऐसी कोई बीजाक्षररूप ध्वनि होती है। उस ध्वनिको झेलते हैं गणधरदेव। तो गणधर देव द्वादशांग वाणीमें उसे समझते हैं। यह दूसरी वाणी है। द्वादशांग वाणी भी लोकभाषाकी वचनरचनाके समान नहीं है। भला जहाँ दो तीन आदिक अक्षरोंको लेकर ५०-६० अक्षरों तकका संयोगी अक्षर होता है, वह वचनके द्वारा हम आपसे कैसे बोला जा सकता है? उस द्वादशांग वाणीको वचनरूपसे कहनेमें भी एक ऋद्धि होती है। उस द्वितीय वाणी द्वादशांग वाणीको समझकर गणधरदेव चूंकि वे लोकभाषा और द्वादशांग वाणी दोनोंके जानकार हैं सो फिर वे लोकभाषामें लोगोंको उपदेश करते हैं, तो ऐसे वीतराग सर्वज्ञदेवके मूलसे विनिर्गत यह जैनशासनका उपदेश सही वस्तु स्वरूपको बताने वाला है। ऐसी यह भारती समस्त पदार्थोंको प्रकट करने वाली है।

धुतदोषा प्रभुवाणीका आदर—चौथा विशेषण दिया है धुतदोषा, जिनके दोष धुल गए हैं, दूर हो गए हैं, जैनेन्द्र वाणीमें दोष रंच नहीं है, क्योंकि उनके मूल वक्ता आप्त सर्वज्ञदेव हैं और वे भी आशय, अभिप्राय रख करके नहीं बोलते, किन्तु भव्य जीवोंका भाग्य व प्रभुके वचनयोगका प्रवर्तन इन दो कारणोंसे वह दिव्यध्वनि निकलती है। जैसे मेघ बरसते हैं तो मेघ कभी यह अभिप्रोय नहीं रख पाते कि मैं इस गाँवमें बरस जाऊँ, किन्तु उस गाँव वालोंका ही भाग्य है कि उनके भाग्योदयसे, सातोदयसे इष्ट मेघवर्षा हो जाती है तभी तो ऐसी विचित्रता देखनेमें आयी है कि जब जरूरत है पानी बरसनेकी तो एक गाँवमें तो बरस गया और उसके पासके अन्य गाँवमें नहीं बरसा तो ऐसा बरस जानेका कारण वहाँकी जनताके भाग्यका उदय है। तो ऐसे ही भगवानकी दिव्यध्वनि खिरती है उसमें मुख्य कारण है भव्य जीवोंका भाग्योदय। और वहाँ है प्रभुमें वीतरागता और सर्वज्ञता तो ऐसे निर्दोष आत्मासे जो भी ध्वनि पैदा होती है उसके जानकार जो गणधरदेव हैं वे यथार्थ प्रकाश पाते हैं। ऐसी धुतदोषा प्रभुवाणी हम आपको सम्यग्ज्ञान प्रदान करे। अब इस ग्रन्थमें ३२ प्रकरण हैं, उनमें से पहला सांसारिक विषयसुख निराकरण नामका प्रकरण है। उसका प्रारंभ किया जा रहा है।

१—सांसारिक विषयसुख निराकरण प्रकरण

न तदरिरिभराजः केसरी केतुरुग्रो, नरपतिरतिरुष्टः कालकूटोऽतिरौद्रः।
अतिकुपितकृतांतः पावकः पन्नगेंद्रो, यदिह विषयशत्रुर्दुःखमुग्रं करोति ॥२॥

विषयशत्रुकी उग्रदुःखकारिताके वर्णनके प्रसंगमें स्पर्शनविषय व रसनाविषय शत्रुका

निर्देश—संसारके प्राणियोंको जैसा उग्र दुःख ये विषयसुखरूप शत्रु उत्पन्न करते हैं उतना उग्र दुःख संसारकी अन्य कठिन-कठिन घटनायें भी नहीं करती। विषयशत्रुका अर्थ है—विषयोंकी तृष्णा। ५ इन्द्रिय और मन इन ६ के विषयोंकी तृष्णा जिस पुरुषको लगी हो उसको अतीव उग्र दुःख उत्पन्न होता है। स्पर्शनइन्द्रियका विषय है स्पर्श। किसीको ठंढा अच्छा लगता है, किसीको गर्म छूना अच्छा लगता है किसीको चिकना, किसीको रूखा स्पर्श अच्छा लगता है। किसीको कठोर, नरम, भारी अथवा हलका अच्छा लगता है तो उन स्पर्शोंके छूने में तृष्णा जगाना यह है स्पर्शन विषयशत्रु। रसमें किसीको खट्टा अच्छा लगता, किसीको मीठा अच्छा लगता। किसीको कड़वा, तीखा अच्छा लगता, यह जीवकी भिन्न-भिन्न प्रकृति है और भिन्न भिन्न कर्मोदय हैं। कोई पुरुष ऐसे होते हैं कि उनसे मीठा नहीं खाया जाता। खट्टा उनको बड़ा रुचता। कोई कोई बालक दूध जरा सा भी नहीं पी सकते, किसीको मीठा ही अच्छा लगता। खट्टेसे बहुत दूर रहना चाहते। किसीको कड़वा भला लगता। करेलेकी साग बड़े चावसे खाते जितनी कड़वी लगती है उतनी ही अच्छी भी मानते हैं। और ऊंट आदिक जानवर तो कड़वी चीजको बड़े चावसे खाया करते हैं। तो ऐसी जीवोंकी भिन्न-भिन्न रुचि है रसके स्वादमें। जिसको जो रुचता है उसकी उस विषयमें तृष्णा बढ़ जाती, यह है रसना विषय शत्रु।

घ्राणेन्द्रियविषयशत्रु, चक्षुरिन्द्रियविषयशत्रु व कर्णेन्द्रियविषय शत्रुका निर्देश—सुगंध दुर्गन्धमें भी विचित्र रुचि है जीवकी। सुगंध तो प्रायः लोगोंको रुचती ही है, पर ऐसे भी मनुष्य देखे गए अथवा कीट आदिक प्राणी देखे गए, पशु पक्षी देखे गए कि जिनको दुर्गन्ध रुचती है। जो तालाबमें मछली आदिकका शिकार करते। व्यवसाय करते ऐसे ढीमर जन, उनको मछलियोंकी दुर्गन्ध ही रुचती है। कहीं फूलको या इत्रकी सुगंधकी जगह पहुंच जायें तो वह उनको नहीं रुचती और तिर्यञ्चोंमें तो अनेक हैं ही ऐसे। विष्टाके कीटको विष्टा ही रुचता है। अन्यत्र वह नहीं जाता। तो सुगंध दुर्गन्ध जिसको जो इष्ट है उसकी तृष्णा जग जाना यह है घ्राणविषय शत्रु। चक्षुइन्द्रिय द्वारा रूप भला लगता है। जिसको जो रूप रुचता है उसको मिल क्या जाता है। दूरसे उस रूपको निरखते रहने से इस निरखने वाले को लाभ क्या हो जाता है ? आंखका परिश्रम किया। मनका बिगाड़ किया। आत्मामें निर्बलता उत्पन्न की। लाभ कुछ नहीं होता। उसे कोई लौकिक लाभ भी नहीं है, पर तृष्णा एक ऐसी प्रेरणा करती है कि जिसको जो रूप रुचा वह उस रूपको निरखनेमें अपना सारा बल खो देता है। तो रूप निरखना, तृष्णा होना यह है नेत्रविषयशत्रु। किसीको राग रागनी के शब्द अतीव इष्ट हैं और उनके सुने बिना चैन भी नहीं पड़ती। उसके लिए न जाने कहाँ कहाँ जाते। रातोंरात जगना, बहुत-बहुत परिश्रम करना यह सब तृष्णाके कारण होता है।

तो इस तृष्णाको कहते हैं कर्णविषयशत्रु ।

मनोविषयशत्रुकी उग्रदुःखकारिता—छठा शत्रु है मनोविषय । यह मनोविषय बड़ा प्रबल बैरी है । इस असार संसारमें यदि किन्हीं मायावी पुरुषोंका मायामयी नाम मायामयी लोगोंमें मायामय बन जाय तो उससे उस पुरुषको लाभ क्या मिलता है । वह आत्मा अमूर्त ज्ञानमात्र है । सबसे निराला है । उसको लाभ तो अपने आत्मामें रमण करने से है, पर तृष्णा ऐसी है कि उस मनके विषयमें बढ़ जाती है यह है मनोविषयशत्रु । तो इन विषय शत्रुवोंसे जैसा दुःख उत्पन्न होता है वैसा दुःख अन्य किसी घटनासे नहीं होता । मनोविषय-शत्रु तो बहुत ही क्लेशकारी है, विषय शत्रुवोंमें सर्व कठिन शत्रु है मनोविषयशत्रु । यह मन कितने भविष्य तक की किन-किन बातोंकी इच्छा करके इस आतमाको दुःखी करता है । मन के अनुकूल कार्य बनानेके लिए यह प्राणी किसी भी जीवकी हिंसा कर सकता है । झूठ चोरी आदिक सभी प्रकारके पाप कर सकता है जिसको इस दुनियामें अपने ख्यातिकी तीव्र लालसा जग गई हो । तो ऐसा यह मनोविषय शत्रु इस जीवको उग्र दुःख उत्पन्न करता है । बड़े-बड़े राजपुत्र और और भी राजा महाराजा एक इस मनके विषयसे पीड़ित होकर ही सारे जीवन दुःख पाते रहे । अनेक कथायें आती हैं—जिनमें जीवन दुःखसे भरा रहा है । किसी राजपुत्रने किसी सेठकी पुत्री या बहूको देख लिया तो उससे वह कामवासनासे पीड़ित हो गया, आहार छोड़ दिया, बड़ी आहें भरने लगा, अधमरा सा हो गया.... यह क्या है ? यह मनोविषयका आक्रमण है ।

मदोन्मत्त हाथीसे भी अधिक विषयशत्रुकी दुःखकारिता—ये विषयशत्रु इस जीवको ऐसे कठिन दुःख उत्पन्न करते हैं जैसे दुःख बड़े भयंकर अनिष्ट समागममें भी नहीं होते । मदोन्मत्त हाथी जब बिगड़नेपर भागता है तो जो भी पुरुष मिलता है उसे सूँडसे पकड़कर झकोर देता, पैरके नीचे रखकर दाब देता, कितना भयंकर उत्पात करता है । पुराणोंमें ऐसी कथायें बहुत आयी हैं और यहाँ भी देखा जाता है । कि जब कोई हाथी बिगड़ जाता है तब वह बहुत संहार करने लगता है । मदोन्मत हाथियोंको तो वश किया जा सकता है, ऐसा किया भी है । एक कथानकमें स्वामी श्री महावीर जी ने भी किसी मदोन्मत्त हाथीको वश किया था । और भी अनेक ऐसे कथानक हैं कि उन उन हाथियोंको वश किया जा सकता, और वे जितना भी दुःख देते हैं वह दुःख एक भवका है । किसी हाथीने किसीपर आघात किया, किसीने किसीको मार डाला, मगर ये विषय शत्रु इस भवमें भी दुःखी करते हैं और इनके कारण भव भवमें जन्म मरण संकट ही सहना पड़ता है । तो मदोन्मत्त हाथी भी जितना भयंकर क्लेश उत्पन्न कर सकते हैं उससे कई गुना दुःख ये ५ इन्द्रियके विषय और मनके विषयका अनुराग व्यामोह इस जीवको दुःखी करता है । अब इन विषयोंके मोहसे यह जीव

भव भवमें जन्म धारण करे, जीवनभर कष्ट पाये और मरण किया करे।

मांसलोलुपी सिंह, उग्रकेतु, अतिक्रुद्ध राजासे भी भयंकर विषयशत्रुकी दुःखकारिता– मांसलोलुपी सिंह, एक तो सिंह मांसभक्षी होता ही है और फिर जिसको मांसकी लोलुपता हो जाय तो वह अनावश्यक ही अनेक जन्तुवोंको, मनुष्योंको मारता रहता है। चाहे पेट भी भर गया हो, आवश्यकता न हो तो भी उसकी प्रकृति बन जाती है कि जो भी सामने आये उसीको ही खाता जाय। तो ऐसा मांस लोलुपी सिंह जितना कष्ट उत्पन्न कर सकता है जीवों को उससे भी भयंकर उग्र कष्ट ये विषयशत्रु उत्पन्न करते हैं, क्योंकि सिंहके आघातसे प्राणी एक बार ही मरा, लेकिन इन विषय शत्रुओंके आघातसे यह जीव भव-भवमें कष्ट पाता है। भयंकर राहु केतु लोकमें इन्हें दुःखकारी मानते हैं, एक ऐसी प्रसिद्धि है। चाहे वे निमित्तनैमित्तिक योगवश या कोई अशुभकी सूचनाके कारणवश ऐसा लोग कहने लगे हों या जो कुछ भी हो, पर उससे भी भयंकर दुःख इन विषयशत्रुवों द्वारा प्राप्त होता है। क्रुद्ध राजा जनता को बहुत पीड़ित कर देता है। राजा अपने नगरका पूरा मालिक कहलाता है। वह जिस किसीका भी कुछ कर दे। अन्याय अत्याचार सब तरहसे वह वर्तता है। किसीपर कितना ही अत्याचार करे, उसकी सुनवाई कहाँ हो सकती ? तो किसीपर कोई राजा क्रुद्ध हो गया हो तो उसकी खैर नहीं, और इतना ही नहीं, कभी कभी क्रोधी राजा इतना भी हुक्म कर डालता है कि इसके समस्त कुटुम्बको कोल्हूमें पेल दो। तो कोई राजा यदि क्रुद्ध हो जाय तो उसके आघातसे रक्षा करने वाला कौन हो सकता है ? जितना दुःख क्रुद्ध राजा देता है उससे भी कई गुना दुःख इन विषयशत्रुवोंसे प्राप्त होता है। ये विषयशत्रु कहीं बाहरसे नहीं आते किन्तु यह जीव खुद अपने अज्ञानसे, अपनी विषय तृष्णासे भाव बिगाड़ता है और अपने आपको भव-भवमें कष्टमें डालता है।

अतितीक्ष्णविष व अतिक्रुद्धयमसे भी अधिक विषयशत्रुकी क्लेशकारिता—अति तीक्ष्ण विष, कालकूट, हालाहल ये जितने भयंकर विष हैं उनको कोई पी ले, खा ले तो उसका फल क्या है ? तड़फ-तड़फकर मरना, बेहोश हो जाना, शरीरमें अनेक बाधायें होना और उन सब कष्टोंको भोगते हुए यह मनुष्य मर जाता है। तो यह अतितीक्ष्ण विष, यह बहुत कठिन दुःख देता, पर यह विष जितना दुःख दे सकता है उससे भी कई गुणित दुःख इन विषय शत्रुवोंके प्रेमसे होता है। विष खानेसे एक ही भवमें प्राणघात होगा, मगर इन्द्रियके विषयोंमें रमनेसे या मनके विषयकी पतंग उड़ाते रहनेसे तो भव-भवमें जन्म होगा, मरण होगा, सारा जीवन दुःखमय व्यतीत होगा। तो अतितीक्ष्ण विषपानसे भी जो दुःख उत्पन्न होता है उससे कई गुना विषयकषायोंसे होता है। अतिक्रुद्ध यमराज जीवोंको कष्ट पहुंचाता है। लोकप्रसिद्धि

है ऐसी कि यमराज कोई यमदूत होता है और जो लोग ईश्वरको सृष्टिकर्ता मानते हैं उनके सिद्धान्तमें ईश्वरके पास रोकड़ बही हुआ करती होगी उनमें सबका हिसाब रहता है। किसके मरनेकी बारी आयी है ? तो यमराजको हुक्म देता है और जाकर वह उसकी जान निकाल लेता है, ऐसी प्रसिद्धि कर रखी है, पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। ये सभी जीव अपने उपार्जित कर्मके अनुसार आयुके क्षय होनेपर मरते हैं, तुरन्त ही नवीन आयुका उदय होता है, उसी समय जन्म ले लेता है, तो यह एक निमित्तनैमित्तिक वाली बात है, पर यहाँ यह समझाया गया है कि मरणकाल जब आता है तो वह मृत्यु कितना कठिन दुःख जीवको देती है, पर उससे जितना कष्ट होता है उससे कई गुना कष्ट इन विषय शत्रुवोंके द्वारा हुए आक्रमणसे होता है।

प्रज्वलित अग्नि व विषधर पन्नगेन्द्रसे भी अधिक विषयशत्रुकी कष्टकारिता—प्रज्वलित अग्निसे सभी भस्म हो जाते हैं और वहाँ हिरण, खरगोश, मनुष्यादिक जो भी प्राणी उस बीच आ फंसा उसका मरण हो जाता है, और कोई जीवित प्राणी अग्निसे जल-जलकर मरे तो वह कितना कष्ट पाता है। तो ऐसी भयंकर अग्निसे, जाज्वल्यमान अग्निसे जीवोंको जितना कष्ट होता है उससे कई गुणित कष्ट इन विषय शत्रुवोंसे होता। अग्निमें थोड़ा भी जल जाय तो यह मनुष्य कितना कष्ट मानता है ? पर विषय शत्रुसे यह व्यामुग्ध हो जाता है। विषयोंको भोगते हुए यह मौज मानता है किन्तु मौज काहेकी ? तुरन्त भी आकुलता है आगे भविष्यमें भी आकुलता है। अनेक जन्म मरण करने पड़ेंगे, ऐसा है इन विषय-शत्रुओंका आक्रमण। पन्नगोंका इन्द्र—जो भयंकरसे भयंकर विषधर सर्प हैं वे यदि किसी मनुष्य या जानवरको डस लें तो बहुत देर तक जिन्दा नहीं रह सकता यथाशीघ्र मरण कर जाता है। तो ऐसे विषधर सर्पोंके डसनेसे जितना कष्ट होता है जीवोंको उससे कई गुना कष्ट इन विषय शत्रुवोंके व्यामोहसे होता है।

आत्महितार्थ विषयशत्रुसे दूर रहनेका कर्तव्य—इस छंदमें यह बताया गया कि सांसारिक सुख इस जीवके बैरी हैं। जैसे कोई ठगिया बड़ी भोली मनमोहनी बातोंसे लुभा कर किसीका सर्वस्व ठग लेता है, ऐसे ही ये इन्द्रियके विषय मनमोहक बनकर इस जीवको ठग लेते हैं। कहाँ तो जीवका अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्तिका स्वभाव और कहाँ विषय व्यामुग्ध होकर यह जीव अपने ज्ञान और आनन्दको भी खो देता है। जो आनन्द और मौज मानता है वह विकृत आनन्द है। आकुलतासे भरा हुआ कल्पित मौज है। इन विषयोंसे पीड़ित होकर यह जीव अपना सर्वस्व गमा देता है, इस कारण भव्य पुरुषोंको अपने इस दुर्लभ पाये हुए मनुष्यभवको बड़ी जिम्मेदारीका भव समझना चाहिए।

यहाँ इन्द्रिय आदिक योग्य मिली हैं, मन श्रेष्ठ मिला है इन सबका सदुपयोग आत्मज्ञानके लिए करना चाहिए।

न मरदिविजनाथा येषु तृप्यंति तेषु, कथमपरनराणामिंद्रियार्थेषु तृप्तिः।
बहति सरिति यस्यां दंतिनाथोऽतिमत्तो, भवति हि शशकानां केन तत्र व्यवस्था ॥३॥

सुरेन्द्र नरेन्द्रोंको अतृप्तिकारक इन्द्रियविषयोंसे साधारण मनुष्योंके तृप्तिकी असंभवतों—यह विषयसुखकी नदी, विषय तृष्णाकी सरिता इतना प्रचण्ड बेग वाली है कि जिस विषय सुखकी नदी वेगमें बड़े-बड़े इन्द्र चक्रवर्ती जैसे महान जीव भी वह जाते हैं। फिर अन्य पुरुषरूपी खरगोशकी तो कथा ही क्या है? कोई बहुत बड़ी विशाल वेग वाली नदी हो, पर्वतसे बहुत बड़ी मोटी धारोंसे गिरने वाली नदी हो, उस नदीमें बड़े बड़े मत्त हस्ती भी वह जाते हैं जिनमें इतना प्रचण्ड बल है कि जिसको कभी कोई कवि ऐसी उपमा देते हैं कि जितना २० बकरोंमें बल है उतना बल एक गधेमें जितना बल बीसों गधोंमें है उतना बल एक घोड़ेमें है। अनेक घोड़ोंमें जितना बल है उतना बल एक भैंसेमें, बीसों भैंसोंमें जितना बल है उतना बल है सिंहादिकमें और अनेक सिंहोंमें जितना बल है उतना बल है एक हाथीमें। यद्यपि सिंह हस्तीको मार डालता है, कारण कि उसमें आक्रमणकी कला है, उसके चारों पैरोंमें बड़े पैने नख हैं, मुखके भी दांत नखोंकी तरह पैने हैं, इस कारण आक्रमण हो जाता है। यदि उसके नख काट दिए जायें, मुख बंद कर दिया जाय और कहा जाय कि अब लड़ो हाथीसे तो हमारी समझसे हाथीसे सिंह पार नहीं पा सकता। इतना बलशाली हाथी किसी बड़ी महानदीके बेगमें बह जाय तो फिर वहाँ खरगोश आदिक बह जायें तो इसमें क्या आश्चर्य? उनमें तो कुछ बल नहीं, ऐसे ही सांसारिक विषयसुखकी नदियोंमें इन्द्र चक्री आदिक भी बह गए। बड़े बड़े राजा महाराजा, बड़े-बड़े देव ये भी विषयसुखमें आसक्त हो कर कष्ट पाते हैं।

महान देवोंके भी इन्द्रियार्थवृत्तिसे विडम्बनाका एक उदाहरण—श्री वृषभदेवके पूर्व जन्मकी एक घटना है। जब ये ललितांगदेव थे, महाबल राजा ललितांग देवकी देवांगना हुई और जब वहांसे चलकर श्रीमती देवांगना एक राजाकी कन्या हुई और यह ललितांग दूसरे देशके राजाके यहाँ पुत्र हुआ। उस राज कन्याने आकाशमें किन्हीं देव देवियोंको जाते हुए देखा और इससे पूर्वभवका स्मरण हो आया तो उसने यह चाहा कि जो मेरा पति पूर्वभवमें था वही इस भवमें मेरा पति हो। तो उसने एक चित्र बनाया जिसमें अनेक बातें दिखाई गई और एक यह घटना दिखाई कि ललितांग देवके सिरमें कोई दाग था तो वह चित्रपट मंदिर के आगे बिछाकर उसकी दासी खड़ी रही और बता दिया कि जितने लोग दर्शन करने आयेंगे

और कितने ही झूठे लोग चित्रको देखकर झूठ-मूठ बेहोश हो जायेंगे। पहले स्वयंवरका या वरपरीक्षाका एक रिवाज था। तो उनसे बादमें पूछा कि तुमको किस घटनाको देख कर इतना विषाद हुआ और बता दिया कि इस घटनाको जो बताये सो उसको रोके रहना। बहुतसे राजपुत्र आये, कितने ही देखकर चले गए, कितनोंने ही झूठी बेहोशी बताया। एक राजपुत्रसे पूछा कि आपको किस बातपर विषाद हुआ ? तो उसने बताया कि यह जो इस देवके मस्तकमें एक चिन्ह लगाया है इसको देख करके मुझे स्मरण हो आया वह घटना क्या थी कि ये देव देवांगना जब यथेष्ट विहार कर रहे थे, किसी बात पर यह देवांगना रूठ गई और इस देवांगनाने अपने ललितांग देवके मस्तकपर लात मारी थी, उस लात मारनेका यह चिन्ह दिखाया गया है। समझा, गया कि यह वही ललितांग देवका जीव है, आखिर उनका परस्परमें विवाह हुआ। तो बतानेका मतलब यह है कि उन देवोंमें भी जो बड़े बड़े देव होते हैं सो उनमें भी विषय सम्बधित घटनायें चलती रहती है। तो इस विषयसुख नदीमें बड़े बड़े देव भी बह गए, फिर साधारण मनुष्योंकी तो कथा ही क्या है ? वे कोई भी विषयोंसे तृप्त न हुए। अज्ञानमें जो चेष्टायें हो जाती हैं उन चेष्टावोंसे तो तृष्णा बढ़ती है। तृप्ति होनेका वहाँ कोई सवाल ही नहीं। तो यह विषयसुख ऐसा भयंकर शत्रु है। इस ज्ञानबलसे इस विषयसुखसे हटना और आत्मदृष्टि करके जो आत्मीय सहजआनन्द है उसमें तृप्त रहना, यह कर्तव्य है कल्याणार्थी पुरुषोंका।

ददति विषयदोषा ये तु दुःखं सुराणां, कथमितरमनुष्यास्तेषु सौख्यं लभंते।
मदमलिनकपोलः क्लिश्यते येन हस्ती, क्रमपतितमृगं स त्यक्ष्यतीभारिरत्र ॥४॥

विषयदोषोंकी अतिकष्टकारिता—ये इन्द्रिय विषय देवोंको भी बड़ा कष्ट उपजाते हैं फिर ये अन्य प्राणियोंको सुखकारी कैसे हो सकते हैं ? जो सिंह मदोन्मत्त हस्तीका घात करनेमें भी हिचकता नहीं याने बड़े बलवान हाथीको भी दुःखी बना देता है वह सिंह अपने पञ्जेमें फँसे हुए हीन हिरणको कैसे छोड़ सकता है ? उसे तो अवश्य ही मारकर खा जायगा। स्वर्गोंमें कल्पवृक्ष होते हैं, जिनके नीचे पहुंचकर जो मनमें चाह करें, जिसको याचना करें वह वस्तु उन्हें प्राप्त हो जाती है, ऐसा सांसारिक सुख है स्वर्गोंमें, फिर भी विषयसुख साधन मिलनेकी इतनी सुविधा होनेपर भी उन देवोंकी विषय तृष्णा शान्त नहीं होती और वहाँपर भी कोई सीमा तो होगी ही। भले ही कल्पवृक्षोंसे मनमाना सुख साधन मिल जाते हैं फिर भी सर्व सुखोंके साधन मिल ही जायें, ऐसी बात न होगी। तो बहुत कुछ मिल जानेपर भी कुछ मनकी इच्छा और बाकी रह गई तो उससे व्यथित होकर वे देव कितने ही खोटे कर्मोंका बंध कर लेते हैं। उन देवोंको विषयलोलुपता घटती नहीं, किन्तु बढ़ती ही जाती है।

यहाँ मनुष्य खुद अंदाज कर लें। अबसे किसीने १० वर्ष पहले, २० वर्ष पहले यह ख्याल बनाया होगा कि इतना सुखका साधन और बना लें, फिर इच्छा नहीं है, आनन्दसे रहेंगे। फिर आकुलता विशेष न होगी और धर्मध्यानमें अधिक लगेंगे, पर जैसे जैसे उनको मनमानी चीज प्राप्त होती गई, क्या उनकी तृष्णा उसी विधिसे बढ़ती नहीं गई ? जैसे जैसे विषयसुख साधन मिलते जाते हैं वैसे ही वैसे तृष्णा और बढ़ती जाती है।

विषयभोगके प्रसंगमें नपुंसक मनकी विडम्बितता—जब कभी यह शरीरसे इतना अशक्त हो जाता है बुढ़ापा आनेसे कि वह अब विषयोंको नहीं भोग सकता, बढ़िया पदार्थोंमें नहीं रम सकता, आँखोंकी लाइट कम हो जानेसे सिनेमा वगैरह नहीं देख सकता, कानोंसे राग रागनीके सुन्दर शब्द नहीं सुन सकता, तो इसका यह नपुंसक मन भीतर ही भीतर रुषता रहता है, और यह जीव दुःखी होता रहता है। आत्मानुशासनमें एक जगह इस मन को नपुंसक बताया है। व्याकरणकी दृष्टिसे भी मनः शब्द नपुंसक है। यह सकारान्त शब्द है, जिसके रूप चलते हैं——मनः मनसी, मनांसी, नपुंसक लिङ्गमें रूप चलते हैं। शब्द शास्त्र की दृष्टिसे तो मन नपुंसक है ही, पर यह प्रवृत्तिसे भी नपुंसक है। जैसे कोई नपुंसक विषयों को नहीं भोग सकता, पर कल्पनाकी अग्निसे वह अपनेको जलाता रहता है ऐसे ही यह मन किसी विषयको नहीं भोग पाता। रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द ये ही ५ तो विषय हैं। इनको भोगने वाली इन्द्रियाँ हैं, किन्तु यह मन व्यर्थ ही उद्धत होता हुआ कष्ट पाता है। जीवको दुःखी करता है। तो ऐसे ही ये प्राणी मनमाने विषयसाधन न पानेसे कल्पनासे दुःखी होते रहते हैं। इन विषयसुखोंकी तृष्णाने बड़े बड़े देवोंको भी बख्शा नहीं, किन्तु महापुरुष देव भी इन विषयसुखोंके वेगसे कष्ट पाते रहे। अतः कल्याणार्थी पुरुषोंको इन विषय सुखोंमें, असार बातोंमें बुद्धि न जोड़ना चाहिए और सहज आत्मस्वरूपको निरखकर अलौकिक सहज आनन्द पानेका उपाय बनाना चाहिये।

यदि भवति समुद्रः सिंधुतोयेन तृप्तो, यदि कथमपि वह्निः काष्ठसंघा ततश्च।
अयमपि विषयेषु प्राणिवर्गस्तदा स्यादिति मनसि विदंतो मा व्यधुस्तेषु यत्नं ॥५॥

नदियोंसे समुद्रको अतृप्तिकी तरह विषयोंसे प्राणिवर्गकी अतृप्ति—यदि समुद्र नदियों के जलसे तृप्त हो जाय अर्थात् उससे भरपूर होकर अपनी मर्यादा छोड़कर वह निकले तो भले ही मर्यादा छोड़ दे, किन्तु विषय भोगोंमें, यह प्राणिवर्ग कभी भी तृप्त नहीं हो सकता। समुद्रमें नदियाँ कितनी ही आती हैं, किन्तु समुद्रसे नदियाँ निकलती नहीं है। तो जितनी भी नदियाँ आती जांयें फिर भी समुद्र मानो इस तरह तृषामय है कि उसे अभी और भी नदियाँ चाहियें। उसकी अभी तृप्ति नहीं हुई। तृप्तिका अर्थ यह है कि उस समुद्रमेंसे भी कोई नदी

वह निकले तब ही तो तृप्ति मानी जाय। पर ऐसा कहीं नहीं हो रहा। जो आजके समुद्र पाये जाते हैं उनमेंसे कहीं नदी निकली नहीं है। तो चाहे समुद्र नदियोंसे तृप्त हो जाय तो हो जाय, पर यह अकाट्य नियम है कि विषयोंमें रहकर प्राणिसमूह कभी भी तृप्त नहीं हो सकता। प्राणियोंका विषयोसे तृप्त हो जानेका अर्थ यह है कि यह उन विषयभोगोंको छोड़ दे। जैसे कोई भोजन करता है तो जब कहता है कि मैं तृप्त हो गया, तो कब तृप्त होना कहलाता है कि जब और भोजन करनेकी बात वहाँ नहीं रह पाती। भोजनको छोड़ दिया यही तृप्तिका चिन्ह है। तो ऐसे ही विषय तृष्णावोंसे यह जीव तृप्त हो जाय, उसका चिन्ह यह है कि विषयभोगोंको छोड़ दिया। सो ऐसे विषयभोगोंसे तृप्ति इन प्राणियोंको नहीं हो पाती। जिस जीवको ऐसो तृप्ति होगी तो तत्त्वज्ञानसे तो होगी, मगर विषयोंके भोगसे तृप्ति नहीं, इसी प्रकार यदि अग्नि लकड़ीके ढेरसे तृप्त हो जाय तो हो जाय, परन्तु यह प्राणिवर्ग विषयभोगोंसे तृप्त नहीं हो सकता।

ईन्धनोंसे अग्निकी अतृप्तिकी तरह विषयोंसे प्राणिवर्गकी अतृप्ति—अग्नि भी ईंधन के मिल जानेसे कभी तृप्त नहीं होती। अग्निके तृप्त होनेका अर्थ यह है कि वह अब लकड़ी को जलाना छोड़ दे। जैसे अग्नि जलती रहती है और उसमें लकड़ियाँ डाल दीं तो अब वह अग्नि उन लकड़ियोंको न जलाये, पर ऐसा कहीं हुआ नहीं। जितनी चाहे लकड़ियाँ डालते जाइये, अग्नि कभी तृप्त नहीं हो सकती। सो जैसे अग्नि ईंधनसे तृप्त नहीं होती इसी प्रकार ये प्राणिवर्ग भी विषयभोगोंसे तृप्त नहीं होते। इस छंदमें असम्भव वाला दृष्टान्त दिया है और असम्भव वाला ही दृष्टान्त बताया है। जब ऐसा है कि कोई भी प्राणी इन विषयभोगों से तृप्त नहीं हो सकता तब उनका कर्तव्य क्या है हितके लिए, क्योंकि विषयभोगोंसे तृप्त न होनेमें इस जीवको परेशानी और संसारकी भटकना बराबर बनी रहती है। तो इतनी बड़ी विडम्बनाओंसे मुक्ति पानेके लिए जीवोंका क्या कर्तव्य है कि वे विषयभोगोंके लिए प्रयत्न न करें, यह बात इससे तब ही बन सकती है कि अपने सहज आनन्दस्वरूप अंतस्तत्त्वका परिचय पा ले। जैसे कोई भिखारी सूखी, पुरानी बासी रोटियोंको खाता रहता है और उसी में ही मौज मानता है जो कि किन्हीं सभ्य पुरुषोंके लायक बात नहीं है। तो अब बतलावो कि वह भिखारी उन बासी पुरानी रोटियोंका खाना कैसे छोड़ सकता है? उसके छोड़नेका एक ही उपाय है कि उसे ताजी पूड़ी पकवान आदिक मिल जायें, उनका स्वाद पा लेगा तब फिर इन बासी रोटियोंको छोड़ देगा, ऐसे ही यह जीव अपने आत्माके सहज स्वाधीन आनन्दामृतको पा लेवे तो विषय भोगोंका छोड़ना बिल्कुल आसान हो जायगा। छोड़ ही देगा। सो तत्त्वज्ञानके बलसे तो यह जीव तृप्त हो सकता है मगर विषय भोगोंसे यह जीव कभी

तृप्त नहीं हो सकता। इस कारण आत्महित चाहने वाले जीवोंका कर्तव्य है कि वे विषय भोगोंमें प्रयत्न न करें, किन्तु आत्मीय ज्ञानानन्द स्वरूपको निहारनेमें, उसकी आराधनामें अपना पौरुष बनायें।

विषयोंके भोगनेसे तृप्तिकी असंभवता—कोई भी प्राणी ऐसा न विचार करे कि चलो इन इन्द्रियसुखोंको भोगते चले जायें तो कभी न कभी तृप्ति तो हो ही जायगी। जैसे भोजनको खाते चले जायें तो इस पेटकी तृप्ति तो थोड़े समयको हो ही जाती है। सो विषय भोगनेके विकल्पोंमें ऐसा विचार न करें। पेट तो तृप्त यों हो जाता है कि पेटमें जगह ही नहीं है कि कुछ चीज आ सके। पेटको खूब भर लिया भोजनसे तो पेट तो यों तृप्त हो गया, मगर जीवोंकी इच्छा, आशा, तृष्णा ये तो कोई वैसी चीज नहीं है कि उसके पेटकी सीमा हो। कितने ही विषयभोग मिलते रहें, पर इनकी तृष्णा दूर नहीं हो सकती। तो यह कभी भी ध्यान न बनायें कि कुछ समय तक ऐसे इन्द्रियसुख भोगते रहेंगे तो इनसे तृप्त हो जायेंगे। चाहे वृद्धावस्था आ जाय, पर जिसके तत्त्वज्ञान नहीं है वह इन विषयसम्बंधी वाञ्छावोंको और भी अधिक बढ़ायेगा। भोगनेका सामर्थ्य नहीं है तिसपर भी यह वृद्ध उन भोग आकांक्षावोंको अधिक बढ़ाता रहता है। सो यह ध्यान कभी न रखें कि इन भोगोंसे मैं कभी तृप्त हो जाऊँगा किन्तु यह ध्यान रखें कि ये भोग भोगने ही पड़ते हैं। तो अनाशक्तिसे कम भोगना ही चाहिए और तत्त्वज्ञानका बल बढ़ायें कि किसी समय इनकी वाञ्छा ही चित्तमें न रहे।

असुरसुरनराणां यो न भोगेषु तृप्तः कथमपि मनुजानां तस्य भोगेषु तृप्तिः।
जलनिधिजलपाने यो न जातो वितृष्णस्तृणशिखरगताम्भः पानतः किं स तृप्येत् ॥६॥

असुर सुरादिकोंको तृप्त न कर सकने वाले भोगोंसे मनुष्योंके तृप्तिकी असंभवता—असुर हो या सुर हो, या मनुष्योंमें प्रधान हो। ऐसा कोई भी नहीं बचा जो भोगोमें तृप्त हुआ हो। भोग भोगते जानेमें, भोग भोगते जानेके ख्यालमें, उसका प्रोग्राम बनाये रहनेमें कोई भी प्राणी तृप्त नही हो सकता। तो जब ये बड़े बड़े पुरुष, ये इन्द्रादिक ये भी भोगोंमें कभी तृप्त न हुए जिन्होंने उत्कृष्टसे उत्कृष्ट विषय सुखोंको भोगा है तो फिर इन मनुष्योंके इन सामान्य भोगोंसे तृप्ति कैसे हो सकती है? स्वर्गोंमें इन्द्रके कई कई हजार देवांगनायें हो जाती हैं और उन्हें कमाना खाना नहीं पड़ता तो साराका सारा समय उनका खाली बना रहता है। तो उस खाली समयमें वे विषय सम्बंधित वार्तावोंमें ही समय गमाया करते हैं और उनमें विक्रिया ऋद्धि पायी जाती है नैसर्गिक तो कहींसे कहीं भी अच्छे सुरम्य बनोंमें, स्थानोंमें वे विचरते हैं, ठहरते हैं और अपने मनका बहुत मौज लेते हैं। हजारों वर्षोंमें कभी

भूख लगती है तो इच्छा करते ही उनके कंठसे अमृत झड़ जाता है और वे तृप्त हो जाते हैं। तो बड़े बड़े मौजमें रहते हैं वे इन्द्र, पर वे भी भोगोंमें रह-रहकर तृप्त नहीं हो पाते। मनुष्योंमें भी चक्री या अन्य बड़े-बड़े राजा महाराजा जिनके बड़ा ठाठ है, हजारों रानियाँ हैं, सभी आज्ञाकारिणी हैं, उनके विरुद्ध कोई नहीं रहता, सर्व प्रकारके आराममें पले हुए राजा महाराजा भी कभी भोगोंमें तृप्त न हो सके। जिन किन्हीं भी राजावोंको एक दीक्षाका प्रसंग मिला और वे उस दीक्षित अवस्थामें आनन्दमग्न रहे, तृप्त रहे तो वे भोगोंको छोड़कर तत्त्व ज्ञानके बलसे ही तो तृप्त रहे, भोग साधनोंके संगमसे तृप्त न हो सके। सो बड़े-बड़े देवेन्द्र आदिकमें भी जिन्होंने उत्कृष्ट भोग भोगे वे भी तृप्त न हो सके, फिर यह ख्याल बनायें कि मैं अमुक भोग भोगूं, मुझको तृप्ति हो जायगी, यह बिल्कुल भ्रम है। प्रति समय यह ही प्रतीति रखना कि जब भी तृप्ति होगी तो भोगोंके त्यागनेसे तृप्ति होगी। भोगोंके मेलसे तृप्ति न होगी। सो दृष्टान्तमें निरखिये कि जो प्यास समुद्रके समान अर्थात् इतने महान जल के पी लेने पर नहीं बुझती वह प्यास क्या घासके ऊपर पड़ी हुई ओसकी बिन्दुवोंके चाट लेनेसे बुझ जायगी ? नहीं बुझ सकती। जिस मनुष्यको, जिस किसी जीवको समुद्रका सारा जल पी जाने पर भी प्यास बनी रहती है उसकी प्यास ओसकी बूंदोंसे कैसे बुझ सकती है ? इसी तरह अत्यन्त उत्कृष्ट भोगोंको भोगकर भी जो जीव तृप्त नहीं हो सकता उस जीवको सामान्य भोग तृप्तिदायक कैसे हो सकते हैं ?

परसे परकी तृप्ति हो सकनेकी वस्तुस्वरूपकी अनाज्ञा—आत्महित चाहने वाले पुरुषोंको यह सोचना चाहिए कि जगतमें जो कुछ भी पौद्गलिक ढेर पड़ा हुआ है उसके लगावसे, उसके संग समागमसे इस जीवका उद्धार नहीं हो सकता। इसको शान्ति और आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता, इस कारण बाह्य पदार्थोंको बाह्य हैं ऐसा ही जानना। इन समस्त परपदार्थोंका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरेसे अत्यन्त जुदा है, सो उनका कुछ भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरेमें कभी भी नहीं आ सकता। तो बाह्य पदार्थोंसे तृप्त हो सकनेकी बात तो अत्यन्त गलत है। जब किसी परका मुझमें प्रवेश ही नहीं होता तब फिर तृप्तिका ख्याल रखना कोरा मिथ्यात्व है। इससे बाह्य पदार्थोंसे आनन्दकी आशा न रखकर अपने ही ज्ञान-स्वभावके दर्शन अनुभवसे अपने आपमें आनन्द पानेका प्रोग्राम बनाना चाहिए। ऐसे आत्म-कल्याणके लिए जीवनका बहुभाग स्वाध्याय, ध्यान, अध्ययन तत्त्वचर्चामें व्यतीत करना चाहिए। यह जीवनका समय अत्यन्त वेगसे बहता चला जा रहा है। जिसकी जो आयु व्यतीत हो गई अनगिनते प्रयास करनेपर भी एक पल भी तो वापिस नहीं आ सकता। जो समय गया सो गया। अब जो रहा हुआ समय है उस समयका सदुपयोग करें यह एक बुद्धिमानी

है । यदि गए गुजरे समयके समान कुछ भी व्यस्तता रखी जिससे कि ऐसा महसूस करें कि धर्मकार्यके लिए, स्वाध्यायके लिए समय नहीं मिलता तो फिर समय कब मिलेगा ? जब हाथ, पैर, आँख, कान आदि थक जायेंगे याने सभी इन्द्रियाँ शिथिल हो जायेंगी तब तो स्वाध्याय, ध्यान करेंगे ही कैसे । और जब तक सामर्थ्य है तब तक यह सांसारिक कार्योंमें व्यस्त रहना चाहता है । तो इसके मायने यह है कि इस जीवनमें वे क्षण कभी प्राप्त ही न हो पायेंगे जब कि धर्मध्यानको प्रमुखता दी जा रही हो । सो सांसारिक विषय सुखोंमें लगाव रखना बरबादी है, ऐसा निर्णय कर इन सुखोंसे व्यावृत्त हों और अपने आत्माके कल्याणमें क्षण बितायें ।

सततविविधजीवध्वंसनाद्यैरुपायैः स्वजनतनुनिमित्तं कुर्वते पापमुग्रम् ।
व्यथिततनुमनस्का जंतवोऽमी सहंते, नरकगतिमुपेता दुःखमेकाकिनस्ते ।।७।।

जिनकी प्रसन्नताके लिये पाप किया जाता, पापफलमें नरकादि कुगतिमें जन्म लेने पर उनके साहाय्यकी असंभवता—ये मनुष्य अपने कुटुम्बी जनोंके और अपने शरीरके निमित्त घोर पाप करते हैं, किस उपायसे घोर पाप कर रहे हैं कि निरन्तर नाना प्रकारके जीवोंका जिनमें ध्वंस हो रहा है उन उपायोंसे अपने रिस्तेदार अथवा अपने शरीरके निमित्त उन जीवोंकी इच्छा पूरी करनेके लिए ऐसे उग्र पाप किया करते हैं । आरम्भ उद्यममें जो लगता है सो कितना ही बचाव किया जाय फिर भी अनेक जीवोंकी बाधायें होती रहती है फिर भी इन पर क्रियावोंमें उपयोग फंसानेसे कर्मबंध भी विकट होता रहता है । तो यह सब अपने आपके विध्वंसका ही उपाय बनाया है । सो ऐसे उपायोंसे स्वजनकी इच्छा पूर्तिके लिए ये अनेक पाप करते हैं । सो पाप करते हैं इतना ही नहीं, किन्तु उन्हीं पाप कार्योंमें अपनेको धन्य समझते हैं । चतुराई जानते हैं । स्त्री पुत्रादिकका मन खुश कर दिया । जो वे चाहते हैं वही प्रसंग उनको बना दिया । यह सोचते हुए वे अपने को धन्य समझते हैं कि मैं बड़ा ऊँचा कार्य कर रहा हूं । और किया कैसा यह सब कार्य कि कितने ही जीवोंको सताया, कितनोंको धोखा दिया, कितने जीवोंके प्रति क्या बर्ताव किया, ऐसे उग्र पाप द्वारा जो कुछ इष्ट समागम जुटाया सो केवल इस खुशीके लिए कि ये स्वजन कह उठें कि मेरे पालनहार ये हैं, तो उनकी रक्षाके लिए नाना जीवोंकी हिंसा आदिक पाप करते हैं और उस ही में अपनेको धन्य समझते हैं, परन्तु जब इस पापकर्मका उदय आयगा और वह मनुष्य मरण करके नरकमें जन्म लेगा और वहाँ नरकोंमें शारीरिक और मानसिक नाना पीड़ायें सहन करेगा, उस समय उसकी उन घटनावोंमें से कोई भी जीव उन रिस्तेदारोंमें से कोई भी जीव जिनके लिऐ अनेक पाप किया था और खुश किया गया था वे तक भी इस अपरिमित

दुःखमें साथ नहीं दे सकते हैं। इस उग्र पापके करने वालेको ही नरक सम्बंधी अपरिमित दुःख अकेले ही भोगना पड़ता है।

पापफलको अकेले पापकर्ता द्वारा ही भोग्य जानकर पापसे विराम लेनेकी शिक्षा— यदि कोई जीव नरकमें पहुंचकर थोड़ा सही ख्याल बनाये तो वहाँ सोचता है कि जिन कुटुम्बी जनोंके लिए, जिन सम्बन्धी जनोंके लिए मैंने न करने योग्य कार्य भी करके पापकार्य कर उनको खुश किया है अब वे मेरे इस दुःखमें कोई भी साथ देने वाले नहीं हैं। ऐसा घोर दुःख इस जीवको अकेला ही भोगना पड़ता है। यहाँ यह विचार करना चाहिये कि जो ये खोटे पाप किए जा रहे हैं सो जिनको प्रसन्न करनेके लिए किए जा रहे हैं वे अब भी प्रसन्न नहीं हो पाते मुझपर। अपनी खुदगर्जीसे अपने आपमें मौज मानते रहते हैं, पर मुझपर प्रसन्न हो ही नहीं सकते, मुझमें वह प्रसन्नता ला ही नहीं सकते। वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि कोई भी वस्तु अपनी कोई भी पर्याय किसी अन्य वस्तुमें दे नहीं सकती। तो जब मेरे पापके फलको कोई भोग ही न सकेगा, मुझको ही अकेलेको सारा पापफल भोगना पड़ेगा तो अब यह कर्तव्य है कि ऐसे समताभावका आदर करें कि हमसे पर नहीं छोड़ा जाता और गृहस्थी में बसना पड़ रहा है और यहाँ कुछ जीवोंका समागम हुआ है तो इनका जैसा भाग्य है उसके अनुकूल इनको साता असाता प्राप्त होगी। सो मेरे सहज प्रयाससे जिस प्रकार भी इनक पालन पोषण बने सो बने, पर अन्याय अत्याचार करके मैं कभी भी अपने आपको कलंकित न करूँगा। सो इन सब अकेले भोगने वाले दुःखोंको निरखकर भोगोंसे, दुष्कृत्योंसे अलग ही रहना चाहिए।

यदि भवति विचित्र संचितं द्रव्यमर्थ्यं परिजनसुतदारा भुंजते तं मिलित्वा।
न पुनरिह समर्था ध्वंसितुं दुःखमेतत्तदपि बत विधत्ते पापमंगी तदर्थं ॥८॥

अन्यायार्जित द्रव्यको भोगने वालोंके द्वारा अन्यायकर्ताके दुःखफलको बांटनेकी असमर्थता— यह मनुष्य नाना तरहके पापमयी आचरणोंसे जो द्रव्य उपार्जित करता है उस द्रव्य का फल भोगादिकको तो ये स्वार्थी जन, दासी, दास, स्त्री, पुत्र, मित्रादिक मिलकर भोग लेते हैं। लेकिन जब उस पापकर्ता पुरुषको उन पाप आचरणोंके फलमें नरकादिक गतियोंमें जन्म लेकर जो दुःख भोगने पड़ते हैं अथवा इसी भवमें जब किसी झंझटमें कष्ट पाना पड़ता है तब कोई भी उसकी मदद नहीं करते। याने खाने भोगनेको तो सब मिलकर साथी बन जाते हैं मगर कष्ट भोगनेके लिए कोई साथी नहीं बन सकता। सामर्थ्य ही नहीं है कि कोई कष्ट भोगनेमें साझीदार बन जाय। कभी किसी कुटुम्बमें बड़ा प्रेम भी हो परस्परमें और वहाँ कोई ऐसी घटना गुजर जाय कि जो सभीको कष्टदायी हो, मानो इष्टका वियोग हो गया तो उससे

वह सारा घर कुटुम्ब दुःखी होता है पर उस समय भी किसीके कष्टको दूसरा कोई बाँट नहीं रहा। सभी कष्टोंमें पड जायें तो वे अपने अपने ही कष्टको भोग रहे हैं। किसीके कष्टको कोई दूसरा परिवारका सदस्य नहीं भोग सकता। तो इस जीवपर जो भी दुःख आता है उस दुःखसे बचानेमें ये कोई भी समर्थ नहीं हैं, जिन्होंने पापसे अर्जित सामग्रीको भोगा था। तो मतलब यह है कि पाप तो करेगा कुटुम्बका कोई एक मनुष्य और भोगेंगे उस कमाईको सभी लोग। लेकिन पापका फल जब फूटेगा तो इस पापकर्ताको महान् कष्ट होगा। उस कष्टसे बचानेके लिए यहाँ कोई समर्थ नहीं है, परन्तु खेद और आश्चर्यकी बात है कि अपने ऊपर आने वाली ऐसी विपत्तियोंका कारण समझ रहा है कोई मनुष्य अपनी वर्तमान प्रवृत्तिको, फिर भी यह प्राणी रात दिन कुटुम्बी, सम्बंधी आदि जनोंके लिए ही प्रयत्न कर रहा है। और अपने ही सिरपर पापका बोझ बढ़ा रहा है। मोहकी बड़ी विचित्रता है। मोहमें सन्मार्ग की सुध नहीं होती, बल्कि कुमार्गमें बढ़े चले जानेमें ये अपनी चतुराई मानते हैं और पाप कार्योंसे हट नहीं सकते। सो ऐसे तथ्योंको जानकर आत्महितार्थीका कर्तव्य है कि वह निष्पाप अविकार सहज परमात्मतत्त्वकी ओर उपयोग करे और बाह्य कामोंमें आशक्ति न करे।

धन परिजनभार्याभ्रातृमित्रादिमध्ये, व्रजति भवभृता यो नैष एकोऽपि कश्चित्।
तदपि गतविमर्षा कुर्वते तेषु रागं, न तु विदधति धर्मं यः समं याति यात्रा ॥९॥

शरीरसे जीवका निष्कासन होनेपर किसी भी परिजन मित्र आदिके द्वारा साथ निभानेकी अशक्यता—यह संसारविषय सुखके निराकरणका प्रकरण है। सुख भोगते भोगते जीवन बिताकर जिस समय यह जीव मरता है अर्थात् एक पर्याय छोड़कर दूसरी पर्यायको धारण करता है उस समय इसके साथ कुछ भी नहीं जाता। धन धान्य, दासी दास स्त्री पुत्र मित्रादिक कोई रंच मात्र भी इसके साथ नहीं जाते। ऐसी यह संसारकी प्रकट स्थिति है। और लोग देख भी रहे हैं, अनेक लोग हैं ऐसे जिनको अनेक मुर्दोंके जलानेमें शामिल होना पड़ा। जान रहे हैं कि कितने ही जीव शरीरको छोड़कर चले गए पर उनके साथ कुछ भी नहीं गया। ऐसा देखते हुए भी ये जीव ऐसे विचाररहित मूढ़ है कि उन ही में अनुराग करते हैं। जो साथ नहीं निभा सकते उन्हींमें इसकी आसक्ति बनी हुई है और जो साथ निभाने वाला है अर्थात् धर्म आत्माके स्वभावकी दृष्टि सो उस धर्मसे रंच भी प्रेम नहीं करता बल्कि उसको भूले ही रहता है। यहाँ जीवका आन्तरिक स्वरूप तो चैतन्यस्वभाव है और जितने ये इन्द्रियगोचर बाह्य समागम हैं वे सब बाह्य पदार्थ हैं। इस जीवपर ऐसा मोहविष चढ़ा है कि इन बाह्य समागमोंको तो अपना सर्वस्व समझता है, इनके बिना मेरा जीवन कैसे चलेगा? यही मेरे जीवनका सार है। यह कुटुम्ब, यह वंश, ये पुत्रादिक, इन्हींसे ही

मेरा महत्त्व है। ऐसा इन बाह्यपदार्थोंके बारेमें समझ रहा है। किन्तु जो शाश्वत शरण है ऐसे अपने धर्मका जरा भी ख्याल नहीं करता।

मोही जीवकी धर्मके प्रति बेसुधी और मायामय अर्थोंमें आसक्ति—जीव सत् है और जो सत् होता है वह स्वभावरूप होता है, उसका कुछ न कुछ स्वभाव है। जीव पदार्थ है, परमाणु है, उसका स्वभाव मूर्तिकरूप रहता है। यह आत्मा सत् है, उसका स्वभाव चैतन्य रूप रहता है। सो जो जिसका स्वभाव है वह उसका धर्म कहलाता है। स्वभाव कभी भी मिटता नहीं है, निरन्तर स्वभाव साथ है। अथवा वह पदार्थ स्वभावमय है, सो यह आत्मा भी अपने चैतन्यस्वभावमय निरन्तर है। तो यह आत्मा साक्षात् स्वयं धर्मरूप है, उसको कहीं धर्म बाहरसे नहीं लाना है, धर्मरूप तो यह खुद है ही, बस उसकी दृष्टि करना है, उपासना करना है, यह ही धर्मपालन कहलाता है। जीवके साथ स्वभाव ही जायगा, धर्म ही जायगा, और जितनी दृष्टि बना ली है, जैसी दृढ़ता स्वभावदृष्टिकी कर ली है वह संस्कार भी साथ जायगा। सो जो साथ निभाने वाला है वह सदैव उसके साथ है। मानो यह भगवान सहज परमात्मा बाट जोह रहा है कि कब यह उपयोग मेरेपर दृष्टि दे कि मैं इसको परिपूर्ण आनन्दमय कर दूँ, ऐसी प्रतीक्षा करता हुआ यह भगवान चैतन्यस्वभाव जो निरन्तर बना हुआ है, यह मोही जीव उसकी तो सुध नहीं ले पाता है और ये बाहरी पदार्थ जो विनाशीक हैं, ये अन्य जीव जिन्हें कुटुम्ब मित्र पुत्रादिक कहते हैं, जो स्वयं अपने स्वार्थमें रत हैं उनके लिए अपना जीवन खो देते हैं। प्रत्येक जीव अपना अपना ही तो परिणमन करता है। तो कुटुम्ब माने गए ये जीव ये अपना परिणमन करेंगे। जैसी उनकी कषाय है, जिसमें वे अपने को सुखी मान सकते हैं उसरूप ही तो वे अपनी प्रवृत्ति करेंगे कहीं दूसरेके रूप तो प्रवृत्ति न करेंगे? तो वस्तुस्वरूप ही यह बतला रहा है कि एकका दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता। त्रिकाल भी इसका साथ नहीं निभा सकता।

जीवनमें परस्पर सहयोगमें भी वस्तुतः सबकी स्व स्व सुखके प्रयासकी ही शक्यता—वर्तमानमें जो किसी घटनामें ऐसा समझ बैठता है यह मनुष्य कि मेरा साथी पुत्र है, मेरा साथी घरके अमुक लोग हैं, मेरे साथी ये मित्रजन हैं, वह भी भ्रम है, साथ कोई नहीं निभा रहा है किन्तु उन पुत्र मित्र आदिकको भी अपना सुख चाहिए और उनकी समझमें यह बैठा है कि पिता आदिकसे हम ऐसा प्रेमपूर्ण व्यवहार बनायेंगे तो हमको सुखके साधन खूब मिलेंगे ऐसा उनके चित्तमें विश्वास बैठा है जिसके कारण वे अपने सुखके लिए पिता आदिकका विनय करते, आज्ञा मानते, पर वस्तुतः वे अपने ही सुखके लिए सब कुछ कर रहे हैं दूसरेके

लिए कुछ नहीं करते, और उसकी परीक्षा भी हो जाती है। किसी समय पिता पुत्रके खिलाफ भी कुछ कह दे तो वहाँ पता पड़ जायगा कि वह पुत्र कितना चाहता है पिताको। तो जगत में जितना जीवोंका परस्पर मित्रताका, कुटुम्बपनेका सम्बंध बन रहा है वह सब अपने अपने सुखका निमित्त जानकर बन रहा है। तो यह जीव जब अपनी पर्याय छोड़कर दूसरी पर्याय को ग्रहण करता है तो यहाँका यह समागम एक भी साथ नहीं निभाता, फिर भी आश्चर्य और विषादकी बात है कि यह जीव उनही में रमता है जो साथ नहीं निभा सकते। और जो साथ निभा सकता है आत्मधर्मरत्नत्रय भाव, स्वभावदृष्टि यह उसकी सुध नहीं लेता।

यदिह भवति सौख्यं वीतकामस्पृहाणां, न तदमरविभूनां नापि चक्रेश्वराणां।
इति मनसि नितांतं प्रीतिमाधाय धर्मं, भजत जहित चैतान कामशत्रून् दुरंतान् ॥१०॥

सहजात्मस्वभावोपयोगज आनन्दकी अनुपमता—जो आनन्द संसारसुखसे विरक्त हुए पुरुषको प्राप्त होता है वह आनन्द देवोंके शिरोमणि स्वर्गोंके अधिपति इन्द्रको भी प्राप्त नहीं होता और छह खण्डके अधिपति चक्रवर्तीको भी प्राप्त नहीं होता। आनन्द वास्तविक वह है जहाँ आकुलता रंच नहीं है। अब सांसारिक विषय भोगोंके सुखोंमें यह लक्षण घटाकर तो देखिये घटता है अथवा नहीं। संसारका सुख क्या है? मानो स्पर्शनइन्द्रियजन्य सुख, कामसेवनका सुख, उसके लिए प्रयत्न करने वाला कितना आकुलित रहता है। पहले आकुलित रहा, भोगके कालमें आकुलित रहा, अन्यथा भोगके लिए प्रवृत्ति क्यों हुई? ऐसा कौनसा मनुष्य है कि जिसको फोड़ा फुंसीकी वेदना न हो और मलहम पट्टी लगाता फिरे, ऐसे ही ऐसा कौनसा जीव है जिसमें आकुलता न हो और वह विषयोंमें प्रवृत्ति किया करे। जो विषयोंमें प्रवृत्ति करता है वह आकुलताके कारण ही कारण है और विषयभोगके बाद वह और भी अधिक आकुलित या विषादमग्न होता है। तो ऐसे ही ५ इन्द्रियके विषयोंका सुख और मनके विषयका सुख, ये आकुलताओंसे भरे हुए हैं। यह मोही जीव आकुलता भी करता जाता है और इस इन्द्रिय व मनके सुखके लिए भी प्रयत्न करता जाता है। सो संसारके जितने भी सुख हैं वे सब आकुलतासे भरे हुए हैं। उन सुखोंके मालिकोंमें ऊँचे मालिक इन्द्र और चक्रवर्ती कहे जा सकते हैं, सो इन्द्र भी इन विषयसुखोंके भोगते समय आकुलित रहता है और इन बड़े देवोंके तो मानसिक व्यथा बहुत रहती है। जैसे यहाँ कोई समझता हो कि यह राजा, यह जमींदार, यह नेता, यह मालिक ये बड़े सुखी होंगे, क्योंकि इनका दूसरोंपर हुकुम चलानेका काम रहता है। सो लोग ऐसा सोचते तो हैं कि ये हुकुम चलाने वाले, आज्ञा देने वाले, ये लोग बड़े कहलाते हैं और ये बड़े सुखी हैं, पर आज्ञा देने वाले लोग आज्ञा पालने वालोंसे भी अधिक दुःखी हैं। आज्ञा पालने वाले सेवकोंने, मजदूरोंने तो जो हुक्म मिला उसे

झट कर डाला पर आज्ञा देने वालेपर देख लो कितना बोझ है ? उसे न जाने किस किसकी क्या क्या बात सोचनी पड़ती है, बड़े विकल्प होते हैं उसे, और बड़ा कठिन दु:ख है। तो ऐसे ही लोग सोचते होंगे कि स्वर्गोंका इन्द्र बड़ा सुखी होगा, आखिर वह इन्द्र ही तो है या यहाँ मनुष्योंमें बड़े-बड़े महाराजा चक्रवर्ती बड़े सुखी होंगे, पर संसारके इन विषय प्रसंगोंमें, इन पौद्गलिक सम्पदावोंमें जो अधिक धनी है, ऊँचा है वह उतना ही अधिक कष्टमें पाया जाता है। तो सांसारिक सुख भोगने वालेमें शिरोमणि जो धरणेन्द्र और चक्रवर्ती हैं उन्हें कहाँ आनन्द रखा है ? आनन्द तो वास्तवमें विषयसुखोंसे विरक्त पुरुषोंमें ही पाया जाता है। और यह विरक्ति ऐसी विशुद्ध होना चाहिए कि आत्महितके भावोंपूर्वक ही विरक्ति हो।

मायामय लोकके लगावसे व विषयव्यासङ्गसे हटकर आत्मधर्मकी उपासना करने का अनुरोध—इन विषयोंके प्रसंगमें पूरा नहीं पड़ सकता। इनके लगावमें संसारमें जन्म मरण ही करते रहना पड़ेगा। आज यह दुर्लभ मनुष्यभव, यह दुर्लभ जैन शासनका समागम बड़े सुभवितव्यसे प्राप्त हुआ है, अब इसको व्यर्थ नहीं खोना है। इन मायामयी मनुष्योंमें मुझे क्या दिखाना ? इनसे मुझे क्या नाम लूटना ? यह दिखने वाला जितना मनुष्यलोक है यह सब मायामय है। मायामयका अर्थ यहाँ कपट करने वाला नहीं, हाँ कपट करने वाला भी मायामय हो सकता है व सरल भी मायामय हो सकता है, पर जीव, कर्म, शरीर वर्गणा इनके पिण्डसे बनी हुई यह पर्याय है जो मनुष्य दिख रहे हैं, जो अनेक पदार्थोंके सम्पर्कसे बने हुए हैं वे सब माया कहलाती हैं। जब अनेकका सम्पर्क है तो यह बिघटेगा, यह परमार्थ नहीं, यह वास्तविक नहीं। ऐसे इस मायामय जगतमें किससे क्या चाहना ? ये सब असार हैं, अपने आत्मस्वरूपको निरखूं और उपयोगको सहज ज्ञानस्वरूपमें लगाऊं, इसका ही ज्ञाता बना रहूं जिसके प्रसादसे समस्त विकल्प मिटकर निर्विकल्प स्थिति पाकर अलौकिक आनन्दका अनुभव प्राप्त होगा। आत्महितकी जिसकी सुध है, ऐसा जिसका प्रयास है, पौरुष है उन पुरुषोंको जो आनन्द प्राप्त होता है वह आनन्द इस लोकके बड़ेसे बड़े पुरुषोंको भी प्राप्त नहीं हो सकता। जब यह अन्तर है विषयविरक्ति और विषयासक्तिमें कि विषयासक्ति तो क्षोभसे भरी हुई है और विषयविरक्ति आनन्दसे भरी हुई है, इतना महान अन्तर है इन दोनों परिणतियोंमें। तब हे आत्मदृष्टि चाहने वाले भव्य पुरुष ! तू विषयासक्तिसे मुख मोड़। उससे बिल्कुल अलग हट और अपने आपके इस सहज आनन्दमय स्वरूपमें प्रवेश कर। इसके लिए इस दुष्ट मनको, नपुंसक मनको वशमें कर। इस मनके वश करनेके कारण फिर अपने आत्माकी ओर उपयोग रमेगा। सो विषयोंसे विरक्त होकर आत्माके इस चैतन्यस्वरूपमें रमनेका प्रयत्न करना चाहिये।

यदि कथमपि नश्येद्भोगलेशेन नृत्वं, पुनरपि तदवाप्तिदुःखतो देहिनां स्यात् ।
इति हतविषयाशा धर्मकृत्ये यतध्वं, यदि भवमृतिमुक्ते मुक्ति सौख्येऽस्ति वाञ्छा ।।११।।

संसारमें भ्रमण कर उपलब्ध कष्टोंका दिग्दर्शन—हे आत्मन् ! यह मनुष्य पर्याय संसारकी सब योनियोंमें भ्रमण कर बड़ी कठिनतासे प्राप्त हुई है । संसारके जीवोंपर दृष्टिपात तो करें कितने प्रकारके, कैसी-कैसी निकृष्ट पर्यायोंके बीच जीव बस रहे हैं । जो समझमें आ रहे उन एकेन्द्रिय जीवोंपर भी तो कुछ दृष्टिपात करो । ये बनस्पति, पेड़, एकेन्द्रिय जीव खड़े हैं, इनके स्पर्शनइन्द्रिय मात्र है, कुछ बोध नहीं है । मिट्टी, जल इन्हींको ही जड़से खींचकर यही उनका आहार चल रहा है । जिनके अंगोपांग नहीं है, कैसा अटपट शाखाओंमें बढ़ गई हैं उन सबमें ये आत्मप्रदेश ही तो चल रहे, जिनपर लोगोंको कुछ करुणा नहीं अथवा इतना तक भी नहीं समझते कि ये जीव हैं । उन्हें कुल्हाड़ीसे काट लिया, अग्निमें झोंक दिया देखिये कैसा कठिन उपद्रव इन एकेन्द्रियोंने सहा । बताओ उन्हें कष्ट नहीं होता क्या ? लोग इस पृथ्वीको खोद डालते हैं, जलको खौला देते हैं, अग्निमें पानी डालकर अग्निको बुझा देते हैं, अग्नि भी मरी, पानी भी मरा, हवाको टायर ट्यूब वगैरहमें एक जगह रोक देते हैं अथवा पंखोंसे झकोरते हैं, तो इससे इन एकेन्द्रिय जीवोंको बाधा नहीं होती क्या ? मगर वे करें क्या ? विवश हैं । और उनके विषयमें लोग इतना तक भी नहीं जानते कि ये भी जीव हैं । फिर निगोद जीवोंकी तो कहानी ही क्या कहना ? वे हमारी इन्द्रियोंके विषयभूत नहीं हैं, उनको बड़े दुःख हैं । इन कीड़ा मकोड़ों पर कौन रहम करता ? प्रायः बाल वृद्ध सभी इन कीड़ियोंको मारनेमें जरा भी दया नहीं करते । बहुत कम सज्जन लोग हैं ऐसे जो कि जीवो पर करुणाभाव ला पाते हैं । ढीमर आदिक मछुवे अपनी बंशीमें केंचुवा आदिक जीवोंको बाँधकर पानीमें डाल देते हैं, मछलियाँ उन्हें खाती हैं, क्या उनको कष्ट नहीं होता है ? ऐसी ऐसी कुयोनियोंमें तू रहा बार बार उन भवोंमें उस उस प्रकारकी व्यथायें सही । कुछ और आगे बढ़ा, पंचेन्द्रिय जीव हुआ, पशु पक्षी हुआ, तो पशुवोंकी दुर्दशा तो आँखों दिख रही है । जब तक वे काम आ रहे हैं तब तक उनको घास फूस आदिक खाना पीना दिया जा रहा, दुर्बल हो गए तो भी उनको गाड़ियोंमें या हलमें जोता जा रहा । यदि वे नहीं चल पाते तो उनपर डंडोंकी मार पड़ती, जबरदस्ती चलाये जा रहे । कंधे सूझ गए, खून टपक रहा फिर भी मार मारकर उनसे काम लिया जा रहा ? बताओ कौन रहम कर रहा उन पर ? और जब वे किसी कामके नहीं रहते तो उनको कसाइयों के हाथ बेच देते । कसाई उनका बध कर देते ।

अनादिसे कुयोनियोंमें भ्रमण कर सुयोगसे दुर्लभ नरजन्मकी प्राप्ति—हे आत्मन् !

तूने बड़े कठिन कष्ट अब तक सहे। उन कष्टोंको भोग भोगकर आज इस मनुष्यपर्यायमें आया है तो यहाँ भी तू अपने भगवान आत्माकी भक्ति नहीं कर रहा, अपने आपपर करुणा नहीं कर रहा और विषयसेवनके प्रयासोंसे यह अपने आत्माका हनन कर रहा है। सो कितनी कठिनाईसे यह मनुष्यपर्याय प्राप्त की। यदि भोग भोगमें ही रम करके इस मनुष्य पर्यायको गमा दिया तो फिर बड़ा ही कठिन होगा कि यह मनुष्य पर्याय फिर मिल सके। इस मनुष्य पर्यायका मिलना इतना कठिन है जैसे समझ लो कि किसी विशाल समुद्रमें एक छोरमें तो बैलोके जोतनेकी माची (जुवा) को डाल दिया जाय और दूसरे छोरमें उसके अन्दर पड़े हुए सैल डाल दिए जायें (सैल उन्हें कहते जिनको उस माचीके छिद्रोंमें फसा देनेपर बैल इधर उधर निकलकर बाहर नहीं जा सकते) तो मानो अब वे सब बह रहे हैं उस विशाल समुद्रमें, तो क्या कभी ऐसा हो सकेगा कि वे दोनों सैल उसी माचीमें फिरसे स्वतः ही लग जायें यह तो अत्यन्त दुस्तर बात है, दुस्तर भी क्या असम्भवसी बात दिखती है। तो इसी तरह समझिये कि इस संसाररूपी समुद्रमें बहते-बहते इस मनुष्यभवका पाना इससे भी कठिन और दुर्लभ है। ऐसे मनुष्य पर्यायकी प्राप्ति पुनः होना कठिन है। यदि इस मनुष्य जीवनको भोग विषयोंमें ही लगा दिया तो बड़ी दुर्लभतासे प्राप्त हुआ यह मनुष्यजीवन व्यर्थ गया समझिये। जैसे समुद्रमें कोई रत्न डाल दिया गया तो कहीं वह रत्न पुनः मिल सकता है ? कितना कठिन है। समुद्र अगाध है और फिर भीतर अंधकारमय नीचे दलदल भी पड़ा हो, जहाँ फँस जाय या कंकड़ोंमें मिल जाय तो अब ऐसे रत्नका पाना कितना कठिन है।

दुर्लभ नरजन्म पाकर संसारसंकटोंसे निवृत्त होनेका उपाय करनेमें ही वास्तविक चतुराई—आत्मन् ! इस खोये हुए मनुष्यभवको इस संसारसागरमें पुनः पाना बड़ा कठिन है, इस कारण यदि आत्महित चाहते हो तो विषयसुख भोगनेकी इच्छाका त्याग करो और अपने अंतः प्रकाशमान सहज परमात्माकी दृष्टि रखकर धर्म धारण करो। जब तक संत गुरुजनकी करुणा नहीं प्राप्त होती तब तक अपने अन्तः प्रकाशमान इस परमात्मतत्त्वका दर्शन नहीं हो पाता। जब तक इस सहज परमात्मस्वरूपका दर्शन नहीं हुआ तब तक इन विषयसुखोंको त्यागनेकी शुरूआत हो ही नहीं सकती। यह जीव सुख चाहता है, प्रत्येक जीव सुख चाहता है, सो इतना तो हो जाता है कि बड़ा सुख मिल जाय तो वह छोटे सुखकी बातको त्याग देता है, किन्तु यदि कोई महान् सुख नहीं मिलता तो वर्तमान अल्प सुखको कैसे त्यागेगा ? तो विषयसुखोंका त्याग उसीके बन सकेगा जिसने विषय सुखोंसे उत्कृष्ट अलौकिक अनुपम आत्मीय आनन्दका अनुभव किया हो। इस कारण बस जीवनमें एक ही पुरुषार्थ है करनेके लिए कि अपने अविकार आत्मस्वभावकी दृष्टि करके ऐसा ही शुद्ध चैतन्यमात्र अपनेको अनु-

भव करे और अलौकिक आनन्दको प्राप्त करे। यह आत्मीय अलौकिक आनन्द मिलनेके पश्चात् फिर ये संसारके विषयसुख तुझे न सुहायेंगे। सो शास्त्रको पढ़कर, लोगोंसे सुनकर यदि केवल यही प्रयत्न करते रहे कि इन विषयसुखोंको त्याग दें, इन परिग्रहोंको त्याग दें, इनसे हटकर बाहर चले जावें तो इतना करने मात्रसे सिद्धि न बन पायेगी, न अंतरंगसे विषयसुखोंकी भावना छूट सकेगी और न भविष्य भी उत्तम बन सकेगा। यद्यपि विषय सुख त्यागने योग्य है, त्यागना चाहिए, पर विषयसुखोंसे बढ़कर जो अलौकिक आनन्द है उसकी धुन बिना उसकी दृष्टि और प्राप्ति बिना इन बाह्य विषयोंको त्यागते रहनेपर भी पार नहीं पड़ सकता, इस कारण इन सब जगतके सुखोंको असार जानकर सारकी बात अन्तरंगमें परखें। सार मिलेगा 'ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो,' इस स्थितिके प्राप्त करनेमें। तब एक मात्र यही पौरुष करना कि मैं अपने इस ज्ञानके सहज शुद्ध स्वरूपको ही जानता रहूँ। इसके लिए तत्त्वज्ञान, वस्तुस्वरूपका अध्ययन और ध्यानका अभ्यास करना। आत्मध्यानके प्रतापसे ही संसारके समस्त संकट दूर हो सकते हैं।

विषमविषसमान्नाशिनः कामभोगाँस्त्यजति यदि मनुष्यो दीर्घसंसारहेतून्।
व्रजति कथमनंतं दुःखमत्यंतघोरं, त्रिविधमुपहतात्माश्वभ्रभूम्यादिभूतं ॥१२॥

त्याज्य काम और भोगका विश्लेषण—यदि यह मनुष्य विषम विषके समान नाशवान, अहितकारी बहुत काल तक संसारमें भ्रमानेके कारणभूत काम भोगोंको छोड़ देता है अथवा छोड़ दे याने उन काम भोगोंसे सर्वथा मुख मोड़ ले तो निश्चयसे इसे अनन्त संसारके घोर दुःखोंका सामना न करना पड़े, नरकादिक कुयोनियोंमें जन्म मरण न करना पड़े। ये कामभोग कठिन विषके समान अहितकारी हैं। काम और भोग दोनों इन्द्रियके विषय कहलाते हैं। इन्द्रियके विषय ५ प्रकारके हैं। जिनमें स्पर्शन और रसनाइन्द्रियके विषयोंको काम कहते हैं और घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, कर्णेन्द्रियके विषयको भोग कहते हैं। काम और भोगमें दो बातोंका अन्तर है। एक तो विषयभूत पदार्थोंका स्पर्श करना, मथना चबाना याने विषयभूत पदार्थोंके दलन मलनसे तो काम होता है और बाहरसे दूरसे ही केवल एक इन्द्रियविषयका सेवन है, उनका दलन मलन नहीं है वे सब भोग कहलाते हैं। यद्यपि कामविषयक इच्छा भी काम कहलाती है, पर स्पर्शनइन्द्रियके विषयमें स्पर्श होता है, आघात होता है और रसनाइन्द्रियके विषयमें भी आघात है। मुखसे चबाते हैं, पर इस तरहका चबाना, दलन मलन ये घ्राण, चक्षु और कर्णके विषयोंमें नहीं है। यह अन्तर काम और भोगमें समझा जा सकता है। दूसरा अन्तर है आसक्तिका। यद्यपि मोही जीव पंचेन्द्रियके सभी विषयोंमें आसक्त है फिर भी अपेक्षाकृत देखा जाय तो काम अर्थात् स्पर्शन और रसनाके विषयमें आसक्ति

बेसुधी अधिक होती है। स्पर्शन और रसनाके विषयोंके भोग कालमें इस जीवको अपने स्वरूपकी अत्यन्त बेसुधी हो जाती है। तो आसक्ति और अधिक आसक्ति इनका अन्तर है भोग और काममें,

काम और भोगकी अहितकारिता व विनश्वरता—ये काम और भोग ये ही जीवको संसारमें रुलाने वाले हैं। इससे बढ़कर और क्या विपत्ति कही जा सकती कि यह जीव नया भव पाये, जन्मे, फिर मरे, फिर जन्मे, फिर मरे, ऐसे जन्म मरण बराबर अनन्त कालसे चले आ रहे हैं और यह जीव अपने स्वरूपको न निरख सका, तो यह जन्म मरण परम्परा चिर काल तक चलती रहेगी, ऐसी जो कठिन विपत्ति है उसपर तो जीवका ध्यान नहीं है जो सामनेके आगंतुक थोड़े वचनकी किसीकी चेष्टा की, इस बातको देखकर केवल कल्पना करके दुःखी होते हैं, उन दुःखोंको यह बड़ा पहाड़ मान लेता है, ये सब महा व्यामोहकी चेष्टायें हैं, तो यह जीव यदि इन काम भोगोंको त्याग देता, तो संसारमें ऐसा अत्यन्त घोर दुःख न पाता। ये काम भोग अहितकर हैं। आकुलता इनमें बहुत है। काम भोगके समय भी आकुलता है। काम भोगके पश्चात् भी आकुलता है, और काम भोगके समय आकुलता होनेसे जो विकट कर्मका बंध किया उसके उदयमें बहुत भविष्यकाल तक भी यह आकुलतायें पाता रहेगा। अब निरखिये कि काम भोगका समय कितना अल्प है। जैसे भोजन कर रहे हैं तो उसका स्वाद लेनेका कितना समय है ? पाव मिनट भी नहीं होता, चबाया, पेटमें गया उसके बाद तो स्वादसे कुछ मतलब न रहा। तो ऐसा पाव मिनट अथवा और कम समयकी थोड़ी मौज के खातिर अपने सागरों पर्यन्तका भविष्यकाल खोटा बना लेना यह कितनी मूढ़ताकी बात है। तो ये काम भोग विषय विषके समान अहितकारी हैं। ये काम भोग विनश्वर हैं। ये बहुत देर तक रहें, मिटें नहीं, ये जीवको साथ रहें तो चलो यह भी मान लिया जाय कि भोगनेमें आकुलता बहुत अधिक होती है तो होने दो, मगर बहुत बहुत काल तक काम भोग भोगकर मौज तो मान लिया जायगा सो भी नहीं। ये विनश्वर हैं, क्षण भरके बाद फिर ये विषय नहीं रहते। तो ऐसे विनाशीक काम भोगको यदि यह मनुष्य छोड़ दे तो इसको फिर संसारमें चिर काल तक जन्म मरणकी व्यथायें न सहनी पड़ें।

काम और भोगोंकी दीर्घसंसारहेतुता—इस जीवको संसारमें भ्रमण कौन कराता है ? एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नहीं कर सकता। लौकिक जन इस समस्याको न सुलझा पानेसे सुख दुःख पुण्य पाप कराने वाले, एक किसी ईश्वरकी कल्पना कर लेते हैं कि वह संसारके सब जीवोंको पैदा करता है, पुण्य पाप कराता है, सुख दुःख देता है, गतियोंमें भेजता है। परंतु यदि किसीसे कहा जाय कि बोलो तुम ऐसा ईश्वर बनना चाहते

हो, कैसा कि सब जीवोंका हिसाब रखो, किसको सुख देना, किसको दुःख देना, किससे पाप कराना, किससे पुण्य कराना। ऐसे सब अधिकार तुम्हें दिए जायेंगे, तुम्हें ऐसा ईश्वर बना दिया जायगा, बोलो बनना मंजूर है क्या ? तो जो थोड़ी भी बुद्धि रखता है वह मनुष्य यह कहेगा कि हम तो घरके थोड़े कुटुम्बियोंकी संगतिसे ही इतना कष्ट पा रहे हैं तो हम ऐसी उलझन लेकर क्या अपना सारा जीवन दुःखमय बना डालें ? मुझे न चाहिये ऐसी अवस्था जिसमें नाना चिन्तायें और क्षोभ उत्पन्न करने पड़े। मुझे तो अनन्तज्ञानानन्दमय निर्विकल्प ऐश्वर्य चाहिये। ईश्वरका रूप क्षोभ वाला नहीं है, क्योंकि ईश्वरके स्वरूपमें दो बातें मुख्य हैं दोष तो रंच न रहें और गुण पूरे प्रकट हो जायें। ऐसा चूंकि आत्माका स्वरूप है, उसके सहज सत्त्वमें दोष नहीं और गुणपर आवरण नहीं। वह एक चित् शक्ति है। तो चूंकि ऐसा स्वभाव है तब ही यह आत्मा पूर्ण निर्दोष और सर्वज्ञ हो सकता है। तो जिस आत्मामें दोष रंच न रहे हों और गुण पूरे प्रकट हो गए हों उसे कहते हैं भगवान। तो ऐसा भगवान समस्त ज्ञेयोंका ज्ञायक है और अपने आनन्दरसमें ही लीन है, प्रभुमें विकल्प तरंग उत्पन्न ही नहीं होती, कल्पना ही नहीं जगती। तो वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नहीं कर सकता सो भगवान भी किसी दूसरेकी परिणति न कर सकेगा लेकिन उनके तो कोई कल्पना ही नहीं जगती, विकल्प ही नहीं उठता। भगवान तो परमशुद्ध हैं। तो कोई दूसरा, ईश्वर या अन्य लोग इस जीवको संसारमें नहीं घुमाते। संसारमें यह जीव अपने आपकी करतूतसे भ्रमण करते हैं। उसमें निमित्त है कर्मोदय। मगर भ्रमण करनेकी करतूत तो यह जीव ही बनाता है। जैसे कोई ध्वजा हवाका निमित्त पाकर उलझती है, सुलझती है, टेढ़ी जाती है, किसी दिशामें जाती है, उसमें नाना बातें बनती रहती हैं तो वह ध्वजा उस पवनका निमित्त पाकर स्वयंमें ही उलझती रहती, ऐसे ही यह जीव कर्मविपाक का निमित्त पाकर खुद ही में उलझता रहता है तो इस जीवको संसारमें घुमाने वाला है कौन ? खुद यही जीव अपने विचित्र शुभ अशुभ भावोंको बनाकर इस करतूतके निमित्तसे विकट कर्मबन्ध करता हैं और उनके उदयमें यह जीव खुद बेहोश, चारित्रहीन, कषायवान बन बनकर आगेके लिए कर्मबन्ध करता है और संसारमें रुलता रहता है। तो ये कामभोग संसारमें भ्रमण कराने वाले हैं। इनको यदि यह जीव छोड़ देता तो इसे संसारके घोर, दुःखोंका सामना नहीं करना पड़ता।

काम व भोगसे प्राप्त होने वाले दुःखोंका दिग्दर्शन—संसारमें कैसा घोर दुःख है। तो जो एकेन्द्रिय आदिक जीव हैं, कीट पतिंगे आदिक हैं, पशुपक्षी हैं उनके दुःख तो नजर आ

रहे हैं, पर एक कठिन भव नरक गतिका है। सो नारकी जीवोंकी कहानी प्रभुकी दिव्यध्वनि की परम्परासे ज्ञात हुई है। उस कथामें कुछ भी, रंच भी असत्य नहीं है। नारकियोंके कितने कठिन दुःख है। कोई पापी जीव मरण करके नरकगतिमें जन्म लेता है तो उसके जन्मकी यह विधि है कि बिलके ऊपरी भाग याने जैसे छतका नीचेका तलभाग होता है उस प्रकारके अधः पृथ्वी तलमें चिन्हित कुस्थलोंसे नारकी जीवका शरीर तैयार हुआ और गिरा। गिरते ही सैकड़ों बार नीचे नरककी जमीनपर गेंदकी तरह उछलता, गिरता। उछलता गिरता लो प्रारंभसे ही नरकगतिमें कष्ट शुरू हो गए। बहुत उछलने गिरनेके बाद यह थमा, तो चारों ओर से नारकी जीव आ-आकर उसपर टूट पड़ते हैं। जैसे कोई नया कुत्ता किसी मोहल्लेसे निकला तो उस मोहल्लेके कुत्ते उसपर टूट पड़ते हैं सो नारकियोंमें ऐसी अशुभ विक्रिया होती है कि चाहें कि मैं इसको कुल्हाड़ीसे मारूँ, ऐसा आशय करके हाथ उठाया मारनेको कि वही हाथ कुल्हाड़ा बन जाता है। उन्हें शस्त्रसंग्रह नहीं करना पड़ता या शस्त्र उठानेमें बिलम्ब नहीं करना पड़ता। उनका ही शरीर हाथ करोत बन जाय, कुल्हाड़ी बन जाय। बरछी बन जाय जिस रूप वे चाहें उसी रूप परिणमन हो जाय, तब समझिये कि उनका दुःख कितना कठिन है। यह नारकी भी तो नया-नया पहुंचता है सो अन्तर्मुहूर्त वह भी उसी प्रकारका हो जाता। तो परस्परमें एक दूसरेसे विकट लड़ाइयाँ चलती रहती हैं। वहाँ ठंड गर्मीके प्राकृतिक दुःख तो भयंकर हैं ही, पर ये परस्परके दुःख बड़े कठिन हैं और उनका शरीर तिल-तिल बराबर कट-कट कर अलग हो जाय तिस पर भी बीचमें मरण नहीं होता। वे बिखरे हुए कण टुकड़े फिर इकट्ठे होकर वही का वही शरीर बन जाता है। ऐसे दुःख सागरों पर्यन्त सहने पड़ते हैं। ऐसे दुःखदायी भवमें इस जीवको कौन ले गया? उसकी खुदकी करतूत। काम भोग सम्बन्धी इच्छायें रखी और उनके आधीन होकर इस मनको चंचल बना डाला, धर्मसाधनाको स्थान न दिया। दूसरोंके पीछे पागल रह रहकर यह समय गुजरा तो उसका फल यह है कि नरकगति जैसी दुर्गतियोंमें जन्म लेकर घोर दुःख सहना पड़ता है। यदि यह जीव उन काम भोगोंको त्याग देता तो फिर मन, वचन, कायके ऐसे क्लेशों को न सहना पड़ता।

संसारमें मानसिक कष्टोंका संक्षिप्त दिग्दर्शन—संसारमें जो भी क्लेश हैं वे तीन प्रकारके हैं। (१) मानसिक (२) वाचनिक और (३) शारीरिक। दूसरेकी विभूतियोंको देखकर मनमें ईर्ष्या करना, अफसोस करना, वांछा करना, यह मानसिक कष्ट है। किसी को इष्ट मान लिया, अनिष्ट मान लिया, अनिष्टसे कतरा रहे हैं, इष्टसे लगाव रख रहे हैं, इन घटनाओंसे मनको बड़ा कष्ट पहुंचता है। तो यह कष्ट इनकी बेवकूफीका ही तो कष्ट है, क्या

मतलब पड़ा, क्यों कल्पनायें करें, जगतमें जो पदार्थ जिस रूप परिणमता है उसके ज्ञाता द्रष्टा रहें, प्रयोजन क्या पड़ा है ? फिर धर्मदृष्टि ही किसे कहेंगे ? तो यह मानसिक कष्ट बेवकूफी का कष्ट है, जैसे देवगतिमें अनेक प्रकारके सुख आराम होने पर भी वह देव मानसिक कष्टोंमें दुःखी रहकर सागरों पर्यन्त जीवनको निकाल देता है ऐसे ही यह मनुष्य भी पशु आदिक संज्ञी जीव भी नाना प्रकारके भवोंमें, दूसरेके बारेमें कल्पनायें करके, इच्छायें करके व्यर्थ कष्ट पाता है। तो यह मानसिक कष्ट इस जीवके लिए बहुत विकट कष्ट है। मनुष्यभव मिला, खाने पीने के साधन भी बहुत ठीक मिले, मन भी समझनेकी शक्ति रखने वाला मिला, सत्संग भी मिलता रहता है, देव, शास्त्र, गुरुविषयक उपासनाकी भी सुविधा मिली है, ऐसे सुन्दर वातावरणको पाकर भी कोई मनुष्य यदि परके विषयमें कुछसे कुछ कल्पनायें उठाकर मानसिक कष्ट पाये तो वह उसकी महामूढ़ता है। पर व्यामोही प्राणी मानसिक कष्ट उठाता रहता है और उनसे उपेक्षा करनेकी बात चित्तमें नहीं लाता।

वाचनिक कष्ट माननेकी व्यामुग्धता—इस जीवको वाचनिक कष्ट भी है। किसी पुरुष ने कुछ भी वचन कह दिया, निन्दा वाली बात कह दी, तो अव्वल तो सोचना यह चाहिये था कि जो भी निन्दा वाली बात कही जाती है उस सम्बंधमें कुछ न कुछ दोष मुझमें होगा तब ही तो यह बात प्रचलित हुई है। तो उसने तो अच्छा ही किया जो मुझे सावधान कर दिया कि अब मैं उस प्रकारके दोषमें रंच भी न जाऊँ। सो यह चिन्तन तो दूर रहा, किन्तु मोहकर्मके तीव्र उदयसे वह उसपर खेद करता और उसके प्रति विरोध भावना रखता है। यहाँ वाचनिक कष्ट भी बहुत है। किसीने कुछ वचन कह दिया तो हुआ क्या कि उस उपादान जीवकी ऐसी योग्यता थी, उसका इतना ही हृदय था और उस कष्टसे पीड़ित होकर उस ने वचन निकाला, सो ये वचन भाषावर्गणा जातिके पुद्गलका परिणमन हैं। अजीव हैं। शब्द में चेतना नहीं है। वह अजीव कहलाता। जैसे यहाँ प्रकट अजीव अजीव पदार्थोंके संघर्षसे शब्द निकलते हैं, हाँ उन शब्दोंमें भाषा नहीं है क्योंकि उनका अटपट सम्पर्क है, किन्तु इस मुखमें रहने वाले जीभ, ओंठ, दाँत, कंठ, तालू, मूर्धा इनका सम्पर्क नाना प्रकारसे चलता है। उनसे भाषा जैसे शब्द निकल बैठते हैं तो आखिर वे शब्द हैं तो अजीव ही। उन अजीव शब्दों को सुनकर इस चैतन्य तत्त्वमें कौनसे कष्टकी बात आयी थी ? अजीव हैं, उनका परिणमन है इस तरहका परिणमन हो गया, पर मेरेमें उन अजीव शब्दोंकी किसी परिणतिसे कौनसी घटना घट गई ? कहाँ यह जीव प्रेरा गया ? वह शब्द समूह तो बाहर है। यह जीव तो उनका जानने वाला रहे। लेकिन यह जीव मात्र उनका ज्ञाता नहीं रह पाता किन्तु उस समय उन वचनोंको सुनकर बड़ा कष्ट मानता है। तो यह संसारी प्राणी जब तक मन न

मिला तब तक और तरहके कष्ट मानता रहा और जब मन मिल गया तो उससे हजार गुना कष्ट मान लेता। पहले तो कोई शारीरिक ही कष्ट थे, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदिक जीवोंको बस शारीरिक कष्ट हैं, और कष्ट नहीं, पर यह मनुष्य तो मन पाकर उन सब जीवोंके कष्टों से कई गुना कष्ट अपना बना लेता है। तो इसने मनसे वचनविषयक कल्पनायें करके वाचनिक कष्ट भी बहुत बना डाला, संसारके ये कष्ट हैं जिन कष्टोंको यह मोही प्राणी काम भोग में रत होकर भोगता रहता है।

संसारमें शारीरिक कष्टोंकी बहुलता—एक शारीरिक कष्ट है। शरीरमें रोग हुआ, शरीरमें कोई आघात हुआ चोट लग गई, हड्डी टूट गई या अनेक प्रकारके कोई रोग हो गए तो वह व्यथा भी तो कठिन व्यथा है। एक दृष्टिसे देखा जाय तो शारीरिक व्यथा होने पर कष्ट मानना, इसमें जितनी मूढ़ता है उससे कई गुनी मूढ़ता मानसिक और वाचनिक कष्ट माननेमें थी, पर शारीरिक कष्ट भी तो सहा नहीं जाता। ये संसारके दुःख हैं जिन दुःखोंको यह जीव काम भोगके आधीन होकर प्राप्त करता है। कीड़ा मकोड़ा, वृक्ष आदिकको छेदते भेदते समय कौन जीव उनपर कृपा करता? बहुत कम हैं ऐसे दयालु प्राणी जो दूसरे जीवों के कष्टोंमें खुद दुःखी हो जाते हैं। पर अनेक मनुष्य तो इन कीड़ा मकोड़ोंको सतानेमें खुश होते हैं, मौज मानते हैं। किसी भी कीड़े पतिंगेकी टाँग डोरेसे बाँध ली, अब उसे घुसा रहे हैं तो देख लो उस जीव पर क्या बीत रही है? एक बार कहीं देखा दिलका विनोद करनेके लिए क्रूर चित्त मनुष्यने किसी चूहेकी टाँग डोरेसे बांध ली या पूछ डोरेसे बांध ली, फिर आगकी तरफ उसे ले जाय, फिर उठाये फिर ले जाय, तो वह चूहा कितना तड़फता था, पर उसकी तड़फनसे ही वह क्रूर मनुष्य बड़ा खुश होता था बड़ी मिन्नतके बाद उसे छुटा पाया था। संसारके दुःखोंकी कहानी एक जीभसे क्या कही जा सकती है? हजारों जीभ भी हो जायें त इतनी जिह्वाओंसे भी संसारके दुःखोंका वर्णन नहीं किया जा सकता जिन दुःखोंको हम आपने भोगा है, पूर्वभवके दुःखोंको भी छोड़िये, इस ही भवमें जिन दुःखोंको हम आपने भोगा है उन दुःखोंका भी हम आप वर्णन नहीं कर सकते। दूसरे को बता नहीं सकते कि हम कितनी तकलीफमें हैं, फिर संसारके इन दुःखोंका वर्णन करनेकी सामर्थ्य किसमें है? ऐसे कठिन दुःख इस जीवने इन काम भोगोंके आधीन होकर भोगे। यह जीव अपने आपको ही संसारमें रुलाता है और अपने आप ही अपने आपको संसारसे छुटाकर मोक्षमें ले जाता है। तब सारी जिम्मेदारी अपने आपके आत्मा पर ही तो आयी।

भ्रमसे जीवोंकी कष्टपात्रता—संसारमें दुःख अनेक हैं। यह संसारका स्वरूप है, पर उन दुःखोंके बीच रहकर घबड़ाना क्या इस जीवकी बुद्धिमानी है? तत्त्वज्ञान करके भेद-

विज्ञान करके समस्त परद्रव्यों व परभावोंसे निराला सहज ज्ञानानन्दमय अपने स्वरूपको निरखकर भीतर प्रसन्न रहना इसमें चतुराई है। जैसे स्वप्नमें कभी ऐसा दृश्य दिख जाय कि मेरे ऊपरसे रेलगाड़ी जा रही है और यह सोने वाला पुरुष उस स्वप्नमें अपने आपमें श्वांस भरे बल लगाये पड़ा हुआ है व यह भी जान रहा कि यह रेलगाड़ी भाग रही है, बहुत भाग गई। थोड़ी और रह गई। निकल जायगी, हम सुरक्षित हैं, तो यह केवल एक स्वप्न जैसी बात है, अब उसके मुकाबलेमें इस जगते हुए की स्थितिमें भी निरखिये—जैसे स्वप्नमें एक झूठी ही विपत्ति मान रखी थी तो इस जागतेमें भी इस जीवने झूठी विपत्ति मान रखी है। विपत्ति नामकी कोई भी चीज इस जीवपर नहीं है। कोई धन बिगड़ गया तो पौद्गलिक वस्तु बिगड़ गई और वह बिगड़ी ही नहीं, वह तो ध्रुव है। इस जगह न रहा दूसरी जगह पहुंच गया। कोई पैसे की चीज, सोने चाँदीकी वस्तु, वह मिटी कहाँ, वह तो सुरक्षित है। यहाँ नहीं है दूसरी जगह पहुंच गई। उस भिन्न वस्तुसे वह चाहे कहीं रहे, उससे मुझमें क्या कष्ट आया? अन्य अन्य जीवोंके भी जो परिणमन हों उनसे भी क्या कष्ट आया? उस बीच अपने अविकार ज्ञानस्वभावको निरखकर अपनेको सहज आनन्दमय अनुभवनेका पौरुष करें, इसमें ही बुद्धिमानी है।

बिगलितरसमस्थि स्वादयन् दारितास्यः स्वकवदनजरक्ते मन्यते श्वा सुखित्वं।
स्वतनुजनित खेदाज्जायमानं जनानां तदुपममिह सौख्यं कामिनां कामिनीभ्यः ॥१३॥

कामासक्त जनोंकी विडम्बना और भ्रान्ति—कामासक्त पुरुष अपने शरीरसे उत्पन्न हुए शक्ति वीर्यके प्रच्ययनसे उत्पन्न हुए सुखको स्त्रीजन्य सुख मानते हैं, अर्थात् काम प्रवृत्ति के समय यह मनुष्य अपने शरीरको, अपनी शक्तिको बरबाद कर रहा है और उस बरबादी में यह सुखकी कल्पना कर रहा है और मान रहा है यह कि यह सुख कामिनीसे प्राप्त हुआ है। यह ठीक ऐसी ही मूर्खता है जैसे कि कोई कुत्ता सूखी हड्डीको चबाता है जिस हड्डीमें लोहू, माँस आदिक रस रंच भी नहीं लगे हैं, ऐसी सूखी हड्डीको चबानेपर वह हड्डी और दाँतके संघर्षणसे उस कुत्तेके ही अपने मुखमें उस ही के मसूढ़े बह जाते हैं और उसमें वह आनन्दमानता है। यह सोचता है कि मुझको यह सुख इस हड्डीसे प्राप्त हुआ है, पर यह हड्डी तो सूखी है, वहाँसे न खून मिला न माँस मिला, न सुख मिला और कुत्तेके उस प्रयत्नसे, उस हड्डीके चबानेके श्रमसे, संघर्षसे जो उसके मुखसे खून निकला तो वह स्वाद ले रहा है उस खून निकलनेका और मान रहा है कि मुझको हड्डीसे स्वाद आया। इसे कहते हैं परात्मबुद्धि, ऐसे ही तो अज्ञानी जीव हर जगह पाते तो हैं अपनी कल्पनाका सुख हर स्थितिमें सुखके अनुकूल कोई कल्पना बनाये, उस कल्पनासे सुख उत्पन्न हुआ, पर

मानता है आश्रयभूत पर परदार्थका सुख। धन मकान परिजन मित्रजन आदिकका मुझे बड़ा सुख है, ऐसा लोग कहते ही हैं। तो वहाँ से सुख कैसे निकल सकता है? वे तो स्वयं सुखहीन हैं अथवा जो चेतन पदार्थ परिग्रह हैं उनमें सुख तो है, पर उनका सुख उनके ही लिए है। उनका सुख निकल कर किसी दूसरेमें नहीं आता। तो वस्तुस्वरूप ही ऐसा है कि एक पदार्थसे दूसरे पदार्थमें कोई परिणति नहीं आती। तब स्पर्शनइन्द्रियजन्य विषय सुख क्या किसी स्त्री आदिक बाह्य पदार्थसे मिल सकते हैं? केवल ये कल्पनायें करते हैं और अपनी शक्ति बरबाद कर रहे हैं।

मिथ्या मान्यताको छोड़कर निज सहज सत्त्वमें उपयुक्त होनेमें कल्याण—अहो कैसी मूढ़ता वाली बात है परपदार्थसे अपना सुख माननेकी। जिसके पूर्वापर विचार नहीं है, बुद्धि हीन है वह उस सुखको मिथ्या मान्यताके साथ भोगता रहता है। जहाँ मिथ्यात्वभाव है, पर्याय बुद्धि बन रही है वहाँ तथ्य रहस्य कैसे समझमें आ सकता है। पहले बांधे हुए मिथ्यात्वकर्म प्रकृतिका उदय चल रहा है, जिसका निमित्त पाकर इस जीवके विपरीत अभिप्राय ही बन रहे हैं। यह देहको ही मान रहा है कि यह मैं हूं, तब इस देहका पालन-पोषण जिनके निमित्तसे होता है उन्हें मान लेते हैं सुखका कारण। सो ये अज्ञानी जीव इन बाह्य पदार्थोंको सुखका कारण मानकर बाह्य पदार्थोंके संग्रह बिग्रहमें ही अपना सारा जीवन गमा देते हैं, मेरे को सही सत्का ध्यान करना चाहिए। इन बाह्य पदार्थोंमें जो दृष्टिगोचर हो रहे हैं इनमें एक एक परमाणु सत् है उन अनन्त परमाणुओंका पिण्ड है यह दृश्यमान लोक जिसको मोही जीव सत्य मान लेते हैं, पर हैं ये सब मायारूप। जो सही नहीं है किन्तु सही अनेक पदार्थों के मेलसे बनी हुई कोई तीसरी अवस्था है तो वह तो मायारूप ही होगी, क्योंकि उस तीसरी अवस्थाका आधार कोई एक द्रव्य नहीं है। जो स्कंधदशा है इसका आधार एक-एक परमाणु नहीं है, किंतु उन परमाणुओंका संयोग बनकर कोई तीसरी हालत हुई है, यह सब माया है। इस मायाके तथ्यको न जानने वाले अज्ञानी पुरुष इस मायाको ही परमार्थ मान लेते हैं और जहाँ मायाको परमार्थ माना वहाँ फिर उनसे अपना सम्बंध स्थापित करते हैं, पर इस सम्बंध में अपनी कल्पनासे कोई सुख हुआ तो उसे मान लेते हैं कि यह सुख इन परपदार्थोंसे आया है। सो आत्महित चाहने वाले पुरुष मिथ्या मान्यताका परिहार करें अन्यथा जैसे अनन्तकाल संसारमें भ्रमण करते करते गुजर गए हैं ऐसे ही आगे भी संसारकी इन कुयोनियोंमें भ्रमण कर करके गुजरेंगे।

किमिह परमसौख्यं निःस्पृहत्वं यदेतत्किमथ परमदुःखं सस्पृहत्वं यदेतत्।
इति मनसि विधाय त्यक्तसंगाः सदा ये, विदधति जिनधर्मं ते नराः पुण्यवंतः ॥१४॥

निःस्पृहत्वकी परमसौख्यरूपता व सस्पृहत्वकी परमदुःखरूपता—इस संसारमें नि-

स्पृहता ही परम सुख है। किसी भी बाह्यपदार्थ विषयक इच्छाका न रहना ही सुख है और स्पृहतासे युक्त होना ही परम सुख है। दुःख तो इच्छा है, इच्छासे दुःख होता है, यह भी कहा जा सकता है और इच्छा ही दुःखरूप है, यह भी कहा जा सकता है। जहाँ इच्छा है वहाँ तत्काल कष्ट है। यह आत्मा परम ब्रह्म समभावमें अवस्थित एक सहज सत्त्वकी दृष्टिसे अविकल आनन्दमय है। इस ज्ञानानन्द सागरमें कर्मोदय डला फेंका कि यहाँ तरंग उठने लगती है, और यह तरंग उठ-उठकर किनारेका भी उल्लंघन कर देती है। मैं परमार्थतः सहज सिद्ध ज्ञानमात्र तत्त्व हूं इसके स्वरूपमें कष्टका कोई काम नहीं। ऐसे ही स्वरूपकी दृष्टि कर निस्पृहता जगे तो इस जीवको अलौकिक आनन्द मिलेगा। यह निस्पृहता भेदविज्ञान तत्त्वविज्ञानके आधारपर ही निर्भर है, अन्य उपायोंसे निस्पृहता नहीं बन सकती, क्योंकि जबरदस्ती हो किसी प्रकार निस्पृहता बनायी जाय। तो इतना हो सकेगा कि एक पदार्थकी इच्छा न रही, दूसरेकी इच्छा हो गई। दूसरेकी इच्छा न हो, जिसकी इच्छा की जा रही है उसकी भी इच्छा समाप्त हो जाय तब तो इस जीवका भला है अन्यथा एक इच्छा दूर की, अन्य इच्छायें जग गईं तो इससे तो अच्छा यह ही था कि उसी पुरानी बातकी इच्छा ही निरन्तर चलती रहती तो कमसे कम इच्छा बूढ़ी जीर्ण तो कहलाती, पर एक इच्छा दूर होते ही नवीन इच्छा बने तो उस युवती इच्छाने तो इसे और भी परेशान किया। तो इच्छा-वोंका अभाव भेदविज्ञान और तत्त्वज्ञान हुए बिना नहीं हो सकता।

निस्पृहत्वकी पात्रता—जिन साधुसंत पुरुषोंने चेतन अचेतन समस्त पदार्थोंका असाधारण स्वरूप जान जानकर एक दूसरेसे असम्बद्ध है, इस प्रकारका निर्णय किया है वह ही पुरुष निष्पृह हो सकता है। निष्पृहतामें जो आनन्द है वह आनन्द उत्कृष्ट आनन्द है, अन्य किसी भी स्थितिमें पाया ही नहीं जा सकता। संसारी मोही जीव स्पृहाको नहीं छोड़ पाते, क्योंकि आत्माका अविकार स्वरूप उनके लक्ष्यमें नहीं आया और चूंकि यह आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्रगुण वाला है सो चारित्रगुणकी परिणतिमें रमणका ढंग हुआ करता है। सो रमनेकी आदत इस जीवकी है और आत्मस्वरूप इसे दिखा नहीं तो यह तो कहीं न कहीं रमेगा। कहाँ रमेगा ? जिसको सुखदायी माना हो, जिसमें आत्महितकी आशा रखी हो उस में रमेगा। तो इस अज्ञानी जीवने पंचेन्द्रियके विषयभूत पदार्थोंमें आस्था रखो है सो वहाँ रमता है। तो ऐसा परपदार्थोंमें रमना, पर पदार्थोंकी स्पृहा जगना यह सब कष्टरूप है। यही परम दुःख है। जगतके इन सब जीवोंको दुःख है किस बातका ? बस बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धमें इच्छा बन रही है, इस कुवृत्तिका ही कष्ट है। ये ज्ञानी संतजन निष्पृहताको सार और सस्पृहताको असार जानकर समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देते हैं और वे पुण्यवान मनुष्य इस

जिनधर्मका श्राचरण करते हैं।

निःस्पृहत्वकी अनुभूतिके लिये पौरुष करनेका अनुरोध—इस छंदमें मुख्य बात यह कही गई है कि परम आनन्द प्राप्त करना हो तो निस्पृहता बनना चाहिए। दूसरी बात यह है कि निष्पृहता तब ही बन सकती है जब निष्पृहता सार है और सस्पृहता असार है, यह बात जीवनमें उतर जाय। जिसके मनमें इन दोनो तथ्योंका यथार्थ निर्णय हो चुका है वे सर्वपरिग्रहका त्यागकर अपने आत्मामें ही मग्न होनेका पौरुष किया करते हैं। सो वे मनुष्य बड़े भाग्यशाली हैं जो निस्पृहताकी ओर उत्साहशील है और इस निस्पृहताकी प्रतीक्षा करते हैं। आत्मानुशासनमें श्री गुणभद्राचार्यने बताया है कि जीनेकी आशा और धनकी आशा जिनके लगी है उनके लिए ही कर्म कर्म हैं। और जिन्होंने निराशापनेकी ही आशा रख रखी है उनके तो निराशताकी परिणति हुई। आशाका सर्वथा अभाव हो, ऐसी जिन्होंने अपनी वृत्ति बनाया है उनके लिए कर्म कर्म नहीं रहते। उनका कर्म क्या कर लेंगे ? सो इस कर्माधीन संसारमें इन सारे संकटोंसे बचनेकी भावना हो तो प्रथम सर्व पदार्थोंका उनके असाधारण स्वरूपको घटित कर स्वतंत्र स्वतंत्र सत् जानें। एकका दूसरेपर न प्रभाव है न परिणमन है, भले ही निमित्तनैमित्तिक योगमें कोई निमित्त बन रहा और उपादानमें वह कार्य हो रहा, पर सब अपने अपने कार्यमें ही लग रहे हैं। ऐसा भान होनेपर विवेकी जन सर्व परिग्रहोंका त्यागकर जिनधर्मका आचरण किया करते हैं।

उपधिवसतिपिंडान् गृह्णते नो विरुद्धास्तनुवचन मनोभिः सर्वथा ये मुनीद्रा।।
व्रतसमितिसमेता ध्वस्तमोहप्रपंचा ददतु मम विमुक्ति ते हतक्रोधयोधाः ।।१५।।

साधुपुरुषों द्वारा विरुद्ध उपकरण वसतिका व पिण्डका अग्रहण—जिसने ज्ञाताद्रष्टा रहने मात्र स्थितिको सार समझा है और बाह्यपदार्थ विषयक विकल्पको असार जाना है वह पुरुष असार तत्त्वोंको छोड़कर सार तत्त्वोंमें ही प्रयत्न करता है। सो इस प्रयत्नमें मुनिजनों ने विरुद्ध उपकरण निवासस्थान आहार आदिकका त्यागकर दिया है। वस्त्रादिकका त्याग करके मुनि अवस्था धारण की है लेकिन अब भी तीन विधियोंका सम्बन्ध बनाना ही पड़ रहा है। एक तो उपकरण पिछी कमण्डल शास्त्र आदिक इनकी आवश्यकता रहती है। पिछी न हो तो प्रवृत्ति कैसे करें, दया पाले बिना बिहार आदिक नहीं हो सकता है और दयापालनका ऊँचा साधन है पिछी। सो पिछी आवश्यक है और जीवन चलानेके लिए आहार आवश्यक है। यदि आहार न किया जाय तो यह जीवन न टिक सकेगा और जीवन न टिका और किसी खोटी योनिमें जन्म हो गया तब तो उत्थानसे बिल्कुल दूर हो गए। सो मुनि जन आहार क्रिया भी करते हैं पर विरुद्ध न करेंगे। अनुचित सदोष आहार ग्रहण न

करेंगे। इसी प्रकार रहनेको कोई स्थान होना ही चाहिए। पर्वतकी गुफा हो, वृक्षकी खोह हो, छोड़ा हुआ खण्डहर हो, चैत्यालय हो, मन्दिर जी हो, क्योंकि स्थान पर निर्विघ्न रहे बिना संयमकी, ज्ञानध्यानकी साधना नहीं बन सकती। तो ये तीन बातें आवश्यक हो जाती हैं। उपकरण, वसतिका और आहार। सो ये मुनीन्द्र उनमें भी विरुद्ध पदार्थोंको मनसे, वचनसे, कायसे ग्रहण नहीं करते। मुनि संतजनोंकी दृष्टि केवल निरपेक्ष सहज चैतन्यस्वरूप में ही लगी है। यह मैं हूं, इस ही को बारबार निरखते हैं। इस चैतन्यस्वभावके आश्रयसे विकल्प हटकर विशुद्ध आनन्द जगता है। इस कारण ये ज्ञानी संत एक इस विशुद्ध कारण समयसार पर ही दृष्टि लगाये रहते हैं, सो अब ऐसे आत्मप्रेमी मुनिराज विरुद्ध पदार्थोंको कैसे ग्रहण कर लेंगे, जो शास्त्रविधिसे अनुचित है। जैसे केवल मुनिके लिए ही बनाया गया आहार अथवा जंतुवोंसे व्याकुल गुफा आदिक स्थान ऐसे विरुद्ध पदार्थोंको मन, वचन, काय तीनों योगोंसे ग्रहण नहीं करते।

व्रतसमितियुक्त जितक्रोध मुनिवरोंसे आशीर्लाभ––ये मुनिराज व्रत और समितिसे युक्त होते हैं। ५ पापोंसे विरक्त होनेको व्रत कहते हैं और आहार विहार प्रतिष्ठापन आदिक करने पड़ें तो निर्जन्तु जमीन देखकर करते हैं, ऐसी उनकी समिति रहती है। तो व्रत और समितिसे युक्त इन मुनिराजने मोह प्रपंचको दूर कर दिया है। जहाँ सत्यकी लगन हो गयी वहाँ असत्यकी प्रतिष्ठा कैसे की जा सकती है? सो मोहरहित साधुजन इस अविकार चैतन्य-स्वभावकी ही उपासना किया करते हैं। ऐसे मुनिराज जिनके क्रोध रूपी योद्धा न टिक सका, क्रोधको जीतने वाले हैं वे मुनिराज हमें मुक्ति प्रदान करें। जो बात जिस योग्यतामें जीवके जिस तरह होती है वैसा हो जाना उसके लिए आसान है। यदि अज्ञानी मोही क्रोधी जन बाह्य परिग्रहोंको सुखकारी जानकर उनका ही लगाव रखते हैं और उस लगाव रखनेके कारण उनमें बाधा देने वालेके प्रति क्रोध करते हैं तो ऐसी प्रकृति मोही जीवकी है, जिस बातसे हटना उनके लिए सामर्थ्यसे बाहर है। ऐसे ही ये ज्ञानी संतजन जिनको सहज परमात्मतत्त्व का दर्शन हुआ है और इस स्वतः सिद्ध विशुद्ध सहज परमात्मतत्त्वका दर्शन होनेके कारण अलौकिक आनन्द जगा है, अब उनसे हिंसा आदिक पापकी प्रवृत्ति कैसे बन सकती है? यदि मोहीजन शुद्धभाव करनेमें असमर्थ हैं तो ज्ञानी योगीजन अशुद्धभाव करनेमें असमर्थ हैं। ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभादिकसे रहित मुनिजन मुझको मुक्ति प्रदान करें। यद्यपि कोई दूसरा जीव मेरेको मुक्ति प्रदान नहीं कर सकता, पर मुक्ति जिन भावोंसे मिलती है उन भावोंको यह भव्य जहाँ देखता है तो उसमें इतना प्रसन्न हो जाता है कि उन भावोंमें और अपनेमें वह भेद भूल जाता है क्योंकि वे शुद्धभाव इसके ज्ञानोपयोगमें तो आये हैं। तो जिस समय

जो भाव उपयोगमें है उस समय वह उसी रूप अपने को अनुभवने लगता है। तो वह जब भाव जब इस ज्ञानोपयोगमें आया है तो अभेद करके इन्हीं भावोंसे इसके भीतरसे यह प्रार्थना बनती है कि मुझको मुक्ति प्रदान करें। जिसको बादमें फिर आराध्य और आराधक भिन्न भिन्न देखकर उपचारसे कहा जाता है कि ये मुनिराज मुझको मुक्ति प्रदान करें। मुक्ति प्रदान करनेका अर्थ है संसारसे छुटकारा पाना।

स्वभावकी उपासनामें श्रेयोलाभ—जहाँ स्वभाव और विभावमें सही परख हो गई, ये विभाव कर्माधीन है, नैमित्तिक है, विनाशीक है और यह मैं चैतन्यस्वभाव स्वाधीन हूं। मेरा स्वरूप है, ऐसा भेद जो जानता है वह विभावोंसे छुटकारा पाता है और अपने स्वरूपमें अनुभूति पाता है। कुछ थोड़ा यह विचार करना चाहिए कि ये विकार मेरे निकटकी चीज हैं या ज्ञानस्वभाव मेरे निकटकी चीज है? तो निकटकी चीजको छोड़कर बाहरकी चीजमें उपयोग फसाना यह अनर्थकारी कदम है। इससे हटकर मैं अपने आपके इस चैतन्यस्वभावमें ही मग्न होऊँ ऐसी भावना रखना चाहिये।

जनयति परभूतिं स्त्री धनं नाश दुःखं ददति विषयवांछाबंधनं बंधुवर्गाः।
इति रिपुषु विमूढास्तन्वते सौख्यबुद्धिं, जगति धिगिति कष्टं मोहनीयं जनानां ॥१६॥

स्त्री धन बन्धुजनोंकी अहितकारिता—इस मनुष्यकी इस लोक संगतिमें कितनी विडम्बना है यह इस छंदमें बताया गया है। स्त्री तिरस्कार करवाती है। कई घटनायें होती हैं ऐसी जिनमें स्त्री द्वारा तिरस्कार होता रहता है, वचनोंसे या कुछ करतूत घटनासे इसका तिरस्कार होता है। धन पाया है तो यह धन दुःखका ही कारण बनता है। जब कमाया तब दुःखसे कमाया। उसकी रक्षामें भी दुःख है और रक्षा करते करते भी नष्ट हो जाता है तो अतीव दुःख पैदा करता है। पर पदार्थ आत्माको दुःख उत्पन्न करता है, यह एक कहनेकी रूढ़ि है, वास्तविकता तो यह है कि उस दुःखका आश्रयभूत कारण बनकर चित्त में कल्पनायें करके कर्मोदयवश यह जीव दुःखी होता रहता है। पर धनमें लगाव तो रखता है। सो ये जीव भी समझ रहे हैं कि धन नष्ट होनेसे दुःख होता है। बंधु लोग विषयोंकी इच्छामें बाधा डालते हैं। इन मनुष्योंका प्रेम तीन बातोंमें अधिक है—(१) स्त्री, (२) धन और (३) बन्धु। सो तीनोंकी ही बात दिखा रहे हैं कि इन तीनका संग कितना अनर्थके लिए है। बंधु लोग विषयोंमें बाधा डालते हैं या विषयकी इच्छावोंका बन्धन बनाते हैं। कई भाई हो गए, आखिर उनमें जब कभी लड़ाई होती है तो इन विषय साधनोंपर ही तो होती है। एक दूसरेको कुछ नहीं देना चाहते। तो यह ही तो बाधावोंका डालना है। इस को मेरेसे अधिक क्यों मिला, मुझे कम मिला, मुझे और मिलना चाहिए तो इन विषयों

की इच्छाओंका बंधन ही तो मिला। तो बंधु वर्गके होनेसे विषयोंकी इच्छाओंका बंधन बढ़ता है और विषयोंमें बाधा आती है तो यह मनुष्यके लिए अहितकारी है और अहितकारी होने से यह सब शत्रुवत् है। परमार्थ दृष्टिसे भी देखिये तो किसी भी परद्रव्यका लगाव आत्माके कष्टके लिए ही होता है। यद्यपि पर पदार्थ इसको कष्ट देने नहीं आते। वे तो जहाँ हैं वहाँ अपने अस्तित्वसे मौजूद है, अपनी योग्यतासे परिणमते हैं पर यह मोही जीव उन बाह्यपदार्थों का आश्रय करके अपने चित्तमें नाना विकल्प बनाता रहता है। तो विकल्पका आश्रय तो रहा, उसपर इतना ख्याल तो रहा। उस आश्रयभूतको छोड़ दें, किसी पर पदार्थका ख्याल न करे तो कर्मोदय अव्यक्त होकर निकलेगा, सो कब तक अव्यक्त रहेगा? व्यक्त होने न दिया जाय तो ये कर्म भी यथाशीघ्र नष्ट हो जायेंगे। पर यह जीव ख्यालमें तो पर वस्तुओं को ही लाता है, जो विकार हुए, न उनका ख्याल करता, कर्मोदय होनेपर हुए न उनका ख्याल करता। ख्यालमें तो ये इन्द्रियके विषयभूत पदार्थ ही रहते हैं सो ये अहितकर हो गए। तो ऐसे अहितकर होनेसे परमार्थसे कल्याणमें बाधक होनेसे ये सब समागम शत्रु हैं।

शत्रुवत् अहितकारी होनेपर भी मुग्ध प्राणियोंकी स्त्री आदिकी सेवा सुश्रूषामें अपने को धन्य माननेकी प्रकृति—विषयोंमें रमकर किसीने कोई लाभ पाया हो तो एक भी उदाहरण बता दो। स्त्री पाकर, धन पाकर, कुटुम्ब पाकर किसी आत्माने कोई अपनी उन्नति की हो, मोक्ष पाया हो या बड़ा पुण्य संचय करले इसके लगावमें एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है। कल्पित इष्ट पदार्थोंका लगाव तो इस जीवकी बरबादीके लिए ही है। यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि स्त्री, धन, बंधु आदिकका लगाव इस जीवके विनाशके लिए है, बरबादीके लिए है, पर यह मनुष्य इतना मूढ़ है, मोहसे इतना दबा हुआ है कि उन बैरियोंकी सेवा सुश्रुषा करनेमें ही सुख मानता है, अर्थात् जो बैरी जैसा आचरण करता है याने स्त्री, धन, बंधु इनका संग कष्टके लिए है तो भी इनकी ही सेवा चाकरी करनेमें यह मनुष्य अपनेको सुखी मानता है। कुछ थोड़ा भी गुण हो स्त्रीमें तो यह पुरुष अपनी मित्र गोष्ठीमें बैठकर स्त्रीकी बहुत प्रशंसा करता है। घरमें पुत्रादिक जिनमें मोह है उनकी यह बड़ी प्रशंसा करता है, मेरा एक लड़का कलेक्टर है, एक डाक्टर है, एक मिनिस्टर है, एक इन्सपेक्टर है, एक और टर है, ऐसी प्रशंसा करता है। तो उस प्रशंसाका सीधा अर्थ क्या है कि उसके लड़के तो होशियार हैं समझदार हैं पर वह खुद कुछ नहीं है, कोरा बुद्धू है। तो जिन वचनोंसे स्पष्ट जाहिर होता है कि सुनने वालेके हृदयमें यह आस्था बन जाती कि इन सेठजी के वधू व लड़के तो कलावान हैं पर इनमें खुदमें कोई कला नहीं। सो अपना अपमान भी सहते, जीवन भर कष्ट भी सहते पर ये मोही प्राणी मुग्ध होकर उन्हीं की ही सेवामें सुख मानते हैं।

मोहका धिक्कारवाद—इस मोहनीय कर्मको धिक्कार है जो ऐसा जीवको भ्रममें डाल रहा है। गल्ती करने वाला पुरुष गलत है, पर गल्तीको सही मानने वाला पुरुष उससे भी अधिक गलत है। गल्ती होती है, कर्मके उदय हैं और वे गल्तियोंको गलती स्वीकार कर लेते हैं, यह बात होती है सम्यक्त्व व विवेक जगनेपर। जो कुछ थोड़ा बहुत प्रसंग है विषय समागम आदिक उनमें जो विभाव बनते हैं वे भी तो गल्तियाँ हैं। पर ज्ञानी जीव उन गल्तियोंको जानता है कि मेरेमें इतनी कमी है, त्रुटि है पर मिथ्यादृष्टि जीव गल्ती करके भी अपनेको सही मानता है, कि मैं सही मार्गपर चल रहा हूं। कदाचित उन्हें कोई त्यागी ज्ञानी समझाये तो वे यह मानते कि इस बेचारेको कुछ पता नहीं, इसके पास धन, कुटुम्ब आदिक तो कुछ हैं नहीं, इसलिए ऐसा कहता है, उन्हें यह दयापात्र तक समझता है। तो यह मोहनीयकर्म इस जीवका बहुत प्रबल बैरी हैं। परमार्थतः तो मोह भाव जो इस जीवमें भ्रान्तिका परिणाम होता है यह है इसका प्रबल बैरी। सो आत्महित चाहिये है तो अपने स्वरूपकी संभाल करें और इस समस्त पर पदार्थोंसे, परभावोंसे अपने को निराला जाने और निर्दोष निज सारभूत इस ज्ञानप्रकाशमें ही रत रहें।

जैनी दीक्षा लेकर मद मदन कषायोंके वशीभूत पुरुषोंकी भ्रष्टता—यह विषय सुख निराकरणका प्रकरण है। इस प्रकरणमें विषय सुखोंकी असारता बताकर उनका निराकरण करनेका उपदेश किया है। इस छंदमें कहते हैं कि कोई पुरुष मुनि हो गया, उसने जिन दीक्षा ले ली, पर मुनि होनेपर भी अभिमान, काम, क्रोध, मान, माया आदिक कषायें ये शत्रु शान्त नहीं हुए हैं, तो उनकी दीक्षा मुक्तिके लिए तो नहीं है पर हाँ मुक्तिके लिए है याने संसारमें रुलता रहे इसके लिए समर्थ हो गई वह दीक्षा। मुनि दीक्षा लेने पर ऐसा प्रसंग आ भी जाता है क्योंकि लोग उनकी पूजा प्रतिष्ठा प्रणाम, वंदन करनेमें लगे रहते हैं, तो जिनको अंतस्तत्वका बोध नहीं है, जिन्होंने इस सहज स्वरूपकी सारता नहीं समझी है उनको घमंड हो जाया करता है। यदि लोगोंके पूजा प्रणाम आदिक निरखकर घमंड हो जाय तो उसकी दीक्षा व्यर्थ रही। वह पुरुष तो अतीव विमूढ़ है। जो कामविषयक विकल्प बनाये रहे। इसके कई नाम हैं एक नाम है मन मथ जो मनको मथ दे, मनोज जो केवल मनकी कल्पनासे ही उत्पन्न हो। किसीको मानो बुखार चढ़ जाय तो शरीरकी परिस्थिति है ऐसी जो असह्य बन रही है, सिर दर्द कर रहा, पेटदर्द कर रहा, तो ये व्यथायें ऐसी हैं कि जिनके बारेमें कह सकते हैं कि क्या करे बेचारा, ऐसा असाताका उदय आया, पर यदि कोई कामवासनाके भावोंसे मूर्ख होता फिरे, जगह-जगह डोलता फिरे, किन्हींको मनाता फिरे तो यह अतीव मूढ़ है। उसके शरीरपर कौनसा कष्ट आया है जो इस तरहकी विडम्बनामें

पड़ गया है ? तो दीक्षा लेनेपर जिसके चित्तमें कामविषयक विकल्प रहता है उनकी दीक्षा मुक्तिके लिए नहीं। किन्तु चिरकाल तक संसारमें जन्म मरण भोगते रहनेके लिए है। क्रोध मान, माया, लोभ ये चार इस जीवको कठिन दुःख देते हैं। ऐसे ये चार कषाय प्रायः सभी को आते हैं, तो अपने अनुभवसे समझ सकते हैं कि इन कषायोंमें कितनी अन्तर्व्यथा है। क्रोध आनेपर सारे गुण भस्म हो जाते हैं, घमंड आने पर इसकी दृष्टि कैसा दुनियामें चली जाती है। जो केवल एक इसकी कल्पनाकी ही दुनिया है, जिसे जगतके सभी लोग बुरी दृष्टि से देखते हैं, माया और लोभ तो बड़ी विडम्बनायें हैं, उनमें बड़ा कष्ट भोगना होता है। उससे कितनी ही उलझनें बढ़ जाती हैं। तो ये सारे कष्ट इन कषायोंसे प्राप्त होते हैं। कोई मुनि दीक्षा तो ले ले और उसके ये कषाय बैरी यदि शान्त न हों तो उसकी दीक्षा मुक्तिके लिए तो समर्थ नहीं है, पर संसारके दुःखोंको भोगनेके लिए समर्थ है।

जैनी दीक्षा लेकर विषयोंमें देहसुखमें आसक्त पुरुषोंकी भ्रष्टता—कोई पुरुष जिन दीक्षा लेकर विषयोंसे विरक्तिके परिणाम नहीं बना पाते, विषयोंसे विरक्त होनेकी भावना ही नहीं बना पाते, बल्कि ख्याल कर कर इन इन्द्रियके विषयोंमें प्रीति बढ़ाये जाता है तो ऐसी जैनेन्द्र दीक्षा लेनेसे लाभ कुछ न रहा, बल्कि संसारके दुःखोंका भोग करना ही लाभ रहेगा। साधु होनेके मायने तो यह है कि वह निरन्तर अपने सहज ज्ञानस्वभावकी साधना बनाये हुए है। जिस सहज ज्ञानस्वभावका जन्म नहीं, मरण नहीं, किसी प्रकारका जहाँ कष्ट नहीं उस निज सहजस्वरूपको जो आत्मा मान रहा है उसके चित्तमें जन्ममरण आदिकके कोई क्लेश नहीं हैं। निमित्तनैमित्तिक योग वश जो होता हो हो, उस ओर ज्ञानीका चित्त नहीं है। यह तो अविनश्वर अनादि अनन्त अहेतुक निज सहज स्वभावमें ही दृष्टि लगाये हुए है। तो ऐसे सहज स्वभावकी साधना करनेके लिए ही साधु दीक्षा हुआ करती है। तो कोई पुरुष ऐसी साधु दीक्षा लेकर जन्म मरणके दुःखसे डर रहा है उसकी यह जिनदीक्षा मुक्तिके लिए नहीं है, मोक्ष मार्गमें बढ़नेके लिए नहीं है। किन्तु वह संसार संकटोंमें ही लगनेका उपाय है।

जैनी दीक्षा लेकर कातर व देहसुखेच्छु बननेकी निन्द्यता—सर्व परिग्रहोंका त्याग तो कर दिया, नग्न केवल गात मात्र ही रह गए, पर शरीरके सुखसे वैराग्य नहीं जगा, चाह चाहकर कोमल शैया होना, पुराल होना, शरीरका स्वच्छ रखना, शरीरका आराम चाहना, ऐसी स्वयं चित्तमें बुद्धि बनी हुई है। शरीर सुखोंसे वैराग्य नहीं जगा है बल्कि शरीरसुख भोगनेकी इच्छा ज्यों की त्यों बनी हुई है। भोजन भी स्वादिष्ट हो और और तरहसे शरीर की शोभा बढ़े, बड़ी कीमती चटाई आदिक होने चाहिए और इतना ही क्या, जिन उपक-

रणोंकी जरूरत रहती है वे बड़े शोभित शृङ्गारपूर्ण होने चाहिए, कागज, कापी, पेंसिल आदिक बहुत उच्च कोटिके साफ साफ सजे हुए होना चाहिए। यदि यह वाञ्छा रह गई तो उसकी जिनदीक्षा लेनेका क्या फल रहा ? वह तो संसारमार्गमें ही बढ़ रहा है। मोक्षमार्ग में बढ़ना तो तब बनता जब सारी धुन एक सहज ज्ञानस्वभावकी साधनाके लिए हो जाती तो जो मनुष्य दीक्षा लेकर जन्म मरणके दुःखोंसे भयभीत है, शरीरके सुख भोगनेकी इच्छा पूर्ववत् ज्योंकी त्यों बनी हुई है उन मनुष्योंकी वह दीक्षा तपश्चरण मुक्ति प्रदान करने वाली नहीं, किन्तु उससे उल्टा संसार ही वह बढ़ा रहा है। ऐसा पुरुष तो जो कुछ भी तपश्चरण कर रहा है और दुनियाको दिखावाके लिए अथवा विषयभोगोंके साधन सुगमतया मिलते रहे, इसके लिए कर रहा है अथवा ढोंग रच रहा है, उसे यह मायामयी जगत ही सुहा रहा है ? मायामय पुरुषोंका समूह उस मायामय मुनिका जयवाद कर रहा। मानो इस तरह वह केवल संसारके बढ़ावाके लिए ही साधु दोक्षा लेकर एक यश और सुख भोगोंकी भूमिकामें उतरा हुआ है। जगतमें ऐसे बहुत मनुष्य हैं जो साधु दीक्षा तो ले लें, अपनेको साधु प्रकट करें परन्तु साधुता जैसे भाव और कार्य नहीं बन पाते। निरन्तर कषाय शरीरानुराग, इन्द्रियभोग की इच्छा जिनसे संसार बढ़ता है उन कार्योंको ही करता है। सो आचार्य मानो संकेत कर रहे हैं कि हे मुनिजन जो दीक्षा ली है उसके अनुसार ही काम करो। तब मोक्षमार्ग मिलेगा, मोक्षपद मिलेगा अन्यथा संसारमें ही रुलना होगा। गृहस्थजन भी इससे यह शिक्षा लें कि यदि मायाचार करके दुनियाको दिखानेके लिए ही धर्मप्रवृत्ति की जा रही है तो वह धर्म नहीं है किन्तु संसार संकट बढ़ानेका ही एक उपाय बना रखा है।

श्रुतमतिबल वीर्यप्रेमरूपाय रंगस्वजनतनय कांताभ्रातृपित्रादि सर्वं।
तितउगतजलं वा न स्थिरं वीक्षतेऽगो, तदपि बत विमूढो नात्मकृत्यं करोति ॥१८॥

सर्व समागमोंकी विनश्वरता—

इस जगतमें जिसे जो कुछ मिला है, वह सब विनश्वर है। जैसे कहते हैं आदिसे अन्त तक जो भी संग मिला है, खूब निगरानी करके देख लो, कुटुम्ब, मकान, धन, दुकान कारखाना शरीर यश और और भी अनेकों नाम लेते जाइये, जो जो भी चीजें मिली है वे सब विनाशीक हैं, और इतना ही नहीं, जो और सूक्ष्म वस्तु विकार भाव हैं वे भी विनाशीक है। जो श्रुत पाया है याने शास्त्रज्ञान वह भी मिटेगा। हाँ शास्त्रज्ञान करके भीतरी अनुभूति पायी है उसका संस्कार अगले भवमें जायगा वह तो काम देगा मगर जो केवल विद्याके रूपसे अर्जन किया है वह भी यहीं पड़ा रह जायगा। जो इन्द्रियजन्य बुद्धि पायी।

शक्ति पाया, प्रेम पाया वह भी विनाशीक। शरीरका रूप, आयु, बंधुजन पुत्र, स्त्री, बहिन माता पिता आदिक जो जो भी पदार्थ मिले हैं वे सब बिनाशीक हैं। इस जीवनमें क्या है? जबसे जीवन पाया है तबसे मरण तक दुःख ही दुख है। कभी किसी घटनाके कारण दुःख कम हो गया उसको यह सुख मान लेता है। सो ये सारे पदार्थ ये दिखते दिखते ही नष्ट हो जाते हैं। जैसे चलनीमें कोई पानी डाले तो चलनीके छेदसे जल देखते देखते ही निकल हा है। तो जैसे कोई चलनीमें पानी डालता है तो देखते देखते ही खतम हो जाता, ऐसे ही जिनको इन पदार्थोंका समागम बना है उनके देखते देखते ही ये सब नष्ट हो जाते हैं।

सब कुछ तथ्य देखनेपर भी व्यामुग्ध जनोंमें आत्मकृत्य करनेकी सूझका अभाव—यह सब कुछ आँखों देख रहा है कि यह सब संग प्रसंग विनश्वर है लेकिन खेदकी बात है कि यह सब तथ्य जानते हुए भी ये मूढ प्राणी अपने आत्माके कल्याणके लिए कुछ नहीं बि-चारते। सब कुछ नष्ट हो जायगा, पर यह पहलेसे ही मान लें कि सब कुछ मेरेसे अलग है और किसी भी पदार्थके कहीं भी चले जानेसे इस मेरे आत्मामें कोई परिणमन नहीं बनता। मेरा परिणमन मेरे ही परिणमनसे बनता है। ऐसा वस्तु स्वातंत्र्यको जान लें तो उसका फल क्या होगा कि बाह्य पदार्थोंसे लगाव हटा लेगा और अपने आत्माके सहज स्वरूपमें ही आत्मत्व अनुभव करेगा। सो यह दृष्टि सृष्टि आत्माके हितके लिए है, लेकिन यह मूढ़ प्राणी हितकर कार्योंको नहीं करता। जो आत्माकी भलाईके कारण हैं सम्वेग वैराग्य, तत्त्वज्ञान, इनमें स्थिर नहीं रहता और वह रात दिन इन बाह्य पदार्थोंके लगावमें, धुनमें, संग्रहमें ही फसा रहता है। कर्तव्य यह है कि सब समागमोंको असार जानकर उनके प्रति आसक्त न रहना और अपने स्वरूपको ही अपना शरण जानकर इस स्वरूपमें ही रमण करना, यह ही आत्म हितका सही उपाय है।

त्यजत युवतिसौख्यं क्षांतिसौख्यं श्रयध्वं, विरमत भवमार्गात् मुक्ति मार्गे रमध्वं।
जहित विषयसंगं ज्ञानसंगं कुरुध्वममितगतिनिवासं येन नित्यं लभध्वं ॥ १९ ॥

मोक्षमार्गरुचिकोंको युवतिसंगत्यागका उपदेश—अपने आत्माको सहज आनन्दमें, पर-मार्थ संतोषमें रखना चाहते हो तो संसार भ्रमण बर्द्धक कार्योंको समाप्त करो। युवतियोंके सौख्यको छोड़ दो, पञ्चेन्द्रियोंमें सर्वाधिक बाधक स्पर्शनइन्द्रियका विषय है। यद्यपि स्पर्शन-इन्द्रियका विषय तो शीत उष्ण आदिक स्पर्शरूप ही है, वहाँ तो काम मैथुन संज्ञाका प्रभाव है, पर उसमें अति निकट विषय स्पर्शनइन्द्रिय है। सो कामवासना जन्य सुखकी अभिलाषा को त्याग दो। वह सुख नहीं, वह तो परम दुःख है। उस सुखके भोगनेके कालमें यह जीव अपने आत्मस्वरूपसे बिल्कुल जुदा रहता है, सुध ही नहीं रहती है कि मैं कुछ आत्मा हूं और

फिर इस सुखके परिणाममें विपत्तियाँ, विडम्बनायें, लाचारी आदिक अनेक प्रकारकी विपत्तियाँ बनती हैं और इस बेसुधी वाले विषयमें इतना तीव्र पापका बंध होता है कि जिसके फलमें कोड़ा कोड़ी सागर तक संसारमें जन्म मरण कर भटकना पड़ता है। अतः युवतीजनोंके सौख्य का परित्याग कर दे।

मोक्षार्थियोंको क्षमाशीलताका आश्रय करनेका उपदेश—हे आत्मकल्याणार्थी क्षमा-सम्बंधी आनन्दका आश्रय लो। क्षमाभाव रखनेमें कितना आनन्द है। आत्मसमतासे अपने ऐश्वर्यको अनुभवता हुआ स्थित रहता है। किसी भी घटनाको लेकर किसी प्राणीपर क्रोध, भाव आना, इसके फलमें दुःखी कौन होता? क्षमासे हटकर क्रोधमें आया हुआ यह ही जीव दुःखी होता है। क्षमाशील न रहनेका काम तो अज्ञानीजनोंका है। जिनको अविकार अंतः स्वरूपकी स्मृति नहीं है, सुध नहीं है वे सब कुछ अपना निर्णय इस मायामय जगतके निग्रह अनुग्रहमें किया करते हैं, ये बाह्य पदार्थ इतने आ जायें तो मेरा महत्त्व बढ़ जाय, मेरे विषयों में यह बाधक है, इसका समूल नाश हो जाय तो मेरेको आगे सुविधा रहे, निर्विघ्नता रहे, ऐसी कितनी ही कल्पनायें अज्ञानीजनोंके चित्तमें उत्पन्न होती हैं, और इस कल्पनाजालसे ही फिर बाहरमें क्रोधभावके अनेक प्रसंग आते हैं। क्रोध करनेकी इसकी आदत ही हो जाती। तो ऐसे क्रोधके फलमें इसके सारे गुण जल भुन जाते हैं और अपने सन्मार्गपर यह गमन नहीं कर पाता, इस कारण हे हिताभिलाषी भव्य पुरुष अपने आपपर दया करके क्षमा शील बननेका प्रयत्न करो। क्षमामें जो आनन्द है वह किसी भी श्रममें नहीं है, सर्वत्र आकुलता है। पर वस्तुका यथार्थ स्वरूप जानकर शान्तचित्त होकर रहे कोई तो उसका आनन्द परमात्माके आनन्दकी जातिका होता है। उस आनन्दका जगतमें अन्य कोई उदाहरण नहीं है। इस कारण हे आत्महितार्थीजनो क्षमा सम्बन्धी आनन्दका आश्रय करो।

मोक्षसौख्यार्थियोंको संसारमार्गसे विरक्त होनेका उपदेश—प्रथम तो आत्महितकी अभिलाषा होना ही कठिन है। जगतके जीव विषय सुखोंके पीछे ऐसा अंधाधुंध दौड़ रहे हैं कि इनको अपनी कुछ सुध ही नहीं कि मैं क्या हूं और किस प्रकार रहनेमें मेरा कल्याण है। यह अज्ञानियोंको नहीं विदित है, वे तो अपनेको भी इस मायामय देहरूप ही समझते हैं, यह भाषा भी ज्ञानियोंकी भाषा है, कहीं वे अज्ञानी मनमें यह नहीं सोचते कि यह शरीर है सो मैं हूं, किन्तु वे शरीरमें आत्मरूपसे ही आस्था रखते हैं। उनके लिए दो चीजें नहीं हैं अलग-अलग कि शरीर और मैं। पर कहना पड़ता है ऐसा समझानेके लिए जैसे कोई घड़ा गोल है तो लोग यह कहते हैं कि इस घड़ेका आकार गोल है, तो ये दो चीजें हैं क्या कि घड़ा अलग है और आकार अलग है। और फिर यह घड़ेका आकार है तो मेहरबानी करके

इतना ही कोई करदे कि गोल-गोल आकार तो वहीं रहने दे और घड़ा लाकर दे दे, ऐसा कोई कर सकता क्या ? पर समझानेके लिए दो बातें हैं। कि घड़ेका आकार गोल है, पर वहाँ दो बातें हैं ही नहीं। ऐसे ही समझनेके लिए दो बातें कही गई हैं कि मिथ्यादृष्टि जीव देहको आत्मा मानता है, पर मिथ्यादृष्टिकी निगाहमें दो चीजें है ही नहीं देह और आत्मा। वह तो अपनेको ही मानता है कि मैं यह हूँ देहको निरखकर फिर इस भ्रमके कारण जितनी भी करतूत बनती है वे सब संसारवर्द्धक हैं। किसीसे प्रेम करेगा, किसीसे द्वेष करेगा, किसी स्वार्थ सिद्धिके लिए कुछ छल कपट करेगा। जितनी भी प्रवृत्तियाँ बनेंगी फिर लोगोंके निग्रह की अनुग्रहकी वे सब प्रवृत्तियाँ संसारवर्द्धक हैं। सो हे आत्महिताभिलाषियों उन समस्त सांसारिक कार्योंसे विरक्त हो जो कार्य जन्ममरण आदिक दुःखोंके देने वाले हैं। जो समय सांसारिक कार्योंमें गुजरे वह समय बहुत ही खोटा गया, जिसके फलमें यह जीव जन्म-मरण के और भी इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग वेदना आदिकके अनुकूल दुःख पाता रहा। संसारमें कौनसा पदार्थ ऐसा है जो इस जीवके स्वभावरूप ही जीवको आनन्द देने वाला हो ? कोई पदार्थ नहीं है ऐसा। जीवको अपने ही सहज स्वरूपपर दृष्टि जाय तो आनन्द प्राप्त होगा, दूसरा आनन्द पानेका कोई विधान ही नहीं है। सारे श्रम केवल कष्ट पानेके हैं, सो हे आत्महितके अर्थी पुरुषो, समस्त संसार मार्गसे विरक्त होओ।

मुमुक्षुवोंको मोक्षमार्गमें रमनेका आदेश—यह जीव उपयोगमय है, सो यह अपना उपयोग कहीं न कहीं रमाये, यह इसका स्वभाव कहीं छूट नहीं सकता सिद्ध भगवान हो गये, वहाँ कोई परपदार्थ उपाधिके झंझट ही नहीं तो अब वे सिद्ध भगवान अपने ही स्वरूप में रमे रहें इसमें कौन सी बड़ी तारीफ हुई ? तारीफ तो तब कहलाती प्रभुकी कि संसारके झंझटोंमें रहकर फिर उस शुद्धस्थितिकी तरह अपना करिश्मा करके दिखा दे। वह तो शुद्ध द्रव्य है। उसके अपने स्वभावके अनुरूप आनन्दमय परिणमते रहना यह तो एक आसान बात है उस स्थितिमें, पर वह स्थिति जब प्राप्त नहीं होती तो यह संसारका प्राणी मनुष्य विवेकी उस सिद्ध प्रभुके आनन्दको चाहता है तो उसे यह पौरुष पहले करना पड़ता और उसकी दृष्टिमें वह आनन्द प्रशंसनीय है और वह है भी प्रशंसनीय, मगर बात यह बतला रहे कि शुद्ध अवस्था होने पर रागद्वेष मोहकी बात करना कठिन है, असम्भव है। कभी हो ही नहीं सकती। वह स्वभाव विकास ही इस प्रकारका है कि स्वतः ही सहज स्वयंमें वह परिपूर्ण सहज आनन्दका अनुभव होता रहता है। तो ऐसे निर्विकार अयत्नसाध्यमें स्वभावतः होने वाला जो आनन्द है उसकी चाह करें और उसके लिए मोक्षमार्गमें रमण करें। अपनेमें रमनेकी आदत तो है किन्तु तू इन्द्रियविषयोंमें मत रम। वह तो बड़ी तेज ज्वाला

है, जिसमें रमकर तू अपनेको भस्म कर डालेगा। उन विषयोंसे विकारोंसे छूटनेका उपाय सहज आत्मस्वरूपकी भावना है। मैं स्वतः अपने ही सत्त्वके कारण किस प्रकारके स्वरूपमें हूं उसका ज्ञान करें और उस ज्ञानमें अपने उपयोगको रमाये, यही कहलाता है मुक्तिमार्गमें रमण करना। सो हे हितार्थी जनो, एक ही निर्णय रखो कि मेरेको जीवनमें करनेका दूसरा काम ही नहीं है। केवल एक ही काम है, इस मोक्षमार्गमें रमण करना।

धर्मपालनके लिये ही मानवजीवन माननेकी आस्थामें श्रेयोमार्गका सहज लाभ—ये बीच वाली झंझटें कोई बढ़िया चीज नहीं हैं। लोक दृष्टिसे देखो तो अज्ञानी मूर्ख मिथ्यादृष्टि उसकी अपनी दृष्टिमें द्विविधावाले झंझटमें तो नहीं है। उसका तो एक ही निर्णय है कि विषयोंमें ही सुख है और घरके ये कुटुम्बी लोग ही मेरे सब कुछ हैं। सो बड़े प्रेमसे बच्चोंको खिलाता है, सुखमें रमता है, वह एक इस किनारेपर है। और, जो संयत ज्ञानी निर्विकल्प समाधिके अनुरागी, उस समाधिके निकट ही रहने वाले हैं वे भी एक किनारेपर है, उनका एक ही निर्णय है कि इस विधिसे आत्महित करना, दूसरा कर्तव्य करना ही नहीं, किन्तु कुछ धर्मकी सनक रखने वाले और भीतरसे अनन्तानुबंधी लोभको न त्याग सकने वाले, कुछ समय मिला यदि सुखसुविधासे बचा हुआ तो धर्मवार्ता, प्रवचनश्रवण चर्चामें भी समय दे देते हैं, बाकी तो भीतरी लगनके साथ सांसारिक कार्योंमें ही समय गुजरता है, ऐसे पुरुष बड़ी द्विविधामें हैं और उनका वह कृत्य हस्तिस्नानकी तरह है। जैसे हाथीने किसी सरोवरमें स्नान किया, खूब बिल्कुल साफ हो गया, पर बाहर निकलते ही सूंडसे धूल उठा उठाकर शरीरके चारो तरफ फेंकता रहता है इस कामके लिए हाथीकी सूंढ मनुष्यके हाथसे भी अधिक काम करने वाली बन गई। एक तो सूढ़ चारों ओर घूमती जाती है, दूसरे जहाँ नहीं घूम सकती, नहीं जा सकती तो भीतरकी श्वासकी, हवाकी प्रेरणा मिलती है जिससे कि सारे शरीरको धूल धूसरित कर देती है। वही स्थिति है बीच बिचौनियाकी, समय मिलने पर धर्म करना, बाकी सारा समय सांसारिक कार्योंमें गुजारना, ऐसे जीवोंकी क्रिया हस्तिस्नानकी तरह है, सो प्रगति चाहिये हो तो उस द्विविधाको छोड़ो और अपने पर दया करके एक प्रकाशकी स्थिति पानेके लिए ही अपना तन, मन, धन आदिक सर्वस्व लगायें। मोक्ष मार्ग ही हम आपका सच्चा रक्षक है। उसमें ही रमण करना योग्य है।

शाश्वत शान्ति चाहनेवालोंको विषयसंग छोड़नेका उपदेश—जो पुरुष आत्मशान्ति चाहते हैं उनका कर्तव्य है कि सर्व प्रकारके इन्द्रिय विषयोंका संसर्ग छोड़ दें और उनसे भी कठिन मनका विषय है, उसका भी परिहार कर दें। मनके विषयमें यह जीव यश नाम कीर्ति की चाह रखता है। जिनके भी मन है उन सबके यह रोग लगा है। मनुष्य ही नहीं, बैल,

घोड़ा, हाथी, गधा, पशु पक्षी ये सब यश कीर्तिकी चाहमें लगे हुए हैं। हाथी, गधा, बैल आदिक पशु मनुष्योंमें क्या नाम चाहेंगे ? जैसे यहाँके मनुष्य बैल आदिक पशुओंमें अपना नाम नहीं चाहते कि ये पशु भी मेरा नाम जान लें, ऐसे ही ये पशु भी मनुष्योंमें नाम नहीं चाहते, पर अपनी बिरादरीमें वे अपना नाम चाहते हैं। कोई भी बैल अपने बैलोंमें, गायोंकी गोष्ठीमें अपनेको महत्त्वशाली जतानेकी कोशिश करते हैं। लड़कर भिड़कर किसी पशुको भगाकर व किसीको शरणमें लेकर वे एक गर्वका अनुभव करते हैं। ये सब बातें उनको क्रियावों से विदित होती रहती हैं। तो वे क्या यश, नाम नहीं चाह रहे ? मनकी प्रकृति है यह। उसका सर्वप्रथम प्रहार नाम यशकी चाह द्वारा अपने भगवन्त सहज परमात्म स्वरूपका घात करनेसे होता है। सो सर्व प्रकारके विषयोंका प्रसंग छोड़ दो। किसी भी विषय सुखके प्रसंग में इस जीवकी सुरक्षा नहीं है। पाया हुआ अमूल्य समय बरबाद करना और उस सुख प्रवृत्ति से प्राप्त पश्चात्तापसे अपने आपको दुःखी करना, यह ही विषय सुखोंका परिणाम निकलता है, जो भी आज वृद्ध मनुष्य हो गए उन्होंने अपने जीवनमें क्या क्या चालें नहीं खेली, क्या क्या विषय प्रसंग नहीं किया, पर आज उनका वर्तमान नक्शा तो देखो, उनके पास कुछ रखा है क्या ? बाहरी परिग्रहमें मानो अनाजको ही जोड़ते जावो तो एक बोरा भर जाता है। मगर विषयसुखोंको यह करता रहा, जोड़ता रहा, मगर जोड़ जोड़करके उन वृद्ध लोगोंके हृदयमें सुख भर गया क्या ? अरे वे तो और भी अधिक रीते हो गए। तो ये विषयप्रसंग इस जीव के अहितकारी हैं, अतः मुमुक्षुजन इन विषयोंका प्रसंग त्याग दें।

उत्कृष्ट आनन्दके लाभके लिये ज्ञानसंग करनेका संदेश—सर्वोच्च संग है ज्ञानका। ज्ञानका संग ही आत्माके विकासको बढ़ाते बढ़ाते केवलज्ञानी बना देता है। उन मनुष्योंका तो बहुत ही बड़ा दुर्भाग्य है जिनको ज्ञानसे चिढ़ रहा करती है। ज्ञानके साधनोंसे चिढ़ रखना, ज्ञानके साधनोंमें बिघ्न डालनेमें उमंग रखना, ऐसा जिनका आशय होता है उनका बहुत खोंटा भाग्य है। वे संसारमें कितने मरण करते हुए भटकेंगे, कैसी कैसी कुयोनियोंमें जायेंगे। सो उनका बचाव करने वाला कोई नहीं हो सकता ज्ञान ही एक ऐसा अपूर्व तत्त्व है कि जिसका समर्थन, जिसका अनुमोदन, जिसकी उमंग ही एक ज्ञानावरणके क्षयोपशमको बढ़ा देती है। जैसे कोई कहता कि इस मनुष्यके बहुत बड़ा ज्ञान है, इसके ज्ञानावरणका क्षयोपशम विशेष है, तो ज्ञानावरणका क्षयोपशम बने कैसे, उसका कोई उपाय भी तो होना चाहिए। निमित्त नैमित्तिक भाव दोनों ओरसे है। ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर जीवके ज्ञानका विकास होता है। तो जीवके विशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर ज्ञानावरण कर्मोंमें क्षयोपशम वि-

शेषताकी दशा बनती है । कर्म कोई एक ईश्वर नहीं है अलगसे कि उसपर कुछ नियंत्रण नहीं, जो कर्मकी दशा जीवके विकारका कारण बन जाय, यही इकतरका पक्ष हो । यदि कर्म-दशा जीवके विकारका कारण बनती है तो जीवके परिणाम कर्मोंको ध्वस्त करनेका कारण बनते हैं । सो यदि नहीं प्राप्त हुआ है मानो विशेष ज्ञान तो यह तो उपाय बनायें कि जिससे ज्ञानावरणका विशेष क्षयोपशम बने और क्षयोपशम प्राप्त होने पर हम ज्ञानविकासको पायें । वह उपाय यही है ज्ञानके प्रति रुचि जगना । अब ज्ञानके प्रति जिनको रुचि हैं उनकी चेष्टायें, ज्ञानविकास और ज्ञानप्रसारके लिए जो जो साधन होते हैं उन सब साधनोंमें प्रीति जगती है । देखिये प्रारम्भमें ऐसे परिणाम हुए बिना ज्ञानावरणके विशिष्ट क्षयोपशमके अधिकारी नहीं बन सकते । सो ज्ञानका संग कीजिए । ज्ञानका संग नहीं प्राप्त हो रहा है तो ज्ञानके साधनोंमें उमंग बढ़ाइये ।

मोक्षमार्गविषयक ज्ञानके साधनोंमें उमंग रखने वालोंकी सुभवितव्यता—उन पुरुषों का जीवन धन्य है जिनका जीवन ज्ञानके साधनोंमें लगा है । उनका भवितव्य उत्तम रहता । वे ही ज्ञानसाधनोंके सब कार्य करते । अपनी सारी जायदाद ज्ञानप्रसारके कार्योंमें लगाने वाले अनेक उदाहरण मिलेंगे । सागरका जैन महाविद्यालय एक कमरयावंशीय रज्जीलाल जी नाम के पुरुषने ही पूरा बनवाया । अपना सारा वैभव उसीमें लगाया, ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिन्होंने संतान होते हुए भी सर्वाधिक भाग दानमें लगा दिया । ज्ञानके साधनोंमें जिसकी बुद्धि लगती है उसका जीवन धन्य है, ऐसे ही पढ़ानेमें लगाना, पढ़ने लिखने वालोंको मदद करना ज्ञानके साधनभूत शास्त्रोंका प्रसार प्रचार करना, ऐसी बातोंमें बुद्धि किसी बिरले जीवके लगती है । अच्छे कामोंमें सभीकी उमंग कैसे हो सकती है ? ये ही उमंगें वे बीज बन जाती हैं जो ज्ञानावरणके क्षयोपशम बना-बनाकर ज्ञानविकासको उत्पन्न कर देती हैं । यदि आत्मकल्याण चाहिये हो तो ज्ञानका संग करें । उसमें यह बहाने बाजी न हो कि कोई लौकिक विद्याके प्रसार प्रचारमें ही अपना तन, मन, धन, वचन लगा कर उसमें दम भरें कि हम ज्ञानदान कर रहे, वह तो एक धनार्जनकी कला है । चाहे किसीको व्यापार सिखाकर उसे धनार्जनके योग्य बना दें और चाहे उसे लौकिक विद्या सिखाकर धनार्जनके योग्य बना दें । यद्यपि यह भी कर्तव्य है मगर वह मोक्षमार्गके कर्तव्यमें नहीं रहा, वह रहा दीन दुःखी व समाजका उपकार करने वाला, कर्तव्योंमें जो अरहंत भगवानने उपदेश किया उस सम्यग्ज्ञानके प्रचारमें उमंग हो तो ज्ञानावरणका क्षयोपशम वृद्धिगत होता है । जिसके परिणाममें इस जीवको अलौकिक ज्ञानविकास प्राप्त होता है । सो हे आत्महितार्थी, ज्ञानके संगको करो

जिससे तुम अपरिमित सुखका साधन जो मोक्ष है उस मोक्षपदको प्राप्त कर सको।

श्रुतिसहजविवेकज्ञानसंसर्गदीपास्तिमिरदलनदक्षाः सर्वदात्यंतदीप्ताः।
प्रकटितनयमार्गा दस्य पुंसोऽत्र संति स्खिलति यदि स मार्गे तत्र दैवापराधः॥२०॥

पौरुषकी कर्तव्यताका संदेश—जिसके पास शास्त्रज्ञान, सहजविवेक, ज्ञान, सत्संगति का दीपक मौजूद है जो कि सभी अंधकारके नष्ट करनेमें समर्थ है अत्यन्त दीप्त है। जिसने नयमार्गको प्रकट किया, ऐसा दीपक भी जिसके पास है, प्रयोग भी करे उसका यह पुरुष यदि मार्गसे चूक जाय तो इसमें भाग्यका ही अपराध समझना। इस छंदमें यह बात बतायी जा रही है कि पुरुषार्थ करना अपना कर्तव्य है। तत्त्वज्ञान करें, मनन करें, भावनायें बनायें, सत्संगति बनायें, सब तरहसे अपने आपको मुक्तिमार्गके लिए पौरुष करें, निष्कपट पौरुष करें आत्महितके लक्ष्यसे पुरुषार्थ करें, ऐसा समस्त पुरुषार्थ करनेपर भी यदि कोई मनुष्य धर्म मार्गसे चूक जाय तो यहाँ यह सोचना चाहिए कि इस चूकमें इस बेचारे भव्य आत्माका कोई अपराध नहीं है, यह अन्दरसे खोटे आशय वाला बनकर नहीं चूक रहा है, किन्तु पूर्वबद्ध कर्मोंका ऐसा ही तीव्र विपाक है कि जिसके उदयमें यह अचल नहीं रह पाता अपने लक्ष्यमें और डगमगा जाता है। और बात है भी सही। आत्मा तो स्वभावतः निरपराध है। इसक स्वरूप ज्ञान है। ज्ञाताद्रष्टा रहना यह इसका काम है। तो स्वभावकी ओरसे देखा जाय तो आत्माका क्या अपराध है? जो भी अपराध बन रहा है सो यह कर्मोंके अनुभागका प्रतिफलन है और उस कर्म निमित्तके सन्निधानमें उस कर्मविपाकके प्रतिफलनमें यह चोट खाकर मानो बाह्यपदार्थोंकी ओर लग जाता है। तो जीवकी मंसा समझना चाहिए कि इसका भीतरी आशय क्या है? जिस जीवका आशय गंदा हो, वह माना जाता है अतिभ्रष्ट पर जिसका आशय गंदा नहीं और पुरुषार्थ भी भलेके लिए कर रहा है तिसपर भी चूक जाय तो वह दैवका अपराध समझना चाहिए।

पुरुषार्थी भव्यात्माके शास्त्रज्ञानपौरुषकी व नयमार्गगमनकी सराहनीयता—देखिये जिस भव्यात्माके लिए यहाँ संकेत किया है वह भव्यात्मा कितने पुरुषार्थमें चल रहा है। सदा दैदीप्त रहने वाले अज्ञान अंधकारको नष्ट करनेमें समर्थ इसके पास अलौकिक दीपक है। इसे शास्त्रज्ञान भी अधिक स्पष्ट है। जैनशास्त्रोंके परिचयसे नयमार्गका स्पष्ट बोध होता है। नयमार्ग एक ऐसे गहन बनके बीच जाने वाला मार्ग है कि इसका पार वही पा सकता है जिसने वस्तुस्वरूपका अध्ययन मनन किया और अपनेमें सहज स्वरूपका अनुभव किया है। अन्यथा नयोंका जाल इतना गहन है कि एक नय जो इस समय कह रहा है कि वास्त-

विकता यह है यही नयका विषय कुछ ऊँची दृष्टि बनने पर वह गौण और हेय हो जाता है।

लोकभाषामें ठीक माना जानेपर भी निमित्तनैमित्तिकव्यवहारके समक्ष उपचार कथनकी असमीचीनता व गौणता—जैसे यह कहा जाय कि पुद्गलकर्मने जीवको रागी कर दिया तो ऐसा कहनेमें भी कोई बड़ी चूक नहीं है। समझने वाले समझते ही हैं कि निमित्त को भी लौकिक भाषामें कर्ताके रूपसे बोला जाता है। समझने वाले इस वाक्यको सुनकर भी भ्रममें नहीं आते, किन्तु संक्षेपमें बोलने की यह ही भाषा है अन्यथा इस बातको आप ठीक सही भाषामें बोलिये तो इतना लम्बा बोलना पड़ेगा कि पूर्वकालमें जीवविकारका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणामें कर्मत्व आया था सो उन अनुभाग विशिष्ट कर्मोंका जब उदय काल आया तो उसका निमित्त पाकर जीवमें अपनी परिणतिसे विकार हुआ है। अब इतना लम्बा बोलनेका अवसर कहाँ है? हाँ कोई निर्णय वाली सभा हो तो उस सभामें तो यों बोला जायगा मगर शीघ्र शीघ्र ज्ञान कराना है तो इस भाषामें बोलते ही हैं। जैसे घरमें किसीने कहा अपने बड़े बच्चेसे कि बेटा जरा वह घी का डिब्बा उठा लाना, तो क्या वह लड़का यहाँ भ्रममें पड़ जाता कि घी से बना हुआ। डिब्बा तो यहाँ कहीं रखा नहीं। मैं कैसे उठाऊँ, कैसे ले जाऊं? यों वह जरा भी भ्रम नहीं करता और घी भरे डिब्बेको उठाते समय भी वह यह नहीं जानता कि यह टीनसे बना डिब्बा नहीं है, यह घी से बना है। कोई भ्रम नहीं होता सच्चाई उसके हृदयमें रहती है और उसकी आज्ञाका तुरन्त पालन कर देता है। तो उपचार भाषामें जिसको प्रयोजन विदित हो गया और उस प्रयोजनके लिए यह भाषा बोली गई है ऐसा स्पष्ट ज्ञान करने वालेको क्या हर्ज है ऐसा सुनने और बोलनेमें कि पुद्गलकर्मने जीवको रागी कर दिया। ऐसी भाषा सुनकर अगर कोई अज्ञानी जीव कर्ताकर्मकी बुद्धि लाद ले कि जीवका वश क्या है? ये कर्म हैं ईश्वर, सो ये जीवको रागी कर डालते हैं। तो यदि कोई अज्ञानी भ्रममें आकर अपना विघात कर ले तो उससे कहीं ज्ञानियों की भूमिका तो न बदल जायगी। सो एक बार यह भी सुन लेना ठीक लग रहा कि पुद्गलकर्मने जीवको रागी कर दिया। पर जब इसके मुकाबलेमें निमित्त नैमित्तिक भावकी सही वाक्य रचना आती है कि कर्मोदयका निमित्त पाकर जीव रागी बन गया तो पहले कही हुई बात अब इसकी मिथ्या अथवा गौण हो जाती है।

निमित्तनैमित्तिकव्यवहारभाषाकी भी निश्चयदृष्टिके समक्ष गौणता—अब यह बात तो ठीक है कि पुद्गलकर्मका उदय आये तो उसका निमित्त पाकर जीव रागी बन जाता है, किन्तु जब एक और नई वाक्य रचना और दृष्टि आती है कि जब एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ सम्बंध नहीं है तो सम्बंध क्यों जोड़ना? वहाँ तो यह जीव अपनी योग्यतासे, अपने

परिणमनसे रागी बन रहा है। तो यह है निश्चयनयकी भूमिका। एक ही द्रव्यको निरखा गया है। तो लो वह निमित्त नैमित्तिक व्यवहार भी गौण हो गया, अब केवल यही नजर आ रहा कि जीव अपनी परिणतिसे रागी बन रहा, किन्तु जब जीवका स्वभाव निरखते हैं तो स्वभावमें तो यह बात पड़ी ही नहीं है कि जीव अपने स्वभावसे रागी बन जाय तो उस दृष्टिमें जब यह बोलते हैं कि जीव अपने भावसे रागी नहीं बनता, किन्तु वह रागी परिणमन तो पौद्गलिक है, तो इस दृष्टिमें अब पहलेका कथन गौण हो गया। जब इसके बाद एक अखण्ड निरखनेकी ही दृष्टि आती है कि यह आत्मा अखण्ड एक सहज चैतन्य स्वरूप मात्र है तब उसकी अन्य सारी दृष्टियाँ गौण हो जाती हैं। कब किस मूडमें किस नयसे लाभ मिलता है, इस सबका विश्लेषण करना यह सब उसे सुगम नहीं है। इस प्रकार नयजाल एक कठिन वन है। उस नय जालका भी जिसने विश्लेषण कर दिया और स्पष्ट मार्ग दिखा दिया ऐसे आगमका जिसको ज्ञान है, इतना महान दीपक है वह अपनी सद्भावनामें ही तो रहता है और फिर भी कोई कठिन बेदना आ गई, उपसर्ग आ गया, किसी बातके आनेपर यदि स्व-स्वभावके आश्रयसे हट गया, चिग गया धर्मसे तो यहाँ दैव (भाग्य) का अपराध समझना और वहां स्वभावकी दृष्टि रखकर अपने स्वभावका भी पोषण करना।

सत्सङ्गतिका महत्त्व—ज्ञान और सत्संगति ये बहुत महान दीपक हैं जो कल्याणार्थी-जनोंको सन्मार्ग दिखाते हैं। ज्ञान न हो तो किस ओर आचरण करें, सत्संगति न हो तो उस ज्ञानको ताजा और प्रगतिशील कैसे बनाये रखे? स्वाध्याय द्वारा ज्ञान भी प्राप्त कर लिया, पर प्रकृति है और जीवके कर्मोदय हैं कि वह ज्ञान एक बासी सा पड़ जाता है, जैसे बासी भोजनमें किसीको खानेकी उमंग नहीं रहती। हाँ तीव्र भूख लगी हो तो विवश होकर खाना पड़ रहा है पर उसमें उमंग तो नहीं। तो ऐसे ही जब सत्संगति नहीं प्राप्त होती तो अर्जित किया हुआ ज्ञान भी उसके लिए बासी सा बन जाता और उसमें उमंग सी नहीं रहती। इसे ठठेरेके कबूतर जैसी उपमा दी है। जैसे किसी ताँबा, पीतलके बर्तन बनने वाले कारखानेमें जहाँ कि ताँबे पीतलकी ठुकाईसे निरन्तर शब्द होते रहते हैं उस हालतमें जरा सी आहटमें उड़ जाने वाला कबूतर पक्षी है मगर वह इतनी तेज आवाजमें जिसमें रहकर मनुष्य भी घबड़ा जाय, पर वह कबूतर वहींका वहीं बैठा रहता है, उड़ता भी नहीं। उस कबूतरसे यदि कोई पूछे कि रे कबूतर तू इतनी तेज आवाजमें भी क्यों बैठा रहता, उड़कर भाग क्यों नहीं जाता? तो शायद उसका यही उत्तर होगा कि ऐसी ठन-ठन तो रोज-रोज चल रही है, हम कहाँ तक उड़ें, भागें? तो ऐसे ही सत्संगतिकी प्रेरणा जिसको प्राप्त नहीं होती और स्वाध्याय द्वारा ज्ञान करते जा रहे हैं या बनाये हुये हैं और उनके आत्मामें वीतरागताके लिए उमंग नहीं बन पाती,

स्वभावानुभूतिके लिए उनको उमंग नहीं हो पाती तो ऐसे द्रव्य ज्ञानीसे पूछा जाय कि भाई तुम्हारे ज्ञान तो बहुत बना हुआ है, पर तुम आगे प्रगति क्यों नहीं करते ? तो उसका उत्तर यह ही होगा कि ऐसे ज्ञानका जो हम रोज रोज पाठ करते रहते हैं। सत्संगति एक अमूल्य निधि है, पर लोगोंको चूँकि सत्संगति मिलनेमें कुछ खर्च नहीं करना पड़ता इसलिए उसका कोई महत्व नहीं है लोगोंके चित्तमें मगर सत्संगति हो जाना तो इतना महत्वशाली धन है कि जिसके बिना शान्ति नहीं, प्रगति नहीं और प्रकाश भी नहीं प्राप्त होता। तो ऐसे ज्ञान और सत्संगका भी जिन्होंने अमूल्य वैभव प्राप्त कर लिया है वे पुरुष भी कोई तीव्र कर्मविपाक आनेपर अपनी दृष्टिसे चिग जायें तो लो अब इस जीवका अपराध कैसे कहा जाय इसने कोई मायाचारी नहीं की, पुरुषार्थमें भी बराबर लग रहा। पर तीव्र उदय है ऐसा कि वह चिग गया, तो ऐसी स्थिति पा लेने पर उस पुरुषका अपराध नहीं कहा जा सकता। यह अपराध है दैवका।

ज्ञानदीपककी महिमा—यह ज्ञानदीपक अंधकारको कष्ट करनेमें समर्थ है। ज्ञानस्वरूप है यह आत्मा, पर कर्मोंका आवरण ऐसा छाया है कि जिसके उदयमें इस ज्ञानका विकास नहीं हो पा रहा और साथ ही मिथ्यात्वका उदय हो तो वह ज्ञान उल्टी दिशामें लिये जा रहा है, जिस ज्ञानको यह मानता था कि निजको निज और परको पर, पर मिथ्यात्वके प्रसंगसे वह ज्ञान निजको पर अथवा निजकी सुध ही नहीं है। और परको निज मानने लगा, तो ऐसे ही ज्ञानकी चेष्टायें अज्ञान कहलाने लगती हैं, तो ऐसे अज्ञान अंधकारको दूर करनेमें पूर्णतया समर्थ है यह सहज ज्ञानका प्रकाश, सो यह ज्ञानप्रकाश भी जिसे प्राप्त हो गया यों कह लीजिए कि सम्यक्त्व भी जिसके जग गया और फिर भी सम्यक्त्व छूट जाता है तो उस सम्यक्त्वके छूट जानेमें किसका अपराध माना जाय ? जिस जीवको सम्यग्दर्शन हो गया तो सम्यग्दर्शनके रहते सहते कोई परिणाम बिगड़े तो नहीं हो सकते फिर क्या वजह है कि उसका सम्यक्त्व छूट जाता है ? जिसका भी छूटता है उसका कारण क्या इस आत्माकी गल्ती कहा जाय ? वह तो ठीक पुरुषार्थमें लगा है। अगर ऐसी स्थिति आती है तो वहाँ मानना पड़ेगा कि यह सब दैवापराध है। जैसे कोई पुरुष अच्छे उजेलेको करने वाली लालटेनको हाथमें लेकर चले, सावधानीसे चले, निरखकर चले तिस पर भी वह मार्ग भूल जाय या किसी गड्ढेमें गिर जाय तो लोग उसका अपराध नहीं कहते। वह बेचारा तो अपनी शक्तिके अनुसार पूरा पुरुषार्थ करके चल रहा था, भूल गया रास्ता तो भाग्यका दोष कहा जाता है, ऐसे ही जो सभी उपायोंसे मुक्तिके मार्गमें लगा है तिसपर भी वह मुक्तिके मार्गसे चलित हो जाता है तो यही कहना होगा कि उस आत्माका क्या दोष है ? दोष

तो उसके भाग्यका है। इस वर्णनसे हमें यह शिक्षा लेना चाहिये कि अपनी सामर्थ्यके अनुसार मोक्षमार्गमें लगे रहना चाहिए। आगेका संशय न रखना और उस पुरुषार्थमें ही अपने को निर्बाध बनाना ताकि अपनेमें दोष न रहे।

जिनपतिपदभक्तिर्भावना जैनतत्त्वे विषयसुखविरक्तिर्मित्रता सत्त्ववर्गे।
श्रुतिशमयमशक्तिर्मूकतान्यस्य दोषे मम भवतु च बोधिर्यावदाप्नोमि मुक्ति ॥२१॥

मुमुक्षुकी जिनपतिपदभक्तिकी अभ्यर्थना—इस विषयसुख निराकरणके प्रकरणमें अन्तमें यह भावना की गई है कि जब तक मुझे मुक्ति प्राप्त न हो तब तक ये बातें मुझको मिलती रहें। जिनेन्द्रभगवानके चरणोंकी भक्ति। प्रभुका, सिद्धका जो भक्तिभावसे स्मरण करता है उसको ऐसी उमंग जगती है कि वह अंतरंगमें कह उठता है कि हे प्रभो! मुझे तो वहीं बुला लो। मैं तो इस ही स्वरूपमें रह जाऊं, अन्य घटनावोंकी मुझे चाह नहीं है। जिनेन्द्र भगवान, भगवद्भक्ति एक अपना ही विकास है, जहाँ दोष न हो ऐसे हृदयमें ही तो भगवानके गुणोंका स्मरण रहता है। सो प्रभुभक्ति मेरे हृदयमें बनी रहे जिससे मैं सन्मार्ग को तो न भूलूं। जब प्रभुकी सुध रहती है तो सन्मार्गकी भी सुध रहती है। संसार संकटों से छूटनेका उपाय केवल एक यह सन्मार्ग है। जहाँ सहज आत्मस्वरूपकी दृष्टि बनी रहती है और उस सहज आत्मस्वरूपमें ही अपने आत्मत्वकी प्रतीति बनी रहती है। प्रभुभक्तिके प्रसादसे जन्म जन्मके किए हुए पाप भी नष्ट हो जाते हैं। सो मैं निष्पाप बनूँ इस ही में कल्याण है। सो जब तक मैं मुक्तिको न प्राप्त कर पाऊं तब तक प्रभुचरणोंमें भक्ति बनी रहे।

मुमुक्षुकी जैनतत्त्वभावनाकी अभ्यर्थना—दूसरी कामना है जैनतत्त्वकी भावना। जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित तत्त्वकी भावना भाता रहूं। उस प्रभुकी दिव्यध्वनिकी परम्परा से ही आज ये आर्ष ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं, जिनमें वस्तुस्वरूपकी स्पष्ट घोषणा है कि प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्त है। अपने आपमें स्वरूपतः ध्रौव्य है और चूँकि वह द्रव्य है सो द्रव्यका स्वभाव ही यह है कि प्रति समय परिणमन करता रहे। सो जब यह स्वभाव यह लक्षण प्रत्येक द्रव्यमें मिल रहा है कि प्रत्येक द्रव्य अपने ही स्वरूपमें अपना परिणमन करता रहता है और सदा बना रहता है तो उसका फिर मोह कहाँ ठहर सकता? और मोह न ठहरे तो उसको शान्तिका मार्ग मिल जायगा।

मुमुक्षुकी विषयविरक्तिकी भावना—तीसरी कामना है विषय सुखोंसे विरक्त होना। ये विषयोंके सुख इस आत्माके बड़े भयंकर शत्रु हैं। विषयसुखकी भावना ही शत्रु है। जगत का कोई दूसरा जीव शत्रु नहीं है, यह जीव तो अज्ञानी है। अपनी अज्ञानदशासे उल्टा बुद्धि

करके आज यह उसके विरोधमें है तो यह ही जीव कल अर्थात् कभी भी उसका अत्यन्त मित्र बन जायगा। तो इसकी शत्रुता मित्रताका तो ठिकाना ही नहीं है, कोई उसका आधार ही पक्का नहीं है। इस जीवको अपने मनके खिलाफ कोई बात दिखती है तो यह उसका शत्रु बन जाता है और अपने मनके अनुकूल कोई बात नजर आती है तो मित्र बन जाता है। ये बाहरके जीव कोई किसीके शत्रु अथवा मित्र नहीं हैं उनमें अदल बदल भी चलती है, और वास्तविकता भी नहीं है, पर यह विषयसुख इस जीवको ही तो परिणमन है, कोई यह बाहरी चीज नहीं है, नैमित्तिक अवश्य है, सो ये विषयसुख केवल क्षोभको ही उत्पन्न करते हैं। विषय सुख पानेसे पहले क्षोभ, विषयसुख पानेके समयमें क्षोभ, विषयसुख भोग लेनेके पश्चात् भी क्षोभ। तो ये विषयसुख नियमत: जीवको कष्ट ही उत्पन्न करते हैं। ये चाहे कष्ट मानें या न मानें, यदि कष्ट नहीं मानते तो यह तो और भी बड़ा कष्ट है। मिथ्यात्वका कष्ट बड़ा भयंकर होता है। तो मेरा वास्तविक शत्रु तो विषयसुख है। इन विषयसुखोंसे विरक्त होवे तो ये विषयसुख भी हैरान हो जायेंगे। इनका अड्डा न जम पायगा और ये सदाके लिए विदा हो जायेंगे और इनके बिदा होते ही आत्मामें अन्तः बसा हुआ सहज विशुद्ध परम आल्हाद रूप आनन्द इसके प्रकट हो जायगा। सो यह ज्ञानी भावना करता है कि जब तक मैं मुक्तिको न प्राप्त करलूं तब तक मेरी विषयसुखसे विरक्ति रहे, अर्थात् उन विषय सुखोंसे उपयोग हटा रहे जिससे मेरे सहज स्वाधीन आत्मीय आनन्दकी प्राप्ति हो जाय।

मुमुक्षुकी सर्व जीवोंमें मित्रताकी भावना—पञ्चेन्द्रिय और मनके विषयोंको असार जानकर उनसे इस मुमुक्षुका चित्त हट गया है तो अब यह आत्माकी ओर अभिमुख हो रहा। इस समीचीन कार्यके साधक कुछ अवस्थावोंकी यह भावना भा रहा है। मेरा समस्त प्राणियों में मित्रताका परिणाम हो। कोई प्राणी मेरे लिए अपराधी न जचे। जो कोई भी प्राणी कुछ विरोधकी भावना रखता है तो वह अपने कर्मोदयके अनुसार अपनेमें नैमित्तिक परिणमन करता है। वस्तुत: वह भी आत्मा निरपराध है अर्थात् स्वभावसे कोई अपराध नहीं, कोई विकार नहीं, ऐसा निरखने वाले किसी भी प्राणीमें शत्रुताका या विरोधका भाव नहीं रख सकता। सो सर्व जीवोंमें मेरा मित्रताका परिणाम हो। मित्रतामें किसी भी प्रकारसे दु:खका काम नहीं जुटाया जाता। मित्रताका लक्षण ही यह बताया है, दु:खानुत्पत्त्यभिलाषी मैत्री। दु:ख अनुत्पत्तिकी अभिलाषा रखना अर्थात् इस जीवको दु:ख उत्पन्न न हो, ऐसी मनमें, अभिलाषा होनेको मित्रता कहते हैं। सर्व जीव स्वरूपत: ज्ञानमय हैं, आनन्दमय हैं, निरपराध हैं, ऐसे ही उनमें विकास बने, ऐसा इच्छा रखता है यह साधक, जो अपने आपमें चाह रहा है। मित्रतामें यह होता ही है कि जो बात अपनेको इष्ट होती है उस ही की भावना दूसरेके लिए

होती है । सर्व जीवोंको जब अपने स्वरूपके समान समझा है तो सर्व जीवोंमें मित्रता होना स्वाभाविक ही बात है । यह ज्ञानी साधक सर्व जीवोंमें मित्रताकी भावना कर रहा है ।

मुमुक्षुके श्रुतिशक्तिके लाभकी अभिलाषा—विषय सुखकी रंच भी भावना न रहे, ऐसा निर्लेप शुद्ध आत्मा बने, इस कार्यके लिए अनेक योग्य उपाय साधक हैं, उनमें श्रुतिका पौरुष भी एक साधक है । ज्ञान प्राप्त करना, शास्त्र पढना, उपदेश सुनना, अनुभवी पुरुषोंकी वाणी सुनकर उसका मनन करना, और उस उपदेशपर अपनेको चलाना, ऐसी भावना बनती है । सो यह साधक श्रुतिकी दृढ़ भावना रख रहा कि मेरेमें श्रुतज्ञान और उसके अनुसार प्रयोग मेरेमें दृढ़ रहे । जीवका हित श्रुतिसे प्राप्त होता है । देशनालब्धिमें श्रुतिकी हो तो विशेषता है । सभी जीवोंको सम्यक्त्व प्राप्त करनेमें पञ्चलब्धि अनिवार्य है । पञ्चलब्धि पाये बिना जीव सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता । उनमेंसे क्षयोपशमलब्धि तो प्रायः अयत्नसाध्य है । जो कुछ भी थोड़ा परिणामका प्रयोग चलता है वह न कुछके बराबर है । इस जीवको कर्मस्थितियाँ और उनका अनुभाग विचित्र प्रकारकी अपनी स्थितियोंमें फैल जाता है । तो अनेक भवोंके बाँधे हुए कर्म पूर्वके प्रति समयसे अनेक सागरों पहलेके भी बाँधे हुए कर्म अपनी स्थितिके अंशपर उदित होते हैं । तो उस उदित निषेकमें कैसा अनुभाग आता है, वह विचित्र हो जाता है । यों कभी मंद अनुभाग आया और उस कालमें इस जीवके कुछ विशुद्ध परिणाम बढ़ें तो यह कल्याणका मार्ग प्रारम्भ कर लेता है । जैसे कि किसी नदीमें बड़ा तेज बढ़ाव चल रहा है, कोई मनुष्य उसको पार कर रहा है उस बीच बहाव कम हो जाय, वेग छोटा हो जाय तो उस हल्के वेगमें उस पुरुषका साहस बन जाता है । और पुरुषार्थ बन जाता है कि वह नदीको पार करले । तो ऐसे ही क्षयोपशमलब्धि होने पर इस जीवका पुरुषार्थ चलता है । उससे विशुद्धि बढ़ती है और उस विशुद्धि बढ़ने पर आचार्य गुरुजनोंको देशनाको धारण करनेकी योग्यता आ जाती है । उस देशनालब्धिमें श्रुतिका ही तो लाभ है । तो यह साधक भावना करता है कि मैं श्रुतिमें खूब दृढ़ रहूँ ।

आत्महिताभिलाषीके प्रशमभावकी भावना—शान्त परिणामका होना एक जीवका विशेष महत्त्वशाली कदम है । अज्ञानी जीवोंको यह भ्रम बना है कि किसी भी कार्यको हम क्रोध और उद्दण्डताके बलसे सिद्ध कर लेते हैं । क्रोध, उद्दण्डता होने पर कोई कार्य सिद्ध भी हो जाय तो वह पूर्वकृत पुण्यका तीव्र उदय था, सो वह सिद्ध हो गया, पर क्रोध उद्दण्डतासे कोई सिद्धि नहीं होती । वह तो पापभाव है । वहाँ तो पापकर्मका बंध है तो यह कहा जा सकता है कि जो सिद्धि होनेको थी उसमें कमी हो गई । प्रशमभाव कोई पुरुष मेरे प्रति विरोध कर रहा है तो भी मेरा उसके प्रति बदलाका भाव न आये और उसको क्षमा

कर सकूं और मेरेमें प्रशम भाव बना रहे। सहज शुद्ध आत्माकी अनुभूति प्रशमभाव पूर्वक ही हो पाती है। किसी भी कषायका वेग होनेमें, वर्तनामें इस जीवको स्वानुभूतिकी पात्रता नहीं रहती। कषाय शान्त हों, ऐसा प्रशमभाव बिराजा हो तो उसका उपयोग सहज शुद्ध आत्माको अनुभूतिके लिए चलता है, क्योंकि अनुभूतिमें ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, यह स्थिति हुआ करती है। तो ऐसी स्थिति पानेके लिए ज्ञान शुद्ध होना चाहिए ना? और ज्ञानकी शुद्धता कषायके शान्त होनेसे ही होती है। अतः यह साधक आत्महितके लिए भावना कर रहा है कि मैं शम परिणाममें खूब दृढ़ रहूं। कितनी ही घटनायें विरुद्ध आयें तो भी तत्त्वज्ञानके बलसे मेरी शान्तिमें, कषायशमनमें बाधा न आये।

आत्मकल्याणार्थीके यम नियमकी दृढ़ताकी भावना––यह साधक आत्माभिमुख रहने के लिए भावना कर रहा है कि मैंने जो यम और नियम धारण किया है उनमें खूब दृढ़ रहूं। यमका मतलब है यावज्जीव पाप कर्मोंका त्याग करना। और, नियमका मतलब है कुछ अवधि लेकर विशेष विरति धारण करना। नियम भी यमकी एक श्रेणी है, यह कुछ समयको लेकर है। यम यावज्जीव है, पर त्याग भावना दोनोमें ही चल रही है। जो भी व्रत संयम धारण किया है उस व्रत परिणाममें मैं सदा दृढ़ रहूं, स्खलित न होऊँ, ऐसी भावना साधक कर रहा है। व्रत संयम आत्माका हितकारी कदम है, यदि यह किसी नियममें शिथिल बने और सोच ले कि क्या हर्ज है, पीछे ठीक कर लेंगे, प्रायश्चित्त कर लेंगे शुद्धि हो जायगी, अभी यह एक स्थिति है इसलिए नियमका भंग होने दो। एक बार भंग किया, प्रायश्चित्तसे शुद्ध हो गए। दूसरी बार भी शुद्ध हो सकता है। और ऐसा भंग कई बार बने तब तो फिर उसमें नियमकी पात्रता नहीं रह पाती। किसी भी समय वह उन नियम व्रतोंको एकदम छोड़ सकता है। ऐसी शिथिलता निरन्तर बनी रहती है। सो साधक भावना कर रहा है कि मैंने जो पापकर्मका त्याग किया है और अच्छे कार्योंके धारणका 'नियम किया है सो मेरा यह यम और नियम खूब दृढ़ रहे ताकि मैं आत्माभिमुख रहनेमें निर्विघ्नतया सफल हो सकूं।

आत्महितार्थीका परदोषवादमें मौनत्वका प्रयोग—साधक जानता है कि किसीके दोष को बोलना यह एक ऐसा अनर्थ कदम है कि जिसमें यह भी रीता हो जाता है और दूसरे लोगोंके द्वारा सदैव उपद्रव होनेकी शंका बनी रहती है। जिन पुरुषोंके दूसरोंके दोष कहते रहनेकी प्रकृति बनी रहती है वे पुरुष आचरणमें हीन हैं और सदैव विपत्तियोंका बोझ लादे हुए हैं। जब किसीके दोषका वर्णन करता है कोई तब उसके ज्ञानमें दोषका स्वरूप तो आया ही है और जब ज्ञानमें दोषका स्वरूप समाया है तो वह ज्ञान उस कालमें सदोष बन गया। तो सर्वप्रथम तो दूसरेके दोष कहने वालेने अपनेको सदोष बनाया, फिर वह जब दोष कहता

है तो सुनने वालोंके चित्तसे उसके प्रति उपेक्षा हो जाती है याने उसमें आस्था नहीं रहती है कि यह सज्जन पुरुष है। सुनने वाले लोग जानते हैं कि इसको दोषवादमें बड़ी उमंग बनी रहती है। यह तो उदार नहीं है, अनुदार है। तीसरी आपत्ति यह है कि जिसके दोष कहे गए हैं वह पुरुष जब जान जाता है कि यह पुरुष मेरी निन्दा करता फिरता है तो वह उसका कठिन शत्रु हो जाता है और उसका अपमान करनेके लिए, पीटनेके लिए, बध करनेके लिए अपनी इच्छायें बनाता है, साहस करता है और ऐसा ही आरम्भ कर देता है। तो दूसरेके दोष कहनेमें अन्तरंगमें भी हानि है, बहिरंगमें भी हानि है। तो जो आत्माभिमुख होना चाह रहा है वह भावना कर रहा कि मेरा दूसरोंके दोष कहनेमें मौन भाव रहे। कभी दूसरोंके दोष मेरे मुखसे न निकलें। दूसरोंके दोष कहनेमें मैं गूंगा हो जाऊं, ऐसा साधक आत्महितके लिए भावना कर रहा है। ये सब भावनायें जो कही गई हैं ये बिषयसुखके निराकरणमें साक्षात् अथवा परम्परया कारण बनती हैं। जिनका चित्त विशुद्ध है, आत्माकी ओर लगनेकी जिनको सुगमता है ऐसे पुरुष इन्द्रियविषयोंको और मनके विषयोंको सुगमतया दूर कर डालते हैं, तो उन विषयसुखोंके निराकरणके लिए ये सब भावनायें साधन है और उन विषयसुखोंसे उत्कृष्ट शाश्वत आनन्दकी प्राप्तिमें बढ़नेके लिए उसका कदम बढ़ता रहता है।

मुमुक्षुके बोधिलाभकी भावना—यह साधक भावना कर रहा है कि मुझे बोधिका लाभ हो। बोधि रत्नत्रयभावको कहते हैं। आत्माके सहज स्वरूपका विश्वास और उस निश्चय सम्यक्त्वकी साधक सप्त तत्त्वोंके यथार्थ श्रद्धान, देव, शास्त्र, गुरुका विनय, अनायतनोंसे उपेक्षा इन भावोंकी अभ्यर्थना कर रहा है कि ऐसा भाव मेरा बना रहे, जिसके प्रसादसे कभी निर्विकल्प समाधि पाकर मुक्तिको प्राप्त कर लूं। यथार्थ विश्वास सहित जो आत्मतत्त्वका अधिगम है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सही ज्ञान और सम्यग्ज्ञानमें कुछ अन्तर है। सम्यग्दर्शनसे पहले जो ज्ञान है वह भी सही ज्ञान है। कहीं विपरीत ज्ञानसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति नहीं हुआ करती। ७ तत्त्वोंका ज्ञान, देव, शास्त्र, गुरुके स्वरूपका ज्ञान यह सही हो तब तो सम्यक्त्व प्राप्त हों, पर सम्यक्त्व प्राप्तिसे पहले उन सही ज्ञानोंके समय सही आत्मस्वरूपकी अनुभूति और प्रतीति नहीं है इस कारण उन्हें सम्यग्ज्ञान न कहेंगे। पर उन सही ज्ञानोंके प्रसादसे सम्यक्त्वका लाभ होते ही वह सही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है और जैसा सहज आत्मस्वरूपका दर्शन हुआ, जैसा उनका सम्यक् बोध हुआ उस ही प्रकार आचरण बने अर्थात् ऐसा ही ज्ञाता द्रष्टा रहे वह है सम्यक्चारित्र। तो यह साधक विषयसुख निराकरण प्रकरणके अन्तमें अपने हितके लिए भावना कर रहा है कि जब तक मैं मुक्तिको

प्राप्त न होऊं तब तक मेरेको बोधिका लाभ बना रहे।

कोपोऽस्ति यस्य मनुजस्य निमित्तमुक्तो नो तस्य कोऽपि कुरुते गुणिनोऽपि भक्तिं।
आशीविषं भजति को ननु दंदशूकं नानोग्ररोगशमिना मणिनापि युक्तं ॥२२॥

क्रोधी पर अनुरागकी असंभवता—अब इस छंदसे क्रोधके निराकरणका प्रकरण चल रहा है। क्रोध ऐसा दुःखदायी विकार है कि जिसमें क्रोध हो ऐसा पुरुष यदि गुणवान भी हो तो भी उसके प्रति, लोगोंकी आस्था नहीं जमती और सदैव उससे शङ्का बनी रहती है, न जाने उसे कब क्रोध आ जाय और उसके प्रति क्यासे क्या बर्ताव करे। जिस मनुष्यके क्रोध बना रहता है। जो मनुष्य बात बातमें क्रोध करता है, कोई निमित्त भी न हो, कोई खास विशेष कारण भी नहीं है फिर भी जिसके क्रोध करनेकी आदत बनी रहती है वह अपने आपको भी दुःखी करता है और दूसरे मनुष्योंको भी दुःखी करता है। क्रोधी मनुष्य चाहे अनेक गुणोंका भण्डार भी क्यों न हो। दूसरे कोई पुरुष उसकी भक्ति सेवा सुश्रुषा नहीं कर सकते, क्योंकि लोगोंको उससे अशान्तिकी आशा रहती है। पता नहीं कब यह क्रुद्ध हो जाय और मेरे साथ यह क्या बर्ताव करने लगे। यह तो सब व्यावहारिक बात है। आप सबके उपयोगों उतरी हुई बात है। जिस पुरुषको क्रोध करनेकी आदत है उस पुरुषके प्रति दूसरा कोई लगाव नहीं रख सकता। सभी उससे दूर रहना चाहते ताकि मेरे पर कोई विपत्ति न आ जाय। सो क्रोधी पुरुष अनेक गुणोंका भण्डार हो तो भी वह सेवनीय नहीं है।

गुणभण्डार होनेपर भी क्रोधीके प्रति अनुरागकी असंभवताका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—जैसे एक दंद शूक जातिका महान विषधर सर्प होता है। उस सर्पके फणमें मणि होती है, जैसे गजमुक्ता बताया जाता है। किसी किसी हाथीके मस्तकमें मोती भी होते हैं, तो आखिर वे मोती बनते हो तो हैं। समुद्रमें किसी किसी सीपमें जब कि किसी भले समयमें कोई मेघ की बूंद पड़ जाय तो उसका संसर्ग पाकर वहांके स्कंधोंकी मणिरूप रचना हो जाती है। उसे कहते हैं मुक्तामणि। तो जब सीपोंमें मोती बन जाते हैं तो गजके मस्तकमें भी मोती हों तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात ? और, किसी विशिष्ट सर्पके फणमें भी मोती हों तो वह भी सम्भव है। तो किसी विशाल विषधर सर्पके फणमें मणि होती है जो कि बड़ी अमूल्य होती है तो भी उस सर्पको कोई नहीं पकड़ता है। क्योंकि वह सर्प हानि पहुंचाता है। बड़ा विषैला होता है। थोड़ा भी छू जानेपर वह छूने वालेको काट लेता है, उसका मरण हो जाता है। तो ऐसा सर्प जिसमें मणि पड़ी हो फिर भी वह भयंकर क्रोधी मृत्युकारी होनेसे सेवनीय नहीं होता, उसे कोई पकड़ना भी नहीं चाहता। तो ऐसे उस महान् विषधरके समान क्रोध-

विषको रखने वाले पुरुष चाहे कितने ही अपूर्व गुणोंके धारी हों फिर भी उनकी सेवा सुश्रुषा करनेमें लोगोको हिचक रहती है।

सर्व गुण भस्म कर देने वाले क्रोध ज्वालाके शमनमें ही अपना विवेक—यह क्रोध एक विकट ज्वाला है जिसमें सारे गुण भस्म हो जाते हैं और यह भी जीवन भर दुःखी रहता है। घरोंमें देख लो, जो पुरुष या स्त्री क्रोध करनेकी ही आदत बनाये रहते हैं तो घरमें रहकर भी वे दुःखी, बाहर जाकर भी दुःखी। उनका सारा जीवन क्लेशमय होता है। क्रोध करते समय बुद्धि ठीक काम नहीं देती, तब ही तो चतुर लोग मुकदमेकी सुनाईके समय प्रति पक्षीके वकीलके विरुद्ध अटपट बात भी बोलते हैं ताकि इसमें क्रोध आ जाय, फिर यह सही तरहसे वकालत न कर सके। क्रोधी पुरुष चाहे गृहस्थ हो, श्रावक हो, साधु हो, त्यागी हो, जो भी हो, क्रोधमें होनेके कारण उसके वचन सही नहीं निकलते और यह देखा भी होगा कि जिसको तीव्र क्रोध आता हो वह जब बोलता है तो उसके वचन साफ नहीं निकलते। ओंठ अटपट फड़फड़ाते हैं, जिह्वा टेढ़ी मेढ़ी चलती है। वे शब्द स्पष्ट हो ही नहीं पाते। तो क्रोधका प्रभाव मनपर भी है, वचनपर भी है और कायपर भी है। क्रोधी पुरुषके हाथ पैर कांपने लगते हैं, वह सही ढंगसे खड़ा भी नहीं हो पाता। तो जैसे क्रोधका असर मन, वचन, काय पर भी पड़े तो समझिये कि उस क्रोधका दुष्प्रभाव जिसको क्रोध प्राप्त हुआ है उस आत्मापर कितना पड़ जाता है। तब ही तो बताया है कि क्रोधमें सब गुण भस्म हो जाते हैं। तो क्रोध करनेसे इस लोकमें भी हानि है और तत्काल पापबंध होनेसे परलोकमें भी हानि होती है। सो आत्महित चाहने वाले ज्ञानी पुरुष इस क्रोधभावके त्यागके लिए अनेक पौरुष करते हैं मगर सब पौरुषोंमें प्रधान पौरुष है तत्त्वज्ञान। मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञाता द्रष्टा रहना यही इसकी वास्तविक वृत्ति है, इसमें विकारका प्रवेश नहीं है। ये विकार तो, ये क्रोधादिक तो कर्मके अनुभागसे झलक रहे हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं है, इस प्रकार जो विकार से विविक्त अपने आत्माके सहज स्वरूपको निरखता है उससे ही यह वास्तविक उपाय बनता है, ऐसा ज्ञान जगता है कि जहां फिर क्रोधके ठहरनेकी, आनेकी, पनपने की गुञ्जाइश नहीं रहती। सो यह साधक सर्व पौरुष पूर्वक इस क्रोधपर विजय पानेका मुख्य ध्यान रखता है।

पुण्यं चित्तं व्रततपोनियमोपवासैः क्रोधः क्षणेन दहतीं धनवद्धुताशः।
मत्वेति तस्य वशमेति न यो महात्मा तस्याभिवृद्धि मुपयाति नरस्य पुण्यं ॥२३॥

क्रोधाग्नि द्वारा व्रतसञ्चित पुण्यका दहन—यहां इस प्रकरणमें क्रोध दूर करनेका उपदेश किया गया है। क्रोध ऐसी विकट ज्वाला है कि जिस ज्वालासे किया हुआ पुण्य सब नष्ट हो जाता है। व्रतके धारणसे विशेष पुण्यबंध तो होता ही है। यद्यपि व्रतमें विरक्तिका भाव

है और विरक्तिमें कोई कर्मबंध न होना चाहिए, पर व्रतमें विरक्तिके साथ व्रतोंका भाव है। जैसे अहिंसा महाव्रतमें हिंसाका त्याग किया है तो साथमें यह बात लगी है कि दया रूप प्रवृत्ति करना। किसी को हिंसा न हो ऐसे मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति रखना और इसी कारण उसे शुभ आश्रव कहा गया है। मात्र विरक्तिमें व्रतका नाम नहीं आता। रागका अभाव जहाँ है वहाँ तो निर्विकल्प समाधि है। जहाँ व्रत है वहाँ साथमें प्रवृत्ति है और उस शुभ प्रवृत्तिसे, उस शुभ भावसे पुण्यका बंध होता है सो यह क्रोध जब आता है। तो यह क्रोध ज्वाला इस पुण्यको भस्म कर देती है। क्रोध कषाय कितना बड़ा कलंक है, कैसी अद्भुत अग्नि है कि जिसमें यह जीव व्याकुल हो जाता है। उस क्रोधको दूर करनेमें ही आत्माका हित है।

क्रोधाग्नि द्वारा तपःसञ्चित पुण्यका सहन—इस जीवने तपश्चरण द्वारा पुण्यबंध किया। तपश्चरण भी कर्मनिर्जराका कारण होता है, क्योंकि इच्छावोंका निरोध होना ही तप है। जहाँ इच्छायें दूर हुई कि वहाँ तो रागांश दूर हुआ और जितने अंशमें राग दूर होता है उतने अंशमें उसकी निर्जरा चलती है, पर तपकी भावना, तपरूप प्रवृत्ति, तपके साथ जो कुछ भी शुभ राग चला उसके कारण पुण्यका बंध हुआ। तो ऐसे पुण्यको भी यह क्रोध समाप्त कर देता है। द्वीपायनमुनि सम्यग्दृष्टि मुनि थे। मिथ्यादृष्टि मुनिको तैजस ऋद्धि नहीं प्राप्त होती। उनके सम्यक्त्व था, सही मुनि थे, उनका इतना विशुद्धभाव था कि जिसके प्रतापसे उनको तैजस ऋद्धि प्राप्त हुई थी। तैजस ऋद्धिके बलसे दो तरह की बातें होती हैं। यदि किसी पर कृपा करें वे मुनि तो उसका भला हो जाय, नगरका भला हो जाय, दुर्भिक्ष दूर हो जाय, रोग शान्त हो जाय और कदाचित उस मुनिको क्रोध आ जाय तो उस नगरको भस्म कर दे, ऐसा तैजस शरीर निकलता है। तो जब उनको क्रोध आया द्वारिकापुरीमें युवकोंके उपद्रवके कारण तो बाँये कंधेसे उनका तैजस शरीर प्रकट हुआ और सारी नगरीको भस्म कर दिया और खुद भी भस्म हो गए और वहीं मरण करके नरकमें गए। तो क्रोध एक ऐसी विकट ज्वाला है कि किए कराये भले कामको भस्म कर देता है।

नियम एवं उपवास द्वारा सञ्चित पुण्यका क्रोधाग्नि द्वारा दहन—जीवनमें अनेक प्रकारके नियम किए जाते हैं। उन नियमोंसे आत्माकी भलाई है। कोई नियम यावज्जीव होता है कोई कुछ कालके लिए होता है। नियम वही पुरुष कर पाता है जिसको कि खोटे कामोंसे विरक्ति हुई है। तो नियमोंके द्वारा नियमरूप प्रवृत्तिके द्वारा इस जीवने पुण्यबंध किया, पर क्रोध आ जाय उसको तो वह सारा पुण्यबंध भस्म हो जाता है। पुण्य पापरूप

हो जाय तो यह पुण्य भी भस्म हुआ ही तो कहलाया। उपवास किये जाते हैं आत्मशान्तिके लिए। उपवासका अर्थ है उप मायने समीप वास मायने बसना आत्माके समीपमें अपने उपयोगको बसाना उपवास कहलाता है। उपवासमें अपना उपयोग, ध्यान, आत्माकी ओर रहना चाहिये। उस उपवासका प्रयोजन यह है कि यह मुमुक्षु यह अभिलाषा करता है कि मुझको दूसरेके सम्बन्धका विकल्प भी न करना चाहिए। आहार करनेमें बड़ा विकल्पजाल चलता है। जो भक्षण किया जा रहा है उसमें चित्त रहता है। अब अच्छा लगा, अब कड़वा लगा, उसे राग तो होता ही है, तो इस विकल्प जालसे बचनेके लिए उपवास ग्रहण किया जाता है। साथ ही उपवासमें यह ध्यान रहता है कि आहार करनेसे कुछ न कुछ आलस्य आता है। तत्काल आलस्य आता है। तो उस आलस्यसे भी बचे, विकल्पसे भी बचे और हमारा सारा समय धर्मध्यानमें जाय, ऐसी जिसको आत्माकी धुन हुई है वह उपवास किया करता है और इस प्रयोजनके बिना जो अन्य किसी ध्येयसे उपवास किए जाते हैं जैसे कि लोग जान जायें कि इन्होंने उपवास किया ये बड़े तपस्वी हैं····तो वे उपवास वास्तविक उपवास नहीं हैं। उपवासके द्वारा पुण्यबंध हुआ, फिर यदि किसी समय उसे क्रोध आ जाय तो वह क्रोध उस पुण्यको भस्म कर देता है।

क्रोध न होनेसे व्रतादिकी सार्थकता—यहाँ यह शिक्षा लेना कि जो व्रतमें, तपमें, नियममें, उपवासमें अपनी साधना बनाता है उसको यह ख्याल अधिक रखना चाहिए कि किसी भी बात पर संयोगपर क्रोध न आना चाहिए। यदि क्रोधपर विजय किया है तो उसके व्रत संयम आदिक सार्थक हैं और क्रोधादिक हों तो निरर्थक हैं। जैसे गृहस्थीमें शुद्ध चौका शुद्ध होकर बनाते हैं और उसमें छुवाछूतका बहुत अधिक विचार किया करते हैं। कोई छू न जाय ठीक है छूनेसे बचना अच्छा ही है मगर देखनेमें आता कि किसी बच्चेने यदि छू लिया तो इतना तेज गुस्सा आ जाता है कि दूसरोंको आफत सी आ जाती। अब यह बतलावो कि किसी दूसरे ने छू लिया उससे अपवित्रता आयी या इसमें खुदमें क्रोध जगा उससे अपवित्रता आयी। पवित्रता और अपवित्रता तो आत्माकी निरखना चाहिये। तो यह ध्यान रखना आवश्यक है धर्मार्थी पुरुषोंको कि, किसी भी प्रसंगमें क्रोधभाव न जगे। क्रोध न जगना यही तो उसके धर्मात्मापनका चिन्ह है। ज्ञानकी दृढ़ता और निर्विकल्पताका परिचय है। जिसका ज्ञान निर्बल है, वस्तुस्वातंत्र्यका परिचय नहीं है, दृढ़ विकल्प उठ बैठते हैं परके द्वारा घरमें कुछ माना जानेका, उनके क्रोध शीघ्र जगता है और जिन्होंने वस्तुके स्वरूपका सही निर्णय रखा है उन्हें क्रोध नहीं जग पाता। तो क्रोध एक ऐसी विकट ज्वाला है कि बड़े पुंण्यको भी यह क्रोध सहसा भष्म कर देता है। जैसे कि विकट अग्नि ईंधनको

शीघ्र खतम कर देती है। सो धर्मके अभिलाषी पुरुषोंको यह समझ कर क्रोधके वशमें न आना चाहिए। जो महात्मा क्रोधके वशमें नहीं आता उसका पुण्य वृद्धिको प्राप्त होता है।

पुण्यकी भी चाह न करके धर्मधारणका कर्तव्य—यह एक साधारणतया उपदेश है। वैसे तो पुण्यकी भी चाह न करना चाहिए। पापके फलमें दुर्गतियोंमें जन्म होता है। दुर्दशायें मिलती हैं तो पुण्यके उदयमें क्या मिलता है? इष्ट सम्पदा समागम प्राप्त होते हैं, उसकी प्राप्तिमें इसका उपयोग कैसा बनता है? किसीका अहंकार रूप, किसीका चिन्ता रूप। आखिर बाह्य समागमोंसे कष्ट ही प्राप्त होता है। तृष्णा एक ऐसी बुरी लत है कि किसी भी स्थितिमें मनुष्य पहुंच जाय वहाँ वह अपनेको हीन ही समझता है। अपनेको चिन्तातुर बना लेता है, मेरेको कुछ नहीं मिला। और मिलना चाहिए। वह सब भूल जाता है कि अनेक लोग हमसे भी कितनी छोटी स्थितिमें रहकर गुजारा करते हैं। बराबर धर्मध्यान भी बनाये रहते हैं। इनसे तो कई गुना अधिक सम्पदा मेरे पास है। कौन सा कष्ट है? मगर कितना ही वैभव मिले फिर कल्पनायें करके वह अपनेमें कष्ट ही अनुभव करता है कि अभी मेरेको कुछ नहीं है। पुण्यके उदयमें यह इल्लत मिल जाती है। तृष्णा कौन करेगा? जिसके पुण्योदय है और समागम अच्छा मिला है तृष्णा उसके जगेगी अधिक। जो गरीब है, छोटी स्थितिका है उसके तृष्णा कितनी सी जगेगी? कल (अगले दिन) के लायक कमायी हो जाय कि खाना खा सके या और और भी खर्च चला सके, मगर वैभववान पुरुषकी तृष्णा अथाह हुआ करती हैं। जो ज्ञानी पुरुष है वह ही वैभवको पाकर तृष्णासे दूर रहता है। ज्ञानबल बिना इस कलंकसे बचना बड़ा कठिन है। तो यों पाप और पुण्य दोनो ही संसाररूप हैं, पर स्थिति ही ऐसी है कि यदि खोटे भाव बनते हैं तो पापरस बढ़ता है, पुण्य भस्म होता है। इसलिए खोंटे भावमें क्या मिलता है वह बात बतायी जा रही है। तो क्रोध एक खोंटा भाव है, उसके होने पर पाये हुए गुण, पाया हुआ पुण्य सब भस्म हो जाता है, इस कारण क्रोधसे दूर होनेका ही उपाय करना, उसका उपाय है अपने स्वभावकी दृष्टि रखना। मैं तो क्रोध रहित हूं। मेरे स्वरूपमें विकार कहाँ है? यह तो चैतन्यमात्र है। इसका कार्य तो प्रतिभासमात्र है, ऐसे अविकार स्वरूप मुझ आत्माके क्रोध क्यों जगे अर्थात् न जगे ऐसी भावना करना चाहिये।

दोषं न तं नृपतयो रिपवोऽपि रुष्टाः कुर्वंति केसरिकरींद्रमहोरगा वा।
धर्मं निहत्य भवकाननदाववन्हि यं दोषमत्र विदधाति नरस्य रोषः ॥२४॥

क्रोधमें दुष्ट नृपतियोंसे भी अधिक पुरुषकी विघातकारिता—मनुष्यका क्रोध उस दोषको उत्पन्न करता है जिस दोषके कारण इस भयमें भी कष्ट होता। अगले भवमें भी कष्ट

होता। जीवका जितना अहित क्रोध करता है उतना अहित दुनियाका कुछ भी समागम नहीं करता। किसी राजाको क्रोध आ जाय बहुत किसी का बिगाड़ करनेका तो वह क्रुद्ध राजा कितना बिगाड़ कर सकेगा? अधिकसे अधिक धन छीन लेगा, अपने नगरसे भगा देगा। क्या करेगा क्रोध करके पर यदि इस मनुष्यमें क्रोधविकार उत्पन्न हुआ तो यह तो धर्मधनको ही समाप्त कर देगा। जहाँ क्रोध है वहाँ धर्म कैसे टिक सकता? एक भवमें दुःख दे सकेगा क्रुद्ध राजा भव-भवमें दुःख न दे सकेगा, पर यह क्रोध विकार इस धर्मको ध्वस्त कर देता है। जो धर्म संसार बनको जलानेके लिए अग्निके समान समर्थ है अर्थात् संसारके कष्टोंसे छुटकारा धर्मभाव ही दिला सकता है, ऐसे धर्मको क्रोध नष्ट कर डालता है जिससे कि भव भवमें इसको कष्ट भोगना पड़ता है। जीवका मित्र मात्र धर्म है। यह बड़ी विपदा है जो किसी जीव पर ऐसा भाव बना है कि यह मेरा हितू है, यह मेरेको सुख देगा। इससे ही तो मेरा महत्त्व है, ऐसा जीवोंके प्रति जो भाव बनता है यह भाव विपदा है, कलंक है, आत्माको कल्याणसे वंचित रखने वाला है और ऐसा भाव करके यह जीव पायगा क्या? कष्ट ही पायगा। घरोंमें होता क्या है? बहुत काल तक आराम पाते हैं, आराम मानते हैं और किसी भी समय किसी इष्टका वियोग हो जाता है तो वहाँ कष्ट उठाना पड़ता है। किसीका भी जीवन ऐसा नहीं हो पाता कि वह जीवनमें कल्पित सुख भी सदा सुख ही सुख पाता रहे और बीचमें कोई कष्ट न उठाना पड़े। सबके जीवनमें कोई न कोई कष्ट आता है। क्यों आता है यह कष्ट? धर्मदृष्टि न होने से।

जीवका सच्चा मित्र धर्म—कभी कभी लोग ऐसा कह देते कि अमुक भाई बड़ा धर्म पालते हैं, सुबह नहा कर आते हैं, पूजा प्रक्षाल करते हैं, बड़ी भक्तिसे पूजा पढते हैं, लेकिन इनका कष्ट तो नहीं मिटा। दरिद्रता तो नहीं मिटी, और और प्रकारके उपद्रव तो नहीं मिटे। तो धर्मसे होता कुछ नहीं है, ऐसी शङ्का करते हैं, मगर यह निर्णय नहीं किया कि उसने धर्म किया कहाँ? धर्म यदि करता तो उसको दुःख हो ही नहीं सकता। अब इस बातको विचारें कोई मनुष्य वास्तवमें धर्मभाव करे तो क्या करेगा? वह अपने आपमें ज्ञाता द्रष्टा मात्र अनुभव करेगा। मैं चेतन परम पदार्थ हूं, जिसका स्वभाव मात्र प्रतिभासका है। इष्ट लगना, अनिष्ट लगना, तरंग होना, विकल्प जगना, यह मेरे स्वरूपमें नहीं है। यह तो कलंक है, विकार है। इस रूप मैं नहीं हूँ, मैं अविकार चैतन्यस्वरूप हूँ। ऐसी जो भावना भरेगा उसके प्रतापसे वह अपने आपमें आनन्द पायगा, तृप्त रहेगा। अब एकदम पूर्वपापके उदयसे ऐसे धर्मात्माके दरिद्रता भी आये पर उसको तो रंच भी दुःख नहीं है। वह तो आनन्दघन आत्माको निरखकर तृप्त हो रहा है, खाने पीनेको क्या आज इतनी तेज महंगाई

है तो लोग सोचते हैं कि रोज-रोज १०) से कममें तो भोजन हो ही नहीं पाता। हिसाब भी लगा लो घी, दूध, फल, सब्जी वगैरहका मगर आज भी कोई चाहे तो १) में भी पेट भर सकता है। उतना ही तृप्त हो सकता है जैसे कि बड़े मिष्ठ रसीले भोजन करने वाला। दरिद्रता आये तो उससे बिगाड़ क्या ? थोड़ेमें पेट भर लिया, साधारण कपड़ोंमें रह लिया, पर यह धर्मात्मा अपने आत्मस्वरूपकी दृष्टि रखकर निरन्तर तृप्त रहता है। उसको दुःख कहाँ हुआ ? कदाचित उसको इष्ट पुत्र मित्र स्त्री जनोंका, किसीका वियोग हो जाय तो चूँकि उसकी धर्मदृष्टि है, अविकार आत्मस्वरूपमें आत्माका अनुभव है तो उसको इस स्थितिमें भी रंच भी दुःख नहीं है। तो जो वास्तविक रीतिसे धर्मपालन कर रहा है उसको दुःख हो ही नहीं सकता यह तो बात कही है उसकी जिस धर्मात्माके पूर्व संचित पापकर्म का उदय आ रहा है किन्तु प्रायः धर्मात्मा जनोंके दारिद्रय हो, ये बातें नहीं हुआ करती। कोई तीव्र ही पापबंध हो पहलेका तो ऐसा हो जाता है पर धर्मात्माको इससे भी कोई हानि नहीं है। तो ऐसा धर्म जो संसारके संकटोंसे छुटा सकता है उस धर्मको नष्ट करके अनेक आकुलता विकार दोषोंको यह क्रोध उत्पन्न करता है।

क्रोधमें दुष्टरिपु सिंह सर्प आदिसे भी अधिक पुरुषकी विघातकारिता—क्रोध आत्मा का इतना तेज बिगाड़ करने वाला दुश्मन है जितना बिगाड़ अन्य कोई नहीं कर सकता। वस्तुतः बिगाड़ तो खुद ही किया करता, पर व्यवहारमें जो कहा जा रहा उस दृष्टिसे भी देखें। तो बड़ासे बड़ा क्रुद्ध दुश्मन राजा भी इस मनुष्यका वह अहित नहीं कर पाता जैसा अहित इसका क्रोध कर बैठता है। कोई दुश्मन बहुत अधिक क्रुद्ध हो जाय और उसका दांव भी लगे तो अधिकसे अधिक वह क्या बिगाड़ कर देगा ? एक भवका मरण भी कर दे, इतना तक बिगाड़ कर सकता है, पर उसकी परभवमें भी कोई गति है क्या कि उसका बिगाड़ कर दे, किन्तु क्रोध जिससे कि धर्मका ध्वंस हुआ है वह तो अनेक भवों तक पीड़ा दे सकता है। लोग डरते हैं सिंह, हाथी, सांप आदिकसे, क्योंकि इनसे खतरा है, प्राणघात हो सकता है, पर ये सिंहादिक जानवर कितना ही क्रुद्ध हो जायें तो वे क्रोधमें अधिकसे अधिक प्राणघात कर देंगे, शरीरका विदारण कर देंगे, मगर एक भवमें ही तो कर सके, भव भवमें दुःखी कौन करने वाला है ? एक आत्माका दुर्भाव। तो समझो कि जिन दुर्भावोंके करते हुए भी मस्त रहते हैं। कौन जानता है कैसा ही अन्याय करे, कैसा ही दूसरों पर अत्याचार करे, कैसा ही वह विषयोंका लोलुपी बने, इन अनेक पापोंमें रहने वाला पुरुष अपने आपका कितना बिगाड़ कर रहा है, यह बात इस मोही जीवके चित्तमें नहीं उतरती। दो काम एक साथ नहीं होते कि मोक्षमार्ग भी मिल जाय और संसारके ये सुख भी मिलते रहें। जिसे मोक्ष चा-

हिए उसे सांसारिक सुखोंसे उपेक्षा करनी ही पड़ेगी। यह त्रिकाल असम्भव है कि वैषयिक सुखोंकी वाञ्छा भी रखे और कुछ ऊपरी ढंगसे धर्मके क्रियाकाण्ड करके चाहें कि मेरेको मोक्ष मिल जाय तो ये दो काम एक साथ नहीं हो सकते। अब यह निर्णय कर लें कि हमको संसार में जन्म मरण करते रहना अच्छा है या इस शरीरसे, कर्मसे, विकारसे, इस संसारसे हटकर अपने आपमें मग्नता पाना अच्छा है। जो बात भली है उसका लक्ष्य तो बना लें। उस पर जितना चलते बने उतना चलें, पर लक्ष्य रहेगा तो उसका कभी न कभी लाभ हो जायगा। गुरूजी सुनाते थे कि एक बार सिमरिया ग्रामके कुछ लोग साँभर ग्राम नमक खरीदने गए। वह गाँव कोई २०० मील पड़ता था। उस समय रेल मोटरके साधन तो थे नहीं सो बैल गाड़ियोंसे गए। खैर वहाँसे नमक खरीदकर चल दिये, कोई एक मील ही चल पाये थे कि वे अब यह कहते जा रहे थे कि साँभर दूर सिमरिया नीरे याने जिस ओरसे मुख मोड़ लिया, जिधरको पीठ कर लिया वह दूर हो गया और जिस ओर मुख कर लिया वह निकट हो गया, जितना चलते जायेंगे उतना निकट ही तो होगा। सो लक्ष्य यही बन जाय तो आत्मकल्याण बिल्कुल निकट है।

य: कारणेन वितनोति रुषं मनुष्य: कोपं प्रयाति शमनं तद्भावतोऽस्य।
यस्तत्र कुप्यति विनापि निमित्तमंगी तो तस्य कोऽपि शमनं विदधातुमीशः ॥२५॥

अकारण ही क्रोध करनेकी प्रकृतिवाले पुरुषके क्रोधके शमनकी अशक्यता— अनेक मनुष्य ऐसे होते हैं जो बिना कारणके भी चित्तमें क्रोध बसाये रहते हैं। सूक्ष्म दृष्टिसे ऐसा होता नहीं है कि कुछ भी कारण न हो और क्रोध बसाये रहे लेकिन स्थूलरूपसे यह बात देखी जाती है कि किसी भी कुटुम्बपर, मित्रपर, अन्य किसी भी प्राणीपर, क्रोधकी बात नहीं आ रही है, कोई प्रतिकूल करने वाला सामने नहीं है तब भी वासना बसी रहती है इस कारण क्रोधका स्वभाव रहता है। सो यह देखा जाता है कि ऐसा क्रोधका स्वभाव रखने वाला पुरुष जिस किसी पर भी क्रोध करने लगता है तो उसने कारण बादमें बनाया। किसीने विरोध किया, निन्दाकी, दुर्वचन बोला तब क्रोध कषाय आयी। किसीके चित्तमें तो क्रोध बसा रहता है सो जिस चाहे पर क्रोध उतार दिया। उसको लक्ष्यमें ले करके कह रहे हैं कि जो पुरुष बिना कारणके ही क्रोध किया करते हैं उनके क्रोधका शमन करने के लिए कोई समर्थ नहीं है। हाँ कारण मिलनेपर क्रोध करता हो कोई तो कारण हट गया तो क्रोध भी दूर हो जाय गा किन्तु जिनकी प्रकृति बिना कारण ही क्रोध करनेकी है उनके क्रोधके शमनको करनेके लिए कोई समर्थ नहीं है। ऐसी आदत बनती है अज्ञानीजनोंकी। सो ऐसे क्रोधका दुःख मिटानेके लिए केवल एक ही उपाय है कि वह तत्त्वज्ञान करे। यथार्थता समझे और अपनी इस

आदतको खतम करे ।

धैर्यं धुनाति विधुनोति मतिं क्षणेनारागं करोति शिथिलीकुरुते शरीरं ।
धर्मं हिनस्ति वचनं विदधात्यवाच्यं कोपो ग्रहो रतिपतिर्मदिरामदश्च ।।२६।।

कोप ग्रहकी धैर्यध्वंसकता—जैसे कि कामवासनाका बेग आया तो वह अपने धैर्यको नष्ट कर देता है भ्रान्तिको उत्पन्न करता है । अन्य पुरुषोंसे द्वेष करने लगता है जिन्हें अपने विषयोंमें बाधक समझता है । शरीरके अंजर पंजर ढीले कर देता है । धर्म वहाँ रहता नहीं । ऐसे ही इस गृहपिशाच कामके समान यह क्रोध भी इस मनुष्यके धैर्यको चलित कर देता है । क्रोध होने पर विवेक नहीं रहता, दूसरोंके विनाशका इसके भाव बन जाता है । और इसको इतनी आतुरता उत्सुकता हो जाती है कि इसका विनाश जल्दी ही किया जाय और क्रोध होने पर अपने योग्य कार्यके लिए भी धैर्य नहीं रहता । धैर्यका वास्तविक अर्थ क्या है ? यह शब्द बना है धीरसे । धीरस्यभाव: धैर्य, धीर पुरुषके परिणामको धैर्य कहते हैं और धीर कहते किसे हैं ? इसमें दो शब्द हैं—(१) धी और (२) र । धी तो संज्ञा है और र धातु है, जिस का अर्थ होता है धीं रतिं ददादि इति धीर:, जो परिणाम, जो भाव बुद्धि देवे उसे धीर कहते हैं । धैर्यभाव ही बुद्धिको विकसित करता है इस कारण यह बुद्धि प्रदायक भाव है धैर्य । जब क्रोध जगता है तो इस मनुष्यका धैर्य समाप्त हो जाता है ।

कोपग्रहकी मतिभ्रान्तिकारिता—क्रोध बुद्धिको भ्रान्त कर देता है । कभी कभी अदालतमें वकील लोग ऐसा किया करते हैं कि दूसरे वकीलके खिलाफ कुछ ऐसे शब्दोंमें बोलते कि जिससे उस वकीलको क्रोध आ जाय, बस क्रोध आ जाना चाहिए फिर वह अपना पार्ट ठीक अदा न कर सकेगा, क्योंकि क्रोधमें बुद्धि भ्रांत हो जाती है । जहाँ बुद्धि विवेक सही नहीं है वहाँ वह सही वचन नहीं बोल सकता । किसी पुरुषका अपमान करना हो तो उसका एक ही उपाय है कि धीरेसे कोई ऐसी बात बना दो कि जिससे उसके क्रोध जग जाय । क्रोध जग जायगा तो वह अटपट तो बोलेगा । बड़े नेता लोग, बड़े पुरुषोंके अपमानका एक यह उपाय है, क्योंकि क्रोध जगनेपर फिर वह अपनेको नहीं संभाल सकता और अटपट वचन बोलेगा । इससे उसका अपमान हो जायगा । दूसरेसे बदला लेनेका एक बहुत सुगम तरीका है कि इस तरहका वचन बोले कि जिससे उसके चित्तमें क्रोध आ जाय और वह अपनी सारी बुद्धिको खतम कर दे । क्रोध एक ऐसी ज्वाला है कि जिससे उसके सभी गुण भस्म हो जाते हैं । जीवनमें क्रोध न आये यह बहुत बड़ी साधना है और इस साधनाके लिए अनेक गुणोंकी आराधना उपासना बनानी होगी तब ये क्रोधादिक विकार ये दुर्वचन छूट सकते हैं । जिसमें धैर्य हो, जिसको ज्ञान हो जिसे मात्र अपने हितका प्रयोजन हो, ऐसी सीख जिसके

चित्तमें आयगी वही पुरुष क्रोधपर विजय प्राप्त कर सकता है। तो यह क्रोध बुद्धिको भ्रान्त कर देता है।

क्रोधग्रहकी द्वेषकारिता व अङ्गशैथिल्यकारिता—यह क्रोध राग भावको याने दूसरेके प्रीति भावको समाप्त कर देता है, दूसरे लोग क्रोधीके द्वेषी बन जाते हैं। क्रोधी तो द्वेषी हो ही जाता है। किसीका कितना भी उपकार किया गया हो, अनेकों बार उपकार किया गया हो, किन्तु एक बार उसके साथ क्रोध वाला व्यवहार बन जाय तो वह सब उपकारोंको भूल जाता है और इसही बुनियाद पर आज अनेक घरोंमें झगड़े चलते हैं। बच्चेका कितना ही उपकार किया, जब छोटा था तब कितनी ही खुशामद की, जब कुछ बड़ा हुआ तो उसे पढ़ाया लिखाया, यह पिता खुद अपने आप तकलीफ भोगकर गरीबीमें समय बिताता रहा, पर उसके पढ़ाने लिखानेका इन्तजाम करता रहा। जब और बड़ा हुआ तो विवाह कर दिया बड़ी उमंगसे सब कुछ उस बच्चेका उपकार किया, धन भी दिया, कुछ दुकान धंधा भी कराया, पर एक ही बार यदि उसको प्रतिकूल जंच जाय, पिताके किसी बात पर क्रोध आ जाय और उसे कोई कड़ा वचन कह दे तो वह लड़का उन सब उपकारोंको भूल जाता है। क्रोध भी एक विष है यह शरीरके अंजर पंजरको ढीला कर देता है। जिसके क्रोध जगता है वह भली भाँति खड़ा भी नहीं हो पाता। उसके पैर काँपने लगते। शरीर शिथिल हो जाता है। क्रोध ऐसी एक ज्वाला है कि यह तो चेहरे पर भी झलकने लगता है क्रोध उसके चेहरेको भी कुरूप बना देता है। कोई पुरुष या महिला कितना ही सुन्दर हो शरीरसे। पर क्रोध करता हो तो उसकी आकृति कितनी भयंकर हो जाती है। वहाँ फिर सुन्दरता रंच भी नहीं रहती। बल्कि वह अदर्शनीय हो जाता है। तो यह क्रोधका वेग जिस पर आता है उसके मन, वचन, काय तीनों ही बिगड़ जाते हैं।

क्रोध पिशाचकी धर्मध्वंसकता—क्रोध कषायका कितना खोटा प्रभाव है, यह इस प्रकरणमें बताया जा रहा है। क्रोधभाव 'धर्मका नाश कर देता है। जैसे काम, मान आदिक कषायोंके वेगमें कोई आत्माकी सुध नहीं रख पाता ऐसे ही क्रोधके वेगमें तो आत्माकी सुध रखनेकी गुञ्जाइश भी नहीं है। कदाचित लोभ आदिकके कारण कोई विपत्ति आयी हो ऐसी विपत्तिमें वह आत्माकी सुध कर भी सकता है। आत्महितमें जितना सहयोग दुःखका है उतना सुखका नहीं है। सुख प्राप्त होनेके कालमें आत्माकी सुध करना बहुत कठिन है, कोई दुःख आये, विपत्ति हो, ऐसे समयमें तो कुछ आसान है कि वह आत्माके स्वरूपकी सुध ले सकता है पर सुखोंके समागममें सुध लेना कठिन है और उससे भी कठिन है क्रोध कषायके वेगमें आत्माकी सुध लेना। क्रोध जगता जाय और आत्माकी सुध लेता जाय यह

बात नहीं हो पाती और जहाँ आत्माकी सुध नहीं है वहाँ धर्मका नाश है। धर्म कहीं बाहर नहीं पड़ा है जहाँसे उठा लिया जाय, खरीद लिया जाय या केवल एक धर्मके बलपर धन बना लिया जाय। धर्म तो आत्माका स्वभाव है, स्वरूप है और धैर्यके साथ, गुप्त पुरुषार्थके साथ इस आत्मस्वभावकी दृष्टिकी जाती है। जहाँ अपने आपमें यह अनुभव बना कि मैं आत्मा केवल चैतन्यस्वरूप हूं। इसका इससे बाहर रंच मात्र भी कुछ नहीं है। यह अपने आपमें पूरा है, आनन्दमय है, ज्ञानस्वरूप है, इसको अब क्या कमी है? जब अपने आपके स्वरूपका अनुभव परिचय चलता है तो वहाँ धर्मका पालन कहलाता है, इस ही धर्मपालनके लिए मन, वचन, कायकी, प्रवृत्ति सभीकी जाती है। ऐसे धर्मको यह क्रोध भाव नष्ट कर देता है।

कोपग्रहकी अवाच्चवचनविधायकता—यह क्रोध न कहने योग्य बातको भी कहलवा देता है। गाली गलौज देना, मर्म भेदी वचन कहना, यह सब क्रोधके कारण ही तो होता है, ऐसी अनेक घटनायें होती हैं कि भाई भाई परस्पर जब जुदे होते हैं तो बड़ेसे बड़े वैभव बँटते जाते हैं, शान्तिसे सब बंटवारा बनता जाता है। अन्तमें कोई एक छोटी सी बात पर जैसे मान लो एक फुट किसी जगह पर कुछ बात अड़ जाय और हठ कर जाय कोई और क्रोध युक्त वचन बोले, अपमान करे तो एक उस ही विषयको लेकर इतना बड़ा विवाद हो जाता, कचहरियां हो जातीं कि अन्तमें एक भाईके पास तो रह जाता है निर्णय फैसलाका कागज और दोनो भाई धनसे हाथ धो बैठते हैं। तो यह क्रोध इतना भयंकर है कि जिसके कारण भाई भाईमें विवाद हो, कुटुम्ब शान्तिसे न रह सके। ये सारी विडम्बायें बनती हैं, जहाँ अशान्ति है वहाँ आत्मसाधना नहीं है। जैसे किसी को किसी बातकी धुन हो जाय, अनेक घटनायें इतिहासमें आयी भी हैं कि कोई राजपुत्र किसी कन्यामें मुग्ध हो गया, उसके पीछे उसका खाना पीना तक छूट गया, बस एक उस कन्याके ही स्वप्न देखता रहा, सबके देखनेमें वह एक पागल सा बन गया, उसके उसको उसके लिए बड़ी तेज धुन बन गई। ऐसी तेज धुन वाला अन्य किसी बातकी पर वाह नहीं करता। तो वह तो उसकी एक खोंटे धुनकी बात है, पर धुनमें बात जो होती है वह सबके हुआ करती है। जिसकों आत्मतत्त्वकी धुन लग गई उस पुरुषका व्यवहार बाहरमें रूखा रहे, मौन रहे, उपेक्षा रहे। कैसी भी स्थिति हो वह अपनी धुनको नहीं छोड़ पाता। ऐसे आत्माकी धुनको क्रोधी पुरुष कैसे रख सकता? क्रोधीका चित्त तो बहुत जगह फैल जाता है। किसका क्या निग्रह अनुग्रह करूं, कल्पनायें बढ़ा लेता है और वह क्रोधी ऐसे वचन बोलनेपर उतारू हो जाता कि जो वचन बोले न जाने चाहियें। सो यह क्रोध महान् उपग्रह है, इस क्रोधसे बचनेका उपाय विवेकीजन करते हैं

और क्षमाशील, बनकर अपने आत्माको आराधनामें रहा करते हैं।

रागं दृशोर्वपुषि कंपमनेकरूपं चित्ते विवेकरहितानि च चिंतितानि।
पुंसाममार्गगमनं समदुःखजातं कोपः करोति सहसा मदिरामदश्च ॥२७॥

क्रोधसे नेत्रोंमें लालिमा तथा शरीरमें कम्पन—यह क्रोध नेत्रोंमें लाली ला देता है। कैसा निमित्तनैमित्तिकयोग है कि इस जीवमें क्रोध प्रकृतिके अनुभागका प्रतिबिम्ब आया और यह अज्ञानी जीव इस अजीव क्रोधके प्रतिबिम्बको अपनाने लगा और इस क्रोधबिम्बको अपनानेके कारण यह क्रोधभावसे परिणत हो गया। अब क्रोध आ जाने पर शरीरपर भी प्रभाव आ गया, नेत्र लाल हो गए। तो अब समझिये कि भीतर कितनी उसके वेदना है, क्रोधकी कितनी तड़फन और आकुलता है कि जिसका निमित्त पाकर यह सफेद आंख भी लाल हो गई। इससे उस क्रोधकी बेचैनी अनुभव कीजिए। यह क्रोध आंखोंमें लालिमा उत्पन्न कर देता है। शरीरमें अनेक प्रकारकी कंपकंपी पैदा कर देता हैं। जब किसी बापको अपने बच्चेपर तेज क्रोध आता और उसको डाटता है तो उस बच्चेके वचन उस समय साफ नहीं निकल पाते। अनेक बार तो अनुभवमें भी नहीं आता कि यह बोल रहा है, क्योंकि वे ओंठ, जीभ, आदि सब ऐसे कँप गए कि वहाँ शुद्ध शब्द भी नहीं निकल पाते। हाथ पैर आदिक सभी कँप जाते हैं। तो इस कंपकंपीको देखकर यह अंदाज करें कि यह क्रोध कितना अनर्थ करने वाला भाव है और इसने भीतरमें अपनी ज्वालासे कैसा गुणोंको भस्म कर दिया होगा।

क्रोधसे चित्तमें विवेक रहित चिन्तन—क्रोध भाव चित्तको विवेक रहित कर देता है, विवेक पूर्ण विचारोंसे गिरा देता है। क्रोधमें ऐसे ही विचार बन जाते कि जिनका फल बड़ा खोंटा होता है और खुद ही उससे हानि प्राप्त कर लेता है। कभी कभी घरके लोग क्रोधमें आकर अपनी ही चीज फेंक देते हैं। डबलेमें घी रखा हो, उसे लिए हो और क्रोधका वातावरण हो तो उस क्रोधमें कहो उस घी के डबलेको फेंक दे और सारा घी बगर जाय। अपने आप अपनी हानि कर लिया। कहो अपने ही कपड़े क्रोधमें आकर फाड़ ले। तो क्रोधमें यह जीव विवेकरहित हो जाता है। और जिससे अपनी हानि हो ऐसा काम लोग क्रोधमें आकर कर डालते हैं।

क्रोधसे जीवका कुमार्गमें गमन—यह क्रोध जीवको कुमार्गमें गमन कराता है जहाँ अनेक प्रकारके दुःख समूह भरे हुए हैं। जैसे मदिरा पीने वालेमें मद अनेक बुराइयोंको पैदा करता है। उन बुराइयोंमें, इस क्रोधके बेगमें जीवको बड़ें दुःख सहने पड़ते हैं। अब जरा बहुत सूक्ष्म दृष्टिसे विचारें तो क्रोध वास्तविक अपने आपका अहित करने वाला वह भीतरी

भाव है जो अपने परमात्मस्वरूपका घात करता है। अनन्तानुबंधी क्रोध कहते किसे हैं? बाहर में गुस्साका रूप आये, लोगोंको दिखे, बेग होवे, इसे अनन्तानुबंधी क्रोध नहीं कहते। भले ही यह क्रोध चारों प्रकारके क्रोधोंमें प्रधान और भयंकर है मगर जो ऊपरसे दिखे क्रोध वही भयंकर, बड़ा क्रोध है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, श्रावकका क्रोध दिखनेमें इतना भयंकर लगता है कि कितना महान क्रोध है यह, पर वह अनन्तानुबंधी क्रोधसे भयंकर नहीं है। एक कोई मुनि जिसको सम्यक्त्व नहीं हुआ किन्तु इस देहमें ही, इस मुनिभेषमें ही आप अनुभव कर रहे कि मैं यह मुनि हूं और मुझको ऐसा व्यवहार रखना चाहिए कि जिससे दूसरेको कष्ट न हो। कोई शत्रु इस मुनिपर उपद्रव भी करे, घानीमें भी पेले तो भी वह उसपर द्वेष नहीं करता, उसका बुरा नहीं सोचता, इस कारणसे कि मैं मुनि हूं। यदि मैं इस पर द्वेष करूँगा तो मुझे मोक्ष न मिलेगा। यों केवल देहके नाते से बात कर रहा है, उस मुनिके अनन्तानुबंधी क्रोध है। जो मिथ्यात्वका सम्बंध बनाये उस क्रोधको अनन्तानुबंधी क्रोध कहते हैं।

अनन्तानुबंधी कषायके अभावमें भी अप्रत्याख्यानावरण कषायके वेगमें अद्भुत प्रवृत्ति की संभवता—अनेक लोगोंको शंका होती कि श्री रामने सीताजी के वियोगमें ऐसा पागलपन जैसा काम किया कि जंगलोंमें पशुपक्षियोंसे भी पूछते फिरे कि क्या तुमने मेरी सीता देखी? तो शंका यह करते कि जब ऐसी पागलपनकी बात वहाँ दिखती तो वह सम्यग्दृष्टि कैसे कहलाये? अथवा एक शंका यह करते कि चक्रवर्ती जब अनेक राजा महाराजावोंका विध्वंस कर देता है तो फिर वह सम्यग्दृष्टि कैसे? पर इस बातको समझनेके लिए एक दृष्टान्त लो। एक राजा यदि अपनी प्रजाके किसी गरीबको मारना चाहे तो जब चाहे जितने चाँटे जड़ दे, उसका विशेष विकल्प या श्रम उसे नहीं करना पड़ता पर वह गरीब यदि उस राजाको मारना चाहे तो वह सुगमताओंसे उसे नहीं मार सकता उसे महीनों पहलेसे बड़े विकल्प करने होंगे बड़ी तैयारी करनी होगी तब कहीं वह एक चाटा राजाके लगा सकेगा। अब बताओ भयंकर क्रोध यहाँ राजाको रहा या उस गरीबको? उस गरीबको भयंकर क्रोध रहा, क्योंकि महीनों तक उसने क्रोध किया, बड़ा विकल्प मचाया। राजाको उसके लिए कोई विशेष क्रोध नहीं करना पड़ा। तो क्रोध अधिक रहा उस हीन पुरुषका। देखनेमें तो यों लग रहा कि उस हीन पुरुषने कोई खास क्रोध नहीं किया, पर राजासे भी कहीं अधिक क्रोध किया। तो ऐसे ही समझलो कि दिखने वाला क्रोध अनन्तानुबंधी क्रोधसे भी बहुत भयंकर होता, ऐसा नियम नहीं है। श्रीराम या चक्र महापुरुष हैं इनकी थोड़ी कषायें भी प्रवृत्ति अधिक बन जाती, अधिक प्रवृत्तिसे कषायकी अधिकता नहीं आंकी जा सकती। वास्तविक क्रोध यह जीव अपने

आप पर करता है जिसके कारण यह परमात्मस्वरूपकी सुध नहीं ले सकता। तो सभी प्रकारके क्रोध हम दूर करें और ऐसा अपनेको क्षमाशील बनायें कि अपने आपके स्वरूपकी आराधनामें समय लगा सकें।

मैत्रीयशोव्रततपोनियमानुकंपासौभाग्यभाग्यपठनेंद्रियनिर्जयाद्याः।
नश्यंति कोपपुरुवैरिहताः समस्तास्तीव्राग्नितप्तरसवत्क्षणतो नरस्य ॥२८॥

क्रोधवैरी द्वारा मैत्री व यशका विध्वंस—क्रोधरूपी बैरीसे अच्छे गुण भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं मित्रता परस्परमें मित्रता हो, जीवोंके साथ प्रीतिका व्यवहार हो, कुटुम्बमें, संघमें, आपसमें बड़े अनुरागसे रहना हो और उनमें यदि कोई तेज क्रोध करे तो वह मित्रता खतम हो जाती है। मैत्री एक गुण है और वह कुछ भूमिकाओं तक करने योग्य है। जैसे घर कुटुम्बके लोग मैत्री व्यवहारके बिना गृहस्थीमें नहीं रह सकते। घरमें रहने वाले लोग परस्पर लड़ें, झगड़ें तो उन्हें न नींद आयगी, न खाना पीना भायगा, उन्हें निरन्तर विकल्प रहेंगे, और मैत्री हो तो सुख शान्ति रहेगी, इसी तरहसे संगमें भी लोग धर्मानुराग और मित्रतासे रहें तो शान्ति बर्तती है और यदि क्रोध करने लगे कोई जिससे मित्रता खतम हो जाय तो वहाँका रहना दूभर हो जाता है। तो क्रोध एक ऐसी ज्वाला है कि बड़े समय से प्राप्तकी जा रही हुई मैत्री भी क्षण भरमें नष्ट हो जाती है। यश जैसे कोई बड़ा अनुष्ठान करके, परोपकार करके, त्याग करके, दान देकर किसी भी तरह सत्कार्योंको करके बहुत काल में यशकी प्राप्ति होती है। किसीका यश तुरन्त ही नहीं हो जाता। बहुत काल तक साधना होती है। बहुत काल तक उपकार किया जाय तो उसका यश प्रकट होता है। तो जो यश बहुत समयसे अच्छे कर्तव्योंके द्वारा प्राप्त किया है वह यश यदि वह पुरुष किसी समय सभा गोष्ठीमें क्रोध कर बैठे और वह क्रोध भी दूसरोंसे असह्य हो जाय तो उसके क्रोध करनेके कारण अब तक को कमाया हुआ यश सब नष्ट हो जाता है। क्रोध एक ऐसी ज्वाला है।

क्रोधबैरी द्वारा व्रतका विध्वंस—क्रोधको वशमें वही पुरुष कर सकता है जो क्रोध रहित ज्ञानमात्र अपना स्वभावकी धुनमें रहता है। उसका ऐसा संस्कार बनता है कि घटनायें घटने पर भी उसके क्रोध उपस्थित नहीं होता। कल्याणार्थी पुरुष आत्मकल्याणके लिए व्रतोंका पालन करते हैं। व्रतोंके पालनसे ऐसा सदाचार बनता है कि जिसकी सुगंधमें अनेक धर्मार्थी भी प्रसन्न रहा करते हैं। हिंसा पापका त्याग कर दिया। किसीका दिल दुःखें ऐसा कोई काम नहीं किया जाता। प्राणघातकी बात तो अत्यन्त ही दूर है। सदा सत्य वचन बोलते हैं। कभी झूठ कपटका मायाचारका दुःख देनेके आशयका कोई वचन नहीं बोलते। दूसरेकी चीजको चुरानेका कभी भाव नहीं होता। ऐसी वृत्तिमें रहने वाला पुरुष कदाचित

कोई किसी पर क्रोध कर जाय तो उसका यश भी गया, मित्रता भी गई, लोगोंका आकर्षण भी गया, पर स्वयंमें पापका बंध कर लिया, व्रतका विनाश भी कर लिया। शील व्रत पालन कर अनेक भव्य जीव अपने आपको बहुत शान्तिके वातावरणमें रखते हैं। खूब शीलपालन किया, स्वप्नमें भी काम वासना नहीं बनती, ऐसा शीलका दृढ अभ्यासी पुरुष सदा क्रोध करनेका स्वभाव रखे और अपनी गोष्ठीमें क्रोध करता रहे तो शीलके गुणका तो कोई ध्यान न देगा, पर यह बड़ा क्रोधी है, यह किस कामका है, इस प्रकार उसका क्रोध प्रकट होगा और शीलको नष्ट कर देगा। परिग्रह त्याग किया, सब कुछ त्याग दिया, केवल एक शरीर मात्र परिग्रह रहा, ऐसी बड़ी साधना करते हुए भी जिसके क्रोध करनेका स्वभाव है, क्रोध करता रहता है तो उस क्रोधकी स्थितिमें क्या वह निर्ग्रन्थताका लाभ ले रहा है? परिग्रह २४ प्रकारके कहे गए हैं—बाह्य परिग्रह त्यागा तो क्या त्यागा, अन्तर परिग्रह तो त्यागे ही नहीं। वहाँ भी यह क्रोध कषाय है। ऐसी क्रोध कषाय कर बैठे तो उसका निर्ग्रन्थपना भी खतम क्योंकि अन्तरङ्ग बहिरङ्ग दोनो ग्रन्थोंका (परिग्रहोंका) त्याग होना चाहिये और फिर लोगोंमें अपवाद, जैनधर्म हँसी यशका बिगड़ना आदिक अनेक उपद्रव होते हैं।

क्रोधवैरी द्वारा तप अनुकम्पा और नियमका विध्वंस—क्रोध एक ऐसी विकट ज्वाला है कि पाये हुए गुणोंपर पानी फेर देता है, उन्हें जला देता है। बहुत काल तक तपश्चरण भी किया, बड़े-बड़े कठिन तपश्चरण भी किया, जिस तपश्चरणके प्रभावसे बड़ी बड़ी ऋद्धियाँ भी पैदा हो जायें, जो किसीसे करते न बनें, ऐसे कठिन कठिन तपश्चरण हुए, पर ऐसा तपस्वी पुरुष कभी क्रोध करे तो उसका तपश्चरण खतम हो जाता है। द्वीपायन मुनिका चिर संचित तपश्चरण क्षण भरमें क्रोधमें नष्ट हो गया था ऐसे ही कितने ही क्रोधी पुरुषोंने अपनी दुस्साध्य कठिन तपस्यावोंका भी विनाश किया। क्रोध भयंकर ज्वाला है। अनेक प्रकारके नियम भी भव्य जीव पालन किया करते हैं। असिधारा व्रत, शीलका पालन, एकान्तनिवास, उपसर्गोंका सहना, कभी कभी एक बार भोजन अनशन ऊनोदर आदिक १२ प्रकारके तप कहे गए हैं। उनमें अनेक तरहके नियम शीतकालमें रात्रि भर एक ही षड्गासनसे नदीके तीर खड़े ग्रीष्मकालमें पर्वतपर तपश्चरण किया, वर्षाऋतुमें वृक्षके नीचे बरषते पानीमें बड़ी मोटी मोटी बूंदोंको सहा, अनेक तरहके नियम किया, पर ऐसा नियमवान पुरुष भी कभी क्रोध आ जाय तो अन्तरमें ही ऐसी ज्वाला बढ़ी उस क्रोधको कि बाहरमें यश आदिक बिगड़े सो तो ठीक है और उनके बिगड़नेका नुकसान भी कुछ नही किन्तु जिन नियमोंका पालन किया वे नियम भी सब जल जाते हैं। कोई पुरुष बड़ा दयालु है, दुःखी दीन पुरुषोंपर अनुकम्पा किया करता है, दयामें होता क्या है? अनुकम्पा। अनु मायने अनुसार, कम्पा मायने कँप जाना।

जो दूसरा जीव दु:खी है उसके दु:खको देखकर यह देखने वालेका हृदय भी कँप गया यह कहलाता है दया। जिसने दया करके अनेकों पुरुषोंका पालन पोषण किया, अनेकोंका उपकार किया, रोजिगार धंधोंमें लगाया, व्रत, नियम, शील आदिकमें प्रवर्ताया, लौकिक दया, सर्व प्रकारकी दयायें कीं, पर ऐसा दयालु पुरुष भी यदि कभी क्रोध करे तो वह दया सब खत्म हो जाता है। क्रोधके समय दया कैसे रह सकती ? दया होना और क्रोध होना, ये दो बातें कहाँ से बनेंगी ? जिस पर क्रोध जगा है उस पर दयाका भाव नहीं रहता, जिस पर दयाका भाव जगा है उसके लिए सब कुछ करने को तैयार रहता है, वह क्रोध कैसे करेगा ? खूब दया की, अनेकोंका उद्धार किया, पर ऐसे दयालु पुरुषको कभी क्रोधका वेग आ जाय तो उसकी दया भी खतम, और लोकमें उसकी कृतज्ञता भी खतम हो जाती है।

क्रोध वैरी द्वारा सौभाग्यका विध्वंस—पूर्वकृत पुण्यके उदयमें सौभाग्य जगा, सुख साधन मिले, धर्मका वातावरण मिला, धर्मात्मावोंकी सेवामें भी समय व्यतीत किया गया, सम्पदाकी रात दिन वृद्धि होती रहती है। आज्ञाकारी स्त्री पुत्रादिक प्राप्त हुए, सर्व तरहका सौभाग्य मिला, ऐसे सौभाग्यमें रहता हुआ पुरुष कभी क्रोध करे तो उस क्रोधके वेगसे वे सारे सौभाग्य नष्ट हो जाते हैं। क्रोधका परिणाम पापरसको बढ़ाता है, पुण्यरसको मिटाता है। तो जिसके पाप बढ़ रहे, पुण्य दूर हो रहे तो उसकी स्थिति दुर्भाग्यकी आ ही जायगी। तो जो पुरुष क्रोध करता है वह अपने सौभाग्यको समाप्त कर देता है। क्रोधसे पुरुष बेचैन हो जाता है। भीतर आत्मा खौलने लगता है। जिसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि शरीर कँपने लगता है और वह चाहता है क्रोधी कि मेरे पैर डगमगायें नहीं। पक्के दृढ़ बने रहें, पर उसके वशकी बात नहीं रहती। क्रोध एक ऐसा भयंकर वेग है कि सारे शरीरको हिला देता है, तो पहले आत्मा ही खौला डाला तब तो शरीर हिला डाला। तो अब समझिये कि यह क्रोध कितनी विकट ज्वाला है कि जिस पुरुषके क्रोध आये उस पुरुषके सौभाग्य और भाग्य नहीं रहता।

क्रोध वैरी द्वारा पठनका व पठितका घात—बहुत काल तक विद्याध्ययन किया किसी ने। अच्छे-अच्छे गुरुजनोंसे विद्याध्ययन किया वस्तुके तथ्योंको परखनेकी विद्या भी प्राप्तकी ऐसी ऐसी लौकिक और अलौकिक विद्यायें जिसको देखकर लोग आश्चर्यसे निरखते हैं कि इनको कहाँसे इनका ज्ञान जगा ? कैसे इतनी विद्या बनी, इनको विद्याकी तो थाह ही नहीं है, ऐसी ऊंची विद्याका कोई अर्जन भी करले, ऐसा उच्च पठन करले, किन्तु उस पुरुष को कभी क्रोधका वेग आ जाय, दूसरोंको गाली गलौज दे, दूसरोंको रूठ जाये, दुर्वचन कहे, ऐसा क्रोध उमड़ गया तो उसका जिन्दगी भरका पढ़ना वह सब नष्ट हो गया। भोजन किस

लिए बनाया जाता ? भोजन बना चुके तो आरामसे उसे खाये । अब भोजन तो बनाये जा रहे हैं और खानेका काम न करे, सिर्फ बनाता भर जाय तो बतावो वह भोजन किस लिए बनाया गया ? निरर्थक रहा । न खाना न खिलाना, सिर्फ बनाने बनानेका ही शौक बना लिया तो वह भोजन किस कामका ? तो ऐसे ही कोई विद्यार्जन करे । पठन करे तो यह सब किस लिए कि कषायें मंद हो जावें और अपने आत्माकी दृष्टि बने । इसके लिए है यह सब पठन । पर पढ़े तो कोई खूब, किन्तु आ गया उसे विकट क्रोध तो उस क्रोधकी वृत्तिमें वह सारे जीवनका पढ़ना वह सब बेकार हो जाता है, ध्वस्त हो जाता है, याद भी नहीं रहता। अवधिज्ञानके विषयमें बताया गया है कि ६ प्रकारके अवधिज्ञान होते हैं—वर्द्धमान, हीयमान आदिक अब उनमें दो प्रकार भी होते हैं सबमें अनुगामी और अननुगामी । तो अवधिज्ञान इस क्षेत्रमें उत्पन्न हुआ, इस नगरमें उत्पन्न हुआ और वह दूसरे नगरमें पहुंचा, कहो अवधि-ज्ञान न रहे, इतने में ही न रहे अवधिज्ञान । सुबह था दोपहर अवधिज्ञान नदारद । दूसरे क्षेत्रमें पहुंच गया तो न रहा अवधिज्ञान, किसी किसीके रहता भी है । मरने पर अगले जन्म में साथ गया अवधिज्ञान, किसीके नहीं गया, खतम हो गया । तो जो ज्ञान खतम हो जाता है दूसरी जगह पहुंचने पर, तो होता क्या है ? विशुद्धिमें अन्तर आया व संक्लेश भाव होने लगा । पाया हुआ ज्ञान खतम हो गया । तो ऐसे ही जो पढ़ा, जो ज्ञान अर्जित किया, अर्जन करने वाले पुरुषको क्रोध आने लगा बेगसे तो वह पढ़ा भी भूल जाता है । पढ़ना निरर्थक तो हो ही गया मगर वह विद्या भी विस्मृत हो जाती है ।

क्रोध बैरी द्वारा इन्द्रियविजय आदि गुणोंका ध्वंस—इन्द्रियविजय स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन ५ इन्द्रियके विषयोंपर विजय प्राप्त करना, खूब अभ्यास किया, अपना ज्ञानबल भी बढ़ाया और उस ज्ञान द्वारा कषायोंपर विजय प्राप्तकी मनको वश किया मन पर विजय पायी, ऐसा इन्द्रियविजयका महान इन्द्रियसंयम पालन करने वाला पुरुष भी यदि कभी क्रोध कर बैठे तो उसका इन्द्रियविजय व्यर्थ और नष्ट भी हो जाता है । इन्द्रिय-विजय साधारण बात नहीं है । बड़े बड़े पुरुषोंसे ही इन्द्रियविजय बनता है । स्पर्शनइन्द्रियका विषय काम वासनाको मूलसे उखाड़ना, रसास्वादनकी भावना खतम करना, सुगंधकी चाह करना, दुर्गन्धसे घृणा करना यह सब लोगोंसे होता ही रहता है, इनपर विजय पाना यह बहुत बड़े ज्ञान और विवेक द्वारा हो सकता है । चक्षुइन्द्रियसे रूप देखा जाता । दूर खड़े होकर किसीका रूप ही तो देखा जाता । न वहाँ कुछ पकड़ा गया न खाया गया, न कुछ किया गया । रूप किस काम आ सकता ? केवल दूरसे देखा गया, बस देखने भरका काम किया है मगर मोही पुरुष दूरसे देखकर भीतरमें अपना सब कुछ खो डालते हैं ऐसे चक्षु

इन्द्रियके विषयपर विजय करना यह बड़े ज्ञान और सदाचार द्वारा सम्भव है। इन्द्रियसे शब्द सुनते हैं कोई बोलने चालनेको न मिले तो घबड़ा जाते हैं। जहाँ अच्छे शब्द सुननेको मिलें वहाँ ही जी रुचता रहता है तो ऐसे शब्द विषयको दूर करना, इन विषयोंपर विजय करना कठिन काम है। जिसने विजय पा लिया और किसी समय क्रोधका वेग आया तो लो मन तो तुरन्त ही खराब हो गया। जहाँ मन खराब है वहाँ सब खराब है। इन्द्रियविजय आदिक समस्त गुण क्रोध ज्वालाके द्वारा भस्म हो जाते हैं और उनमें उनके भस्म होनेमें देर नहीं लगती, शीघ्र ही भस्म हो जाते हैं। जैसे कोई पारा अग्निके समीप रख दिया जाय, जहाँ बड़ी प्रचण्ड अग्नि चल रही है उसके निकट, उसके ऊपर किसी बर्तनमें कहीं भी रख दिया जाय तो अग्निका संताप न सह सकनेसे वह पारा क्षण भरमें ही ध्वस्त हो जाता, खतम हो जाता उड़ जाता, ऐसे ही क्रोध कषायकी अग्निसे ये सब मैत्री आदिक गुण उस क्रोधके शीघ्र ही ध्वस्त हो जाते हैं। इससे यह शिक्षा लेना कि वह तत्त्वज्ञान बनायें जिसके बलपर दूसरेकी प्रतिकूल परिणति देखकर भी ज्ञान सही जागृत रहे और क्रोधसे गुण भस्म न हो जायें।

मासोपवासनिरतोऽस्तु तनोतु सत्यं ध्यानं करोतु विदधातुबहिर्निवासं।
ब्रह्मव्रतं धरतु भैक्ष्यरतोऽस्तु नित्यं रोषं करोति यदि सर्वतनर्थकं तत् ॥२६॥

क्रोधके कारण मासोपवास, सत्य व ध्यानकी अनर्थकता—यदि कोई मनुष्य महीनों तक भी उपवास कर रहा है, सिर्फ जल लेना या कोई एक आध पदार्थ भक्षण करना, और उपवास करता हुआ भी अपनेमें धैर्य रखना यह बहुत कठिन तप है। किया किसीने महीनों उपवास, पर ऐसा उपवासी पुरुष भी यदि क्रोध कर डाले तो उस क्रोधमें उपवासका गुण खतम हो जाता है। कोई पुरुष सदा ही बोलता है, कभी असत्य नहीं बोलता, कभी किसीके साथ कपटका व्यवहार नहीं किया, बिल्कुल सरल पुरुष है। ऐसा सदाचारसे रहने वाला पुरुष समीचीन हितकारी वचन बोलनेकी प्रकृति वाला पुरुष कभी क्रोध कर जाय, क्रोधके बेगसे वह आत्मा भुन जाय तो उसका सत्य बोलना कोई शुभ फल देने वाला नहीं हो सकता। तीनों संध्यावोंमें ध्यान करने वाले भी बहुत हैं, प्रातः, मध्यान्ह, सायं आत्माका ध्यान, भावनाओंका चिन्तन, स्वपर पदार्थका बोध सर्व कुछ ध्यान किया, सामायिक किया, पर ऐसे पुरुषको भी क्रोध आ जाय तो यह सब निरर्थक है। जहाँ क्षमा नहीं है वहाँ यह सदाचार भी व्यर्थ हो जाता है।

क्रोधके कारण बहिर्निवास, ब्रह्मव्रत व भैक्ष्यरतताकी अनर्थकता—कोई पुरुष घर बार छोड़कर जंगलमें रहने लगा। परिग्रह भी छोड़कर जंगलमें बसने लगा, वहीं सत्संग हो गया, अनेक लोग रहने लगे तो अब देखिये—घरका छोड़ना कितना कठिन तप है। लोग

घरमें ही बड़े बड़े आरामके साधन रखते हैं। अच्छा कमरा, सजा हुआ पलंग, कुर्सी ठीक हों, पासमें ही लैट्रिन हो, पासमें ही स्नानगृह हो, भोजन, वस्त्रादिकके भी उत्तमसे उत्तम साधन हों, बड़े आरामके सब साधन हों तो ऐसे लोगोंको घर छोड़कर जंगलमें रहना कितना कठिन है। कोई पुरुष घर छोड़कर जंगलमें रह रहा तो उसके घर छोड़ते ही कुटुम्ब छूटा, धन सम्पदा छूटी, अकेला ही रह रहा बनमें, तो यह एक बड़ी तपस्या है। ऐसा तपश्चरण करने पर भी यदि वह क्रोध करने लगे तो उसके ये सब तपश्चरण, एकान्त निवास, घर बार छोड़ना सब व्यर्थ हो जाता है। कोई पुरुष अखण्ड ब्रह्मचर्यको पाल रहा है और सदा भिक्षा वृत्तिसे उदर पूर्ति करता है अर्थात् निर्ग्रन्थ मुनीश्वर बन गया, सब प्रकारके व्रतोंका वह ठीक ठीक पालन कर रहा, उदर पूर्ति करना हर एकको आवश्यक है यदि जिन्दा रहना है तो, और जिन्दा रहना मुनिको भी आवश्यक है, क्योंकि संयमकी साधना करना है। असमयमें यों ही मर गए तो अधिकसे अधिक देवगतिमें चले गए, वहाँ भी देवियोंका राग, अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं। संयम वहाँ प्राप्त हो ही नहीं सकता है। तो खोटा ही तो जन्म पाया। मुनि पदके आगे वे सब खोटे पद हैं। तो संयमके लिए उदर पूर्ति करना आवश्यक है और वह मुनि भिक्षावृत्तिसे उदर पूर्ति करता है। निराकुल रहनेके लिए ऐसे बड़े बड़े दुर्धर तपश्चरण में लगने वाला पुरुष भी किसी समय प्रचण्ड क्रोधी बन गया तो उसके उस क्रोधके द्वारा ये सब गुण भस्म हो जाते हैं। तो यहाँ यह बात शिक्षामें लेना कि क्षमा एक ऐसा सुगुण है, अपना हितकारी मित्र है कि जिसके प्रतापसे कोई व्रत भी न पालन करे तो वह भी उत्तम गतिको प्राप्त होता और व्रतका पालन करे, क्षमाशील हो तब तो उसको सर्वोच्च दशा प्राप्त होती है। क्षमा गुण न रहा, क्रोध आ गया तो जप तप आदिक समस्त धार्मिक कार्य ये निरर्थक हैं। इनका कोई उत्तम फल प्राप्त नहीं होता। इससे तत्त्व ज्ञान ऐसा जागृत करें कि किसी भी प्रतिकूल घटनामें क्रोध भाव न जग सके।

आत्मानमन्यमथ हंति जहाति धर्मं पापं समाचरति युक्तमपाकरोति।
पूज्यं न पूजयति वक्ति विनिद्यवाक्यं किं किं करोति न नरः खलु कोपयुक्तः ॥३०॥

क्रोधीकी हिंसकता—जिसके क्रोधका स्वभाव है, जो क्रोध करने वाला है वह स्वाभाविक क्षमा गुणका नाश करता है। आत्माका स्वभाव क्षमा है, क्रोध नहीं। जो चीज अपने आप अपनेमें से प्रकट हो दूसरेके निमित्त बिना वह कहलाता है स्वाभाविक। तो क्षमा तो स्वाभाविक है, क्योंकि आत्माका स्वरूप ही क्षमा है, किन्तु क्रोध प्रकृतिका उदय आनेपर क्रोध होता है इस कारण क्रोध स्वाभाविक नहीं है। तो जो क्रोध करता है उसके क्षमा गुण नहीं रहता। जीव यदि अपने सहज चैतन्यस्वरूपका ध्यान करे तो स्वयं ही वहाँसे क्षमा प्रकट होती

है और किन्हीं परवस्तुवों पर ध्यान करें, उन्हें इष्ट अनिष्ट मानें तो वहाँ विकार भाव जगता है। जहाँ क्रोधभाव जगा वहाँ क्षमा नहीं रहता। जहाँ क्षमा नहीं रहती वहाँ आकुलता है और निरंतर भीतर अंधेरा छाया हुआ रहता है। तो क्रोध ऐसा दुर्गुण है इस कारण क्रोधका बचाव करनेका, क्रोधसे दूर रहनेका पौरुष होना चाहिए। तो यह क्रोध स्वाभाविक क्षमा गुणका नाश करता है और फिर अपने और दूसरेके प्राणोंका भी नाश करके हिंसा करता है। क्रोधमें क्या होता है ? स्वयंकी हिंसा तुरन्त हो गई, क्योंकि वह विकारमें लग गया। जो विकारभावमें लगा है उसने अपने परमात्मस्वरूपका घात किया है। तो क्रोध करने वालेने प्रथम तो अपनी ही हिंसा की और फिर दूसरेकी हिंसा की। तो इसे जो पाप लगा है वह स्वकी हिंसासे पाप लगा है, उसमें जब दूसरेका विघात हो जाता है या दूसरेका प्राण पीड़ा जाता है तो वह भी बदला लेनेका उद्यम करता है, तब इसे फिर अनेक विडम्बनायें बन जाती हैं। तो क्रोध ऐसा दुर्गुण है कि क्षमा गुणका नाश करके अपने प्राणोंका भी नाश करता है और दूसरेके प्राणों का भी नाश करता है। आत्महत्या करने वाले पुरुष क्रोधवश ही तो आत्महत्या करते हैं। कोई क्रोध इतना तेज जगा किसी भी बात पर तो फिर यह ही उपाय सूझता है कि मैं अपनी हत्या कर लूं और मेरे हत्या होनेसे इन लोगोंपर विपत्ति आयगी, तों यों क्रोधी पुरुष हिंसक होता है।

क्रोधीके धर्मपरित्याग, पापसमाचरण व योग्यकार्यपरिहार—जो पुरुष क्रोध करता है वह धर्मको छोड़ देता है। जहाँ क्रोध है वहाँ धर्म कहाँ है ? धर्म तो आत्माके ज्ञाताद्रष्टा रहनेमें है। जो आत्माका स्वभाव है उसके अनुरूप इसका आचरण बने तो धर्म पालब कह॰ लाता है। स्वभाव वह होता है जो आत्मामें स्वयं सहज अपने आप प्रकट होता हैं। सदैव रहता है स्वभाव और उसकी वृत्ति स्वाभाविक होती है। तो केवल जानना देखना यह है स्वाभाविक वृत्ति। तो जहाँ क्रोध उत्पन्न होता वहाँ स्वभावका कौन ध्यान रखता है ? क्रोध में दूसरेका विनाश करनेकी ही वासना जग जाती है। जहाँ क्रोध है वहाँ धर्म नहीं रहता। तो क्रोधी पुरुष धर्मको छोड़कर पाप करने लग जाता है। और सर्व योग्य कार्योंको छोड़ बैठता है मायने पुण्यकर्म तो खतम कर देता है और पापकार्योंमें लग जाता है। कोई पुरुष धर्मकार्य करके भी यदि क्रोध कर रहा है तो वहाँ धर्मकी व्यवहारक्रिया भी ठीक नहीं चल रही है। जहाँ क्रोध है वहाँ धर्म नहीं। वहाँ पुण्य कार्य भी नहीं बनता है, क्योंकि क्रोधकी ज्वालामें इसका उपयोग दूसरेसे घृणा करनेका बन गया हैं। जब दूसरेसे घृणा करनेका भाव है वहाँ सर्व जीवोंके समान स्वरूपका ध्यान कहाँ रह सकता है ? उसके कारण कोई पुरुष योग्य कार्योंको छोड़ बैठता है और पाप कार्य करने लगता है।

क्रोधीके पूज्योंमें अनादरभाव--जिस जीवके क्रोध आता है वह अपनेसे बड़ोंका भी आदर सत्कार नहीं कर पाता। जब क्रोध आ गया किसी पर, बड़े पर या अन्य पर तो अब उसमें आदर बुद्धि न रही। मानो क्रोध किसी दूसरेपर ही आया, आत्मा पर ही आया या कहीं आया तो ऐसी स्थितिमें जो बड़े पुरुष हैं उनकी उपेक्षा हो जाती है। वे सामने भी खड़े हों तो उनका विनय सत्कार नहीं बन पाता, क्योंकि क्रोधका बेग चढ़ रहा है और कभी मानो किसी बड़े पुरुष पर ही क्रोध आ जाय तब तो उसका आदर सत्कार कर ही कैसे सकता है ? तो क्रोधी पुरुष कभी विनयशील नहीं हो सकता और वह बड़ेका सत्कार भी नहीं कर सकता तो क्रोधभावमें दूसरेके प्रति विनय और आदरकी बुद्धि नहीं रहती। जब दूसरेके प्रति विनय आदरकी बुद्धि न रही तो उसका जीवन बेलगाम बेतुका अटपट बन जाता है। वह फिर अपने सत्कार्योंमें प्रगति नहीं कर सकता ? प्रायः लोग अविनयसे ही दुःखी हैं, एक दूसरेका विनयभाव नहीं चाहते और अपने आपमें मैं ही सब कुछ हूं, इस अहंकार भावके कारण उसे क्रोध आता है। क्रोध और मान ये दो द्वेष कषाय माने गए हैं। माया और लोभ ये राग माने गए हैं। क्रोध आनेका मुख्य कारण मान है। अथवा अपने विषयोंमें विघ्न होना दो कारणोंसे प्रायः क्रोध आता है। जिन विषयोंको कोई चाहता है उन विषयोंमें कोई विघ्न डाल दे तो क्रोध जगेगा या जहाँ अपना मान चाह रहे हैं और उसमें विघ्न आ जाय तो क्रोध जगेगा। क्रोधी पुरुष दूसरेका आदर सत्कार नहीं कर सकता।

क्रोधीके भंडवचनका व्यापार एवं अयोग्यकार्यमें उमंग--जो जीव क्रोधी है वह नाना प्रकारके भंड वचन बोलता है। क्रोधमें अच्छे वचन कैसे निकल सकते ? मर्मभेदी अपमान कारक, आत्मप्रशंसा (अपनी प्रशंसा) करने वाले वचन ही निकलेंगे, और ऐसे भंड वचन क्रोधमें निकल जाते कि जिन्हें बोलकर यह क्रोधी खुद क्रोध शान्त होनेपर पछताने लगता है। मेरेको क्या क्रोध चाण्डाल आया जो मेरी बुद्धि खराब हो गई और इस इस प्रकारसे लोगोंको सज्जनोंको भंड वचन बोल दिया। भंड वचनोंसे झगड़ा शुरू होता है और झगड़ेमें भंड वचनकी धारा बन जाती है और ये सारी बातें क्रोधवश होती हैं। यदि क्रोध न रहे चित्तमें तो न भंड वचन बोलेगा और न कलह होगी। जीवनमें एक बहुत बड़ी साधना है यह। गृहस्थोंको भी आवश्यकता है इस साधनाकी कि क्षमा भावका आदर करें। यदि क्षमा गुण नहीं रहता तो परिवारमें, कुटुम्बमें रहकर वह शान्ति नहीं पा सकता। क्रोधसे दूसरे लोगोंमें शिक्षा न आ सकेगी किन्तु क्षमा गुणसे दूसरोंको शिक्षा मिल जायगी। जिन बच्चोंको शिक्षा देना चाहते हैं उनपर कोई क्रोध करके उन्हें शिक्षा देना चाहे तो उनको शिक्षा मिलना तो दूर रही, वे उल्टा परिणमने लगेंगे और स्वयं माता पिताके अपमानमें भी प्रवृत्त हो जायेंगे। तो

बड़े पुरुषोंका आभूषण है क्षमा। क्षमा होनेसे कुटुम्बके सभी लोग क्षमाशील बन जायेंगे। क्रोधी होनेसे ऐसा वातावरण बनेगा कि कुटुम्बके लोग भी क्रोधप्रकृतिके बन जायेंगे। तो क्रोध ऐसा दुर्गुण है जिसके वेगसे भंड वचन निकलते हैं और उन भंड वचनोंके कारण कलह बढ़ने लगती है और भंड वचन बोलनेसे यह संसारमें निन्दाका पात्र होता है। मनुष्यका धन वचन है। वचनोंसे ही परखा जाता है कि यह भला मनुष्य है या दुष्ट मनुष्य है। परखा जाय या न परखा जाय इसकी बात छोड़ो पर स्वयंकी भलाई चाहिये तो क्रोधको त्यागकर क्षमा गुणको अपनाना चाहिए। तब इस क्रोध पिशाचके वश होकर यह जीव नाना अन्य कुकर्मोंको कर डालता कि जिनको कहना बोलना भी कठिन है, जिनका वचनोंसे उल्लेख भी नहीं किया जा सकता। तो इन सब अवनतियोंका कारण क्रोध जानकर इसे दूर करें और क्षमाभावको धारण करें।

दोषेषु सत्सु यदि कोऽपि ददाति शापं सत्यं ब्रवीत्ययमिति प्रविचिंत्य सह्यं।
दोषेष्वसत्सु यदि कोऽपि ददाति शापं मिथ्या ब्रवीत्ययमिति प्रविचिंत्य सह्यं ॥३१॥

ज्ञानीके दोष होनेपर दोष बतानेवाले निन्दकपर क्षमाभाव—यदि कोई पुरुष गाली देता है, निन्दा करता है, ऐब लगाता है तो उस समय यह विचारना चाहिए कि मुझमें यह दोष है या नहीं। जिन बातोंको यह दूसरा पुरुष कह रहा है झूठा, चोर, कपटी या जो जो भी शब्द बोले, जिन जिन शब्दोंको गालियोंको यह पुरुष दे रहा है वे दुर्गुण मुझमें मौजूद हैं या नहीं, पहले यह निरखें। यह मुझमें वे दोष हैं तो वह बेचारा तो सत्य बोल रहा है। उस समय क्रोध करनेका क्या काम? मैं ही दोष निकालूं तो मेरा भला होगा। दूसरा यह पुरुष यदि मेरे दोषोंको जताता है तो यह तो उपकारी हुआ। ऐसा पुरुष तो मिलना दुर्लभ है जो मेरे दोषोंको मुझसे बोले। चाहे किन्हीं वचनोंसे बोले—प्राय: करके अनुरागी पुरुष दोषोंको ढक देता है और व्यर्थकी प्रशंसा करता है जिससे कोई लाभ नहीं है। आज यदि इस मनुष्यने मेरे दोष कह दिया तो यह तो मेरा बड़ा उपकारी है, सत्य बोलने वाला है तो इसका क्या बुरा मानना, वह बात सहन कर लेना चाहिए।

दोष न होनेपर भी दोष व निन्दित वचन कहने वालेपर ज्ञानीके दयाभावकी वृत्ति—अब यदि अपनेमें वह दोष नहीं है, ऐसा निरखमें आ जाय, यह व्यर्थ झूठ बोल रहा है मुझमें तो इस प्रकारका ऐब नहीं, मैंने कभी असत्य नहीं बोला, यह असत्यका नाम लगा रहा है, मैंने कभी किसीका दिल नहीं दुखाया, किसीके साथ कलहका व्यवहार नहीं किया। यह व्यर्थ ही मुझे कपटी आदिक कहकर मेरी निन्दा कर रहा है। मैंने कभी बुरी दृष्टि नहीं की। कभी किसीका बुरा नहीं बिचारा, यह व्यर्थ ही दोष लगा रहा, मुझमें दोष नहीं है, ऐसा

निरखकर यह ध्यानमें लायें कि यह तो मिथ्या बोल रहा है। इसके बोलका बुरा क्या मानना ? दूसरी बात यह है कि जिसने आत्मस्वरूपका ध्यान किया है वह पुरुष जानता है कि यह भी मेरे ही समान, प्रभुके समान चैतन्यस्वरूप है। इस आत्माका स्वयं कोई अपराध नहीं है, किन्तु कर्म उपाधिके सम्बंधमें ऐसा विकार उमड़ आता है सो वह परभाव है। औदयिक दोष है। यह आत्मा भी स्वयं निरपराध है, यह नहीं बोल रहा, इसका क्या बुरा मानना ? जैसे कोई मदिरा पिये हुए पुरुष हो और वह गाली देने लगे। जब मालूम पड़ जाय कि इसने शराब पी रखा है तो उसकी गालीका कोई बुरा नहीं मानता। जानता है कि यह बेहोश है, इसकी मदिरा इससे ऐसा बुला रही है। तो इसी तरहसे जो दोष कहता है। गाली देता है उसके स्वरूपको निरखें कि इसका तो निरपराध स्वरूप है। यह तो कषायके बेगमें आकर ऐसे वचन बोल रहा है। यह जान लेनेपर फिर उसका बुरा नहीं माना जा सकता। सो यदि मुझमें दोष नहीं है और कोई दोष ला रहा है तो यह मिथ्या कहाँ रहा ? ऐसा जानकर उसे भी सहन कर लेना चाहिये और आत्मगुणोंका घात न होना चाहिये।

कोपेन कोऽपि यदि ताडयतेऽथ हंति, पूर्वं मयास्य कृतमेतदनर्थबुद्धया।
दोषो ममैव पुनरस्य न कोऽपि दोषो, ध्यात्वेति तत्र मनसा सहनीयमस्य ॥३२॥

किसीके द्वारा ताड़े जाने पर भी अपने पूर्वापराधका चिन्तन करने वाले ज्ञानीके क्षमाकी वृत्ति—यह क्रोध निराकरणका प्रकरण चल रहा है। ग्रन्थकर्ता आचार्य अमितगति देव क्रोध जैसे दूर हो उस प्रकारकी भावना बता रहे हैं। यहाँ यद्यपि कहा जा रहा है कि क्रोधके वश होकर यदि कोई पुरुष मेरेको ताड़ने लग जाय, मारने पीटने लग जाय तो वहाँ यह समझ लेना चाहिए कि मैंने पूर्व कालमें किसीका बुरा बिचारा था कि इसका अनर्थ हो जाय, इसका बिगाड़ हो, बरबादी हो ऐसी भावना की थी, जिसके फलमें ऐसा ही कर्म बंधा उसके उदयमें ऐसा ही योग निमित्त जुड़ा है कि इसके द्वारा पिट रहा हूं। तो मैंने जो पहले अनर्थ किया था उसी का ही तो दण्ड मिल रहा है। मैंने तो पहले मारा। पहले अपराध किया, यह तो पीछेसे मार रहा है। इसमें दोष मेरा ही है। इसका नहीं है। तो अब इसका कार्य कारणभाव देखिये जो मैं आज किसीके द्वारा ताड़ा जा रहा हूं या किसी तरह बरबाद किया जा रहा हूं तो यह ध्यानमें रखिये कि मेरे ही अपराधसे ऐसा हो रहा है। पूर्वकालमें मैंने ऐसे ही खोटे भाव किया था और उन खोटे भावोंमें ऐसा ही कर्म बंधा था जिसके उदय में आज मेरी ताड़ना हो रही है। यदि मैं ऐसा न करता पहले भवोंमें तो फिर यह मुझे क्यों ताड़ता, क्यों मारता ?

कर्मबन्धसे दूर रखने वाले भावोंकी हितकारिता—देखिये कर्मबंध करना आसान

है, पर कर्मका उदय जब आता है तो उसे टालना आसान नहीं है। जो जैसा करता है उसे वैसा भोगना पड़ता है। भले ही कभी विशिष्ट ज्ञान हो और ज्ञानस्वभावमें ही उपयोग रम जाय ऐसी समाधि बने तो उस परिणामसे उन पाप कर्मोंका संक्रमण निर्जरण हो जाता है तो तिस पर भी जो परमाणु बंध गए वे दूसरी प्रकार बन कर उदयमें आये, पर उदयमें आते ही हैं इसीलिए बताया है कि कर्म भोगे बिना नष्ट नहीं होते। हाँ अन्तर यह हो जाता है कि उनका संक्रमण भी हो सकता। स्थिति कम हो जाय, अनुभाग कम हो जाय, पुण्यरूप में विकल जाय, पर जो परमाणु बाँध लिया, वे भोगेसे ही जाते हैं और फिर इतना तेज समाधि कि ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, इतनी स्थिति बनना आसान है क्या ? तो यह ध्यान में लें कि मुझसे कोई खोटा भाव न बने जिससे खोटा कर्म बंधे और उसका फल भोगना पड़े। तो यह पुरुष क्षमाशील है सो चिन्तन करता है कि यदि मैंने अपराध न किया होता तो न ऐसे कर्म बँधते, न उदय होता और न आज यह दुःखका सामना करना पड़ता। ऐसा सोच करके यह दूसरोंपर क्रोध नहीं करता और मन शुद्ध करके उस घटनाको सहन कर लेता है।

व्याधादिदोषपरिपूर्णमनिष्टसंगं, पूतीदमंगमपनीय विवर्ध्य धर्मं।
शुद्धं ददाति गतबाधनल्पसौख्यं, लाभोममायमिति घातकृतो विषह्यं ॥३३॥

ज्ञानीके घातकर्तापुरुषके प्रतिउपकारकताका चिन्तन—क्रोधवश होकर कोई पुरुष कदाचित पीटते पीटते प्राण लेने तक भी उतारू हो जाय तो जिसको अपने सहज परमात्मतत्त्वकी रक्षाकी धुन है वह उसमें भी क्षमा प्रदान करता है। उस समय ऐसा चिन्तन करता है कि यह मुझे मारने वाला पुरुष मेरा बड़ा ही उपकारी है। कैसा उपकारी है कि मेरा यह वर्तमान शरीर नाना चिन्तावोंसे ग्रस्त है, व्याधि चिन्ता आदिक अनेक दोषोंका घर है। जिस शरीरके सहारे मुझे नाना प्रकारके दुःख उठाने पड़ रहे हैं। और फिर जिस शरीरके मोहमें पड़े हैं, रागमें पड़े हैं वह शरीर अत्यन्त दुर्गन्धमय है। ऐसे दुर्गन्धित शरीरका वियोग हो जाना निश्चित है। होता है वियोग तो हो जाय ऐसा चिन्तन करता है ज्ञानी पुरुष। कौनसा ज्ञानी ? जिसने आत्माकी साधना करके अपने आपको स्वच्छ बना लिया है और यह सहज ज्ञानतत्त्व जिसकी धुनमें, ध्यानमें सतत् रहता है वह तो इस प्राणवियोगको भी उपकारी मानता है। तो ऐसे शरीरका नाश करके यह पुरुष तो उसके अभीष्ट तत्त्वकी सिद्धि कर रहा है और इस घटनाके समय जो उसका अधिक ध्यान इस आत्मस्वरूपकी ओर आ रहा है तो यह तो मेरे धर्ममें भी सहायक बन रहा। प्रायः ऐसा होता है कि जब यह जान लिया कि मेरा मरण निश्चित है। किसी तीव्र रोगमें उपसर्गमें या किसी भी कठिन

स्थितिमें जहाँ यह बोध हो जाता कि मेरा मरण निश्चित है तो थोड़ा भी विवेकी हो तो उसका ध्यान आत्मकल्याणकी ओर हो जाता है। मोह ममतामें नहीं रमता। हाँ कोई अज्ञानी हो है, विशेष मोही है, तो उसके यह बात नहीं आ पाती, किन्तु थोड़ा भी अगर धर्म की साधना रही है तो मरण कालमें उसे धर्मकी ओर आकर्षण होगा। तो यह ज्ञानी उस समय विचार कर रहा है कि यदि यह मेरे प्राण ले रहा है और इस समय मेरी बुद्धि आत्मस्वभावकी ओर जानेको तैयार हो रही तो यह तो मेरा बड़ा उपकारी है, ऐसा चिन्तन करके कोई प्राणघात भी करे तो भी उस पर क्रोध नहीं करता है, क्योंकि यदि शान्तिभाव पूर्वक मरण होता है तो यह संस्कार, यह लगार जन्म तक पहुंचता है और जैसा संस्कार जन्मके समय रहा वह जीवनमें भी रहता है इस कारण समाधिमरण होना यह जीवका बड़ा उपकारी है।

धर्मे स्थितस्य यदि कोऽपि करोति कष्टं, पापं चिनोति गतबुद्धिरयं बराक:।
एवं विचिंत्य परिकल्पकृतं त्वमुष्य, ज्ञानान्वितेन भवति क्षमितव्यमत्र ॥३४॥

धर्ममें स्थित ज्ञानीपर उपसर्ग करने वाले अज्ञानीपर ज्ञानीका क्षमाभाव—ज्ञानवान पुरुष अपनेको कष्ट पहुचाने वाले पुरुषके प्रति विचार करता है। उस कष्ट पहुचाने वाले मनुष्य को ऐसा समझता है कि भाई मैं तो धर्ममें स्थित हूं। अपने सहज चैतन्यस्वभावके उपयोगमें आ रहा हूँ और यह पुरुष मुझ पर उपसर्ग कर रहा है, किसी कारणसे क्रुद्ध हो रहा है, गाली दे रहा है, तो यह तो पापार्जन कर रहा तो यह कितना उपकारी है कि स्वयं पापका अर्जन करके नारकादिक गतियोंमें जानेकी तैयारी कर रहा है और मुझे धर्ममें लगाकर मेरा उपकार कर रहा है। तो ऐसा उसे उपकारी समझता है। सो ऐसे अपनेपर संसर्ग करने वाले या बिघात करने वाले पुरुष पर क्रोध क्या करना ? वह बेचारा स्वयं ही अपने क्रोधसे रह रहा, दुर्गतिमें जा रहा, अब इस बेचारे पर क्या क्रोध करना। ज्ञानीके कैसा विलक्षण ज्ञान है कि अपनेको सताने वाले पुरुष पर भी दया कर रहा कि यह बेचारा बड़ा दु:खी है। कषायके बेग में आ रहा है। अपने आपको नहीं सम्हाल पा रहा है और ऐसा मन, वचन, कायकी खोटी वृत्तिपर उतारू बन गया। यह अपना ही बिगाड़ कर रहा है। तो जो स्वयं अपना महान बिगाड़ कर रहा ऐसे बेचारे अज्ञानीपर क्या क्रोध करना ? यह तो भविष्यमें अपने आप महान दु:ख भोगनेकी तैयारी कर रहा है। अब क्रोधमें मैं आऊँ और इसका अनिष्ट करूँ याने सोचूं यह तो बिल्कुल निरर्थक है अथवा क्रोध करने वालेने मेरेको सावधान ही किया प्रेम-प्रेमकी बात सुनाने वाले लोग मेरे आत्माको उतना सावधान नहीं कर सकते जितना कि स्पष्ट और दोषकी बात कहने वाले लोग मुझे सावधान बना सकते हैं और फिर जो यह आज मेरे प्राण

ले रहा है तो पहले मैंने ही तो अनर्थ किया था जिससे ऐसा ही कर्मबंध हुआ, जिसके उदयमें आज मुझपर भी यह घटना आ रही है। तो ऐसा सर्वप्रकार पूर्वापर विचार करके ज्ञानी पुरुष दूसरेपर क्रोध नहीं करता।

शप्तोस्मयनेन न हतोस्मि नरेण रोषान्नो मारितोस्मि मरणेपि न धर्मनाशः।
कोपस्तु धर्ममपहंति चिनोति पापं, संचित्य चारुमतिनेति तितिक्षणीयं ॥३५॥

आत्मधर्मानुरूप उपायोंसे ही शान्तिकी संभवता—सब जीवोंको अपनी अपनी शान्ति इष्ट है। जिस किसी भी प्रकार हो मेरे आत्माको शान्ति साता मिले। किसी प्रयोजन से मनुष्य घर बार बसाते हैं, व्यापार करते हैं, मंदिर आते हैं, मुनि बनते हैं। जो कुछ भी चेष्टा पुरुष करते हैं उसका प्रयोजन है कि मेरे आत्माको शान्ति प्राप्त हो। अगर शान्तिका उपाय सच्चा किया जाय तब ही शान्ति हो सकती है। मिथ्या उपायोंसे शान्ति नहीं मिल सकती। वह सच्चा उपाय क्या है इस विज्ञानसे निर्णीत कर लीजिए। मैं क्या हूं और शान्ति नाम किसका है ? इन दो बातोंका सही निर्णय होने पर शान्तिका मार्ग अवश्य मिल जायगा। लोगोंको इन दो बातोंकी सुध नहीं है। मैं क्या हूं इसकी खबर नहीं है तो भले ही धर्मके नाम पर बड़े बड़े विधान पूजन भी करने चलें, पर जिसे उसकी खबर नहीं है वह शान्तिका रास्ता नहीं पा सकता। मैं क्या हूं इसका निर्णय करें बड़ी समतासे। मैं हूं कोई जानने वाला पदार्थ हूं वह अमूर्त हूं। यदि मैं इन दिखने वाले पदार्थोंकी तरह रूपरस आदिकका पिण्ड होता तो मैं कभी जान न सकता था। जो जानने वाला मैं हूँ सो आकाश की तरह अमूर्त पदार्थ हूँ। कभी यह मैं आत्मा न आंखोंसे दिख सकता, न किसी इन्द्रियसे जाना जा सकता। मैं हूँ, ज्ञानस्वरूप पदार्थ हूँ, जो मैं हूँ स्वयं अकेला वह कष्टरहित है। विकार रहित है। स्वयंमें स्वरूपसे उसमें न कष्ट है, न विकार है, फिर ये कष्ट, ये विकार आये कैसे ? ये कष्टविकार आये तो कर्मोदयका निमित्त पाकर मगर इनकी व्यक्ति हुई है इन्द्रियके विषयभूत इन पदार्थोंमें दिल लगाकर। देखिये बहुत ध्यानसे मनन करना है। कर्मोदय आया, यदि मैं इन विषयभूत पदार्थोंमें उपयोग न फंसाऊं तो विकार व्यक्त न होगा। अन्दर ही प्रतिफलित होकर अव्यक्त रहकर विकार निकल जायेगा। तो अब देखिये कि जो ही बात मेरे दुःखका कारण है उस ही बातमें लोगोंकी उमंग रहती है। उन्हें शान्ति कैसे प्राप्त हो ? इन्द्रियके विषयभूत, मनके विषयभूत इन दिखने वाले पदार्थोंमें उपयोग लगानेसे कष्ट होता है। किन्तु लोग इसी पर ही कमर कसे हुए हैं कि विषयोंको अधिकसे अधिक भोगें। विषयोंके साधनोंको अधिकसे अधिक जुटायें। तो विपरीत उपाय करनेसे कभी शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती है।

प्रत्येक परिस्थितियोंमें ज्ञानानन्दस्वरूप अन्तस्तत्त्वकी प्रतीतिकी आवश्यकता—

यद्यपि यह आवश्यक हो गया गृहस्थीमें रहनेके कारण गृहस्थोंको कि वे मकान भी रखें, आजीविका भी करें, धन भी रखें, सब आवश्यक हो गया, मगर उद्देश्य तो यह न रहना चाहिये कि मेरा काम तो केवल धन जोड़ना और दुनियामें वाहवाही लूटें और अपना नाम सबसे ऊपर करें। यदि यह लक्ष्य रहा तो शान्ति कभी नहीं मिल सकती। आवश्यक होनेके कारण गृहस्थीमें व्यापार करना, धन भी रखना यह सब करना पड़ता है, इनके करते हुए भी गृहस्थके योग्य धर्ममें बाधा नहीं आ सकती। अपना लक्ष्य शुद्ध हो तो सारे काम सही बनेंगे, किन्तु जिसने इस जीवनका उद्देश्य यह बनाया हो कि मुझे इस दुनियामें बहुत बड़े नाम वाला बनना है, बहुत बड़ा धनिक बनना है और लोगोंको दिखाना है कि मेरे पास कितने आरामके साधन हैं, ऐसा लक्ष्य करने वाला पुरुष जीवनमें कभी शान्ति नहीं पा सकता। अब जानें कि मैं ज्ञानमात्र हूं, स्वयं आनन्दमय हूँ। मेरे स्वरूपमें विकार नहीं है। कष्टका यहाँ कोई काम ही नहीं है। अब रही यह बात कि पहले बांधे हुए कर्म उदयमें आ रहे हैं तो अब मैं क्या करूँ? आ रहे हैं उदयमें तो आप यह करिये कि जगतमें इन सारे पदार्थोंको असार जानकर भिन्न जानकर इनमें मेरा कुछ नहीं रखा, ऐसा समझकर इन सब पदार्थोंका मोह छोड़ दीजिए और अपने ज्ञानस्वरूप आत्माकी भक्तिमें लगिए। सारे कार्य आपके सिद्ध हो जायेंगे। तो शान्ति अपने आपमें है, आत्मदृष्टिकी आवश्यकता है। सच्चा ज्ञानप्रकाश चाहिये फिर इस आत्माका नियमसे उद्धार है।

गाली गलौज एवं ताडना होनेपर भी ज्ञानीका क्षमागर्भित चिन्तन—इस अनन्त आनन्दस्वरूप आत्माकी रक्षाके लिए हमें बाहरमें कोई भी उपद्रव आयें, सबको हँस करके सह लेना चाहिये, क्योंकि बाहरकी बातें क्या हैं? बाहरी परिणतियाँ हैं। किसी पुरुषने गाली दी तो उसने मेरा क्या बिगाड़ दिया? ध्यानसे तो सोचें, वह पुरुष ऐसे ही कर्मोंसे घिरा हुआ है, उसके इस ही प्रकारकी कषायोंका उदय चल रहा है उसका निमित्त पाकर ऐसा बोल निकल पड़ा है, ये सब बाहरी बातें हैं। ये सब परपदार्थोंमें हुई घटनायें हैं। उनसे मेरेमें क्या बिगाड़? मैं तो सहज आनन्दस्वरूप ज्ञानमात्र परमात्म पदार्थ हूँ। सो इस निज परमात्मदेवकी रक्षाके लिए बाहरमें कुछ भी बीते उसकी उपेक्षा करना और कोई कष्ट दे उसे भी सहन करना और इसके साथ ही साथ कष्ट देने वाले पर क्षमाभाव रखना यह इतना बड़ा काम किसलिए करना है कि मेरे सहज परमात्मस्वरूपकी रक्षा रहे। क्योंकि मैंने इस परमात्मतत्वका घात किया तो मेरा सब बिगड़ गया। ऐसा ही विवेक रखने वाले ज्ञानी पुरुष चिन्तन करते हैं कि यदि इस मनुष्यने क्रोधके आधीन होकर मुझे गाली दी है तो उसने क्या किया? उसने तो अपने आपका परिणमन किया और वह परिणमन दूर दूर

ही रहा। उसने मुझे मारा तो नहीं कदाचित कोई पुरुष मुझे पीट दे तो आखिर मेरा कषाय भाव मेरी ऐसी चेष्टा सब कुछ हुई उसका शरीरपर ही संयोग रहा, मेरे प्राणका घात तो नहीं किया। संयमका साधनभूत यह शरीर यह जीवन अभी इसने लिया तो नहीं। क्या इस पर क्रोध करना ?

प्राणघात होनेपर भी ज्ञानीका क्षमागर्भितचिन्तन एवं कोपका दुष्परिणाम—कदाचित् वह प्राणघातपर भी उतारू हो जाय तो जो आत्महितका अभिलाषी ज्ञानी पुरुष है वह चिन्तन करता है कि इसने प्राण ही तो लिया, मेरा और कुछ तो नहीं लिया। मेरेमें जो मेरा स्वरूप है उस स्वरूपको कोई ले ही नहीं सकता। ज्ञान और आनन्द मेरा स्वभाव है, इस स्वभावको तो नहीं हरा। यह तो मुझे प्राणोंसे भी प्यारा है। वह तो बराबर सुरक्षित है, जो होता हो बाहर सो होने दो। ऐसे समयमें यदि मैं क्रोध कर गया तो मेरा धर्म नष्ट हो जायगा, मेरे परमात्म स्वरूपका घात हो जायगा, पापका आश्रव होगा। उनके उदयकालमें मेरेपर विपत्तियाँ आयेंगी। बाहरमें किसीकी कुछ भी परिणति हो, मुझे क्रोध नहीं करना है, यह चिन्तन चलता है ज्ञानीका। यहाँ एक बात और समझना कि गृहस्थोंसे उतनी उत्तम क्षमा नहीं निभ पाती, मगर यह भावना तो करें, चिन्तन तो हो और इसी कारण चूँकि वह गृहस्थ है सो उसके संकल्पी हिंसाका त्याग कहा है। उसे क्रोध भी आता है मगर गृहस्थ का क्रोध अज्ञानभरा क्रोध नहीं रहता। केवल अपने बचावके वास्ते ही क्रोध आया है, उस दूसरेको बरबाद करनेके लिए क्रोध नहीं आया, इतनी ज्ञानी गृहस्थकी सावधानी रहती है, पर उपदेश तो सबके लिए दिया गया है। मुनि जनोंके लिए तो खासकर ही ग्रन्थ बने हुए हैं। तो ज्ञानीका यह चिन्तन बताया है कि दूसरे लोग चाहे कैसी ही परिणति करें मगर वह बाह्य परिणति है। उससे मेरे स्वरूपमें कुछ घात नहीं है, इस कारण किसी भी दशामें क्रोध भाव न लाना चाहिये।

दुःखार्जितं खलगतं वलभीकृतं च, धान्यं यथा दहति वह्निकणः प्रविष्टः।
नानाविधव्रतदयानियमोपवासैः रोषोऽर्जितं भवभृतां पुरुपुण्यराशिं ॥३६॥

कोपाग्नि द्वारा पुण्यराशिका दहन—क्रोध ऐसी विकट ज्वाला है कि जिस पुरुषमें यह क्रोध चाण्डाल उमड़ आया तो उसके सारे जीवनकी साधना, व्रत, नियम, उपवास आदिक ये सबके सब क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं। जैसे खेती करने वाले पुरुषने कितना ही परिश्रम किया खेतमें। सब साधन जुटाये, खेत जोता, उसे और ठीक बनाया, बीज बोया, पानी उसमें प्रवाहित किया, उसकी घास भी उखाड़कर निराई की, बराबर पानी सींचा, फसल काटकर खलिहानमें रखा। यहाँ तक कितना समय लग गया, कितना परिश्रम लग गया और वहाँ

कोई अग्निका कण उस अनाजके ढेरपर पड़ जाय तो साराका सारा ढेर तत्काल भस्म हो जाता है। देखिये—कई महीनेका तो परिश्रम और कितना उसपर खर्च किया, कैसे कैसे आशय बनाया और किसी क्षण असावधानीसे अग्निका एक भी कण उसपर गिर जाय, मानो कोई किसान बीड़ी पीता है और वह जलती हुई गिर जाय तो कुछ ही मिनटमें वह साराका सारा उपार्जित किया हुआ अनाज भस्म हो जाता है। ऐसे ही अपने आपके बारेमें भी सोचिये—खूब पढ़ लिख करके तत्वज्ञान किया, दसों वर्ष उसमें लगाया, व्रत, नियम, उपवास आदिक भी किया, बड़े-बड़े तपश्चरण भी किया जिसके प्रसाद यह आत्मा अपने प्रभुके निकट आ सक रहा है। सारे जीवनभर खूब शुभ परिणाम किया, बड़ा पुण्य समूह संचित होनेपर किसी क्षण तीव्र क्रोध आ जाय तो सारे जीवनका संचित किया हुआ वह पुण्य क्षण भरमें नष्ट हो जाता है।

क्रोधकी अकल्याणकारिता—अज्ञानवश जरा-जरा सी घटनाओंमें क्रोध जगने लगता है। घटना भी क्या? इतने लोगोंके सामने मेरेको यह इस तरह बोल रहा है। बस यह सोचा, क्रोध उमड़ आया, लेकिन जिन लोगोंके सामने बोल रहा है वे लोग मायामय है परमार्थ नहीं हैं। मेरी ही तरह जन्ममरण कर दुःख सहने वाले लोग हैं। जैसे मैं मरण कर जाऊंगा वैसे ही ये सब भी मरण कर जायेंगे। इसने यदि एक माया प्रसंगमें कुछ सुन रखा उसके खिलाफ इसने मेरे आत्माका क्या बिगाड़ किया? यह ध्यानमें नहीं रहता और गाली देने वाले के प्रति या सही कहने वालेके प्रति जो दोष बोल रहा है क्रोध उमड़ आता मगर वह क्षण भरका क्रोध कई वर्षोंकी साधनाको नष्ट कर देता है, इस कारण क्रोधसे बहुत दूर रहना चाहिये। फिर क्रोधसे मिलता भी कुछ नहीं है। क्षमा करनेमें तो बहुतसे लाभ हैं मगर क्रोध करनेमें कोई लाभ नहीं। चाहे उसका प्रयोग घरमें कर लें, समाजमें कर लें। किसी जगह देखलो क्रोधसे लाभ नहीं है। कोई पुरुष अयोग्य कार्य कर रहा हो तो उसको क्षमाशील होकर भी समझाया जा सकता है। और ऐसा समझानेमें उस पर असर भी पड़ सकता है, पर क्रोध करके कोई समझाये तो उस समझानेका भी कोई प्रभाव नहीं होता। जीवनमें यह गुण जिसके आ जाता है उसका जीवन धन्य हो जाता है।

कोपेन यः परममीप्सति हंतुमज्ञो, नाशं स एव लभते शरभो ध्वनंतं।
मेघं लिलंघिषुरिवान्यजनो न किंचिच्छक्नोति कर्तुमिति कोपवता न भाव्यं ॥३७॥

दूसरेके घातके अभिलाषीका स्वयं निश्चित विघात—जो अज्ञानी पुरुष क्रोधके वश होकर दूसरे जीवोंको मारना चाहता है उसका विघात तो हो ही गया। अब उस दूसरेका घात हो अथवा न हो, जैसे अष्टापद एक भयंकर पशु होता है, वह क्रूर होता है। क्रोधी

होता है, कभी वह मेघकी तीव्र गर्जना सुनले और उसे मेघपर क्रोध आ जाय और वह ऐसा प्रयत्न करे कि मैं उछल कर इस मेघको पटक दूं और वह बहुत तेज उछल जाय तो गिर कर उसका ही तो घात होगा। मेघका उससे कुछ बिगाड़ न होगा। कोई पुरुष हाथमें अग्नि लेकर दूसरेको मारना चाहे, फेंके तो पहले खुदका हाथ तो जल ही जायगा, अब दूसरे का उदय है कि उसके वह अग्नि लगे अथवा न लगे। उससे वह जले अथवा न जले। तो ऐसे ही क्रोध करने वाला पुरुष क्रोधअग्नि द्वारा अपने गुणोंको भस्म कर डालता है और उसमें सहज ज्ञानस्वरूपका घात हो जाता है। विकार जगने लगता है। अब जिसपर क्रोध किया उसका बिगाड़ हो अथवा न हो। धवल सेठने श्रीपालकी पत्नीपर आसक्त होकर श्री पालको समुद्रमें गिरा दिया। अब सेठ जान चुका था कि यह अवश्य मरेगा और मैं निर्बाध होकर अपनी अभिलाषा पूरी करूंगा। उसके जाननेमें कोई मारनेकी कसर न रही। तो धवल सेठने खोटा भाव किया और उसको सिद्धि भी न मिली पर यहाँ श्रीपाल कोई लकड़ीके सहारे समुद्र पार हो गया, समुद्रके एक किनारे लग गया। कोई किसीको कितना ही मारना चाहे, उसका उदय है मरनेका तो मरेगा नहीं तो न मरेगा। श्रीकृष्ण नारायणके पुत्र प्रद्युम्नको जो कि काल संवरके यहाँ पला पुषा था, काल संवरकी स्त्रीने हो जिसको कालसंवरने बेटेकी तरह प्रद्युम्नको सौंपा था। जब वह बेटा जवान हुआ। पेटका जाया न था, लाया हुआ था। तो उस रानीकी भावना बिगड़ गई और सोचा कि इसके साथ विषय भोगूं पर यहाँ बात कहाँ बनती थी? उसने बहुत उपद्रव किया। यहाँ तक क्रोध आया कि उसके मारनेके उपाय बनाया। अन्य लड़कोंने अनेक प्रयत्न किया मारनेके पर जहाँ जहाँ मारने का यत्न किया वहींसे उसे सिद्धियाँ मिली। कोई किसी दूसरेका बिगाड़ करनेमें समर्थ है क्या? क्यों भाव बिगाड़ा जाय? सर्व जीव सुखी हो, यह ही भावना चित्तमें आनी चाहिए। भैया, अपनी सम्हाल कीजिये, दूसरेका क्या बिचारना? जो अज्ञानी पुरुष क्रोधके वश होकर दूसरेको मारना चाह रहा है उल्टा उसका ही घात होता है। तो अपने आपके परमात्मदेवकी रक्षाके लिए अपनेको सर्व कुछ सहना मंजूर होना चाहिए और गुणोंमें क्षमा बढ़नी चाहिए। आत्माके स्वरूपका ज्ञान कर उसकी भक्तिमें बढ़ना चाहिए। यही एक उपाय है उपने आपके उद्धारका, शान्ति पानेका। जिस घरमें आप बस रहे हैं न यह आपका घर सदा रहेगा, न कुटुम्ब सदा रहेगा, न यह देह रहेगा, न यह नगर आपके लिए रहेगा। मरण करनेपर इस ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमें न जाने कहाँ-कहाँ जन्मेंगे, मरेंगे। आज सुयोगसे मनुष्यभव पाया है तो किसलिए पाया है? क्या इन्द्रिय विषयोंको भोगते रहनेके लिए ही पाया है? भोगोंसे आखिर आत्महित क्या हो जायगा? खूब दिलसे सोचिये।

घरकुटुम्बका अर्थ गुजारा कमेटी—घर और कुटुम्बके बारेमें निर्णयपर पहुचें कि घर मायने है गुजारा कमेटी है। घर मायने है गुजारा, कुटुम्ब मायने है कमेटी। घर कुटुम्ब याने गुजारा कमेटी। गृहस्थी एक संस्था है जिसमें ५-७-१० सदस्य हैं और उस संस्थाका उद्देश्य है कि सबके प्राणोंकी रक्षा रहे और जीवनमें आत्मज्ञान पाकर, आत्मभक्ति करके आत्म-कल्याण पायें। अब इस गुजारा कमेटीका उद्देश्य यह है। जैसे कमेटीमें कोई अध्यक्ष है, कोई मंत्री है, कोई कोषाध्यक्ष है, कोई व्यवस्थापक है, ऐसे ही इस गुजारा कमेटीमें बिना चुने अपने आप जो घरका मुखिया है वह अध्यक्ष है। जो उसका सलाहकार है—स्त्री हो, बड़ा लड़का हो, वह उसका मंत्री है। जिसके पास पैसा रखनेकी व्यवस्थाकी है, रोकड़ रखे, खर्च करे वह आपकी गुजारा कमेटीका कोषाध्यक्ष है। जो रसोई बनाये, व्यवस्था करे, सफाई करे, सब चीजोंकी व्यवस्था बनाये या आजीविकाके कामोंमें मददगार हो वह व्यस्थापक है। घर क्या है? एक गुजारा कमेटी है। इस कमेटीमें रहकर तो गुजारा भर करना है, और उद्देश्य एक यही रहे कि मैं अपने स्वरूपका ज्ञान करूँ और उसमें ही मग्न होऊँ। रत होऊँ और इस निर्विकल्प समाधिके बलसे मैं मोक्षमार्गमें बढ़ूँ। अभी इतना ही सब कुछ करनेका नहीं सोचना है। इसके आगे भी सोचना है। गुजारा कमेटीमें जब तक मुझे गुजारा करनेकी जरूरत है तब तक गुजारा कर रहा हूं। जब मैं समझूंगा कि मैं इस योग्य हूँ कि इस गुजारा कमेटीका सहारा लेनेकी जरूरत नहीं है तो मैं सर्वपरिग्रहोंका त्याग करके एकाकी रहकर अपना आत्महित करूँगा, ऐसा भाव है इस ज्ञानी गृहस्थका। तो अपने जीवनको ऐसा ढालिये, ऐसा मोड़िये कि बाहरकी वासनाकी दुर्गन्ध न रहना चाहिए आत्मामें। करना पड़ रहा है सब कुछ मगर वासनाकी दुर्गन्ध न रहेगी तो आपका यह करना भी निर्जराका कारण बनता है। सत्य ज्ञानप्रकाश पानेमें कितना लाभ है कि जो काम आप कर रहे हैं दुकानका घरका, रसोईका सबका यह ही काम आपकी निर्जराका कारण बनें यदि ज्ञानप्रकाश चित्त में है। आत्मामें है तो, और ज्ञानप्रकाश नहीं है तो आपके ये धर्मके कार्य भी आपके कर्मबन्ध के कारण बन जायेंगे। आत्मज्ञान कितना आवश्यक है? यदि आत्मज्ञान सहित धर्मके कार्य बने तब देखिये उसका आनन्द। प्रभुके गुणोंमें अनुराग होना, अपने सहज आत्मस्वरूपकी दृष्टि होना, इसका जो आनन्द है वह अलौकिक आनन्द है। सो ज्ञानार्जनके विधानसे उस आनन्दको पानेका प्रयत्न कीजिये, इसीमें मनुष्यजीवनकी सफलता है।

कोपः करोति पितृमातृसुहृज्जनानामप्यप्रियत्वमुपकारिजनापकारं।
देहक्षयं प्रकृतकार्यविनाशनं च मत्वेति कोपवशिनो न भवंति भव्याः ॥३८॥

क्षमा, शान्ति और आनन्द जीवस्वभावकी वृत्ति—जिसे जीव चाहता है वही जीवके

स्वरूपमें है, जीव चाहता है आनन्द और आनन्द ही मेरा स्वरूप है, यह चाहता है कि खूब ज्ञान बढ़े और ज्ञान ही इसका स्वरूप है, पर यह तो बतलावो कि वही तो स्वरूप है और वही मैं चाहता हूं और फिर भी नहीं हो पाता, इसका क्या कारण है ? इसका कारण यह है कि जिस ढंगसे स्वरूप है उस ढंगसे हम स्वरूपको नहीं जान पा रहे सो चाह रहे हैं स्वरूप-विकासकी ही बात मगर और और ढंगकी चाह रहे । स्वरूप है और ढंगमें और ज्ञान चाहता है बाहरी पदार्थोंका ज्ञान, पर पदार्थका ज्ञान । कौन पदार्थ कैसा है, किस ढंगमें है ऐसा ज्ञान चाह रहे, आनन्द चाह रहे तो इन्द्रिय विषयोंका सुख चाह रहे । स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण, मन इनके विषयोंका सुख मिले, यश हो, कीर्ति हो, नाम हो, लोग मुझे ऐसा कहें, ऐसा तो मनके आनन्दको चाहते । अच्छे शब्द मिलें । प्रेमके शब्द मिलें, राग रागनीके शब्द मिलें, विषयोंमें उमंग दिलायें ऐसे शब्द मिलें, यों शब्दोंको सुनना चाहते हैं । अच्छा रूप मिले जो प्रिय लगना है । अच्छी गंध हो, अच्छा रस मिले, अच्छा स्पर्श हो, इस प्रकारके सुखको चाहते हैं । तो जैसे ज्ञान और सुखको चाहते हैं वह ज्ञान और वह सुख आत्माका स्वरूप नहीं । आत्माका स्वरूप तो सहज ज्ञानप्रतिभास केवल जानन रहे, उसके साथ कोई विकार न हो, ऐसा शुद्ध ज्ञान, यह ही स्वरूप है आत्माका । इसको चाहें तो क्यों न प्रकट होगा ? निराकुलता, परम आल्हाद, जिसमें किसी प्रकारका विकल्प नहीं, केवल शुद्धआनन्द यह है अपना स्वरूप मगर चाहते हैं क्षोभसे भरा हुआ विषयोंका सुख तो उल्टी चाह कर रहा है इस कारणसे ज्ञान और आनन्द प्रकट नहीं हो पाता । तो ज्ञानानन्द स्वरूप निज अंतस्तत्त्वकी दृष्टि बने, यह बात बनती है तत्त्वज्ञानमें और समताभावमें जहाँ क्षमाभाव बने क्षमा एक ऐसा प्रधान गुण है कि जिसके आधार पर सभी गुण शोभायमान होंगे । दशलक्षण धर्ममें दस धर्मोंमें सबसे पहले क्षमा कहा है, क्योंकि वह सब गुणोंका आधार है । क्षमा होगी तो गुणोंका विकास होगा । क्षमा भी आत्माके स्वभावकी वृत्ति है ।

क्रोधमें स्वजनोंकी भी अप्रियता—जहाँ समता है और अलौकिक आनन्दका अनुभव है, ऐसी क्षमा जब नहीं होती तो उसके एवजमें क्रोधभाव रहता है तो उस क्रोधके कारण अपने कुटुम्बमें भी प्रेम नहीं रहता, पिताका भी प्रेम हट जाता है । पिता यदि क्रोध करे तो यद्यपि उस पिताने बच्चेका पालन पोषण किया, बड़ा किया, पर क्रोध अगर करे पिता पुत्रको तो पिता पुत्र दोनोंके चित्तमें, दोनोंकी कदर नहीं रहती । क्रोध ऐसा बैरी है, इसी तरह माता आदि क्रोध करे तो वहाँ भी परस्पर प्रेम नहीं रहता । क्रोधी सारे गुण भूल जाता, कृतज्ञता सब नष्ट हो जाती एक क्रोध भावके जगनेसे । जो क्रोध करे उसपर क्षमा भावका असर नहीं रहता । क्रोध ऐसी भयंकर ज्वाला है कि जिसमें जीव बेचैन हो जाता है, उस क्रोधीके पास

जो भी बैठे वह भी अपना चैन खो देता है। ऐसी क्रोधकषायको समूल दूर करनेका उपाय क्रोध रहित आत्माके चैतन्यस्वभावकी दृष्टि है। चिन्तन करना चाहिए कि मेरा कोन सा काम अट का है दुनियामें जिसके लिए क्रोध करूँ और अपने आपके गुणोंको भस्म करूँ। तो मेरा कोई काम नहीं अटका, ये सब ख्याल हैं कि धन वैभव बढ़ेगा तो मेरा महत्व बढ़ेगा या राष्ट्रमें नेतागिरी बनेगी तो मेरा महत्व बनेगा। एक बार महत्व बन जाय लोगोंकी दृष्टिमें, लेकिन उस कल्पित महत्वके पा लेने पर रात दिन व्याकुलता रहती है, यह कभी नष्ट न हो जाय। जो कभी प्रधानमंत्री था, अब न रहा और उसके थी तृष्णा और इच्छा तो अपमानसे बेचैन है। जगतमें कोई काम ऐसा नहीं है जो आत्माके कर्तव्यमें शामिल हो। हाँ करने पड़ते हैं गृहस्थीकी परिस्थितिमें धन भी कमाना पड़ता, अनेक कार्य भी करने पड़ते, पर ये करने पड़ रहे हैं ऐसा ध्यानमें रखें, ये आत्माके कर्तव्य नहीं हैं। आत्माका कर्तव्य तो अपने सहज ज्ञान स्वरूपको निरखना और उस निरखनेमें ही तृप्त रहना यह काम यदि बन सके तो श्रामण्य मिलेगा, अरहंत पद मिलेगा और सिद्ध भी बन जायेंगे। जीवनमें ध्येय एक ही होना चाहिए कि मैं सिद्ध हो सकूं। वह उपाय करना है, बाकी समग्र उपाय केवल धोखा है अपने लिए संसारमें रुलानेका कारण है।

उपकारीजनोंका अपकार आत्मघात कार्यविनाश आदिकी क्रोधमें संभवता—जब जगतमें कोई भी घटना कोई भी काम, कोई भी पदार्थ मेरे हितका साधक नहीं है तो फिर मैं किसलिए क्रोध करूँ? जो भव्य विचार सहित है वह समझता है कि क्रोध करनेसे माता पिता भाई बहिन मित्रजन इन लोगोंका भी प्रेम हट जाता है। कितना ही सगा मित्र हो, कुटुम्बका हो, घरका हो और बात जाने दीजिए, पति पत्नी भी हो और कोई क्रोध करता ही रहे तो दूसरेका प्रेम भी नहीं रह सकता, और जहाँ घरमें रहना पड़ रहा और प्रीति परस्पर नहीं है तो वह घरमें रहनेका अर्थ क्या है? उससे तो बन अच्छा है। जिस घरमें रह रहे हों उस घरमें यदि परस्परमें प्रीति न हो और एकका दूसरके प्रति घृणा और द्वेष हो वह घर तो क्या, वह तो दुर्दशाकी चीज है। तो जीवनमें एक यह साधना बनायें कि किसी भी स्थितिमें मेरेको क्रोध उत्पन्न न हो। मान लो कोई घटना ऐसी भी बने कि जो अनुचित है, अन्याय की भी है, लेकिन उस समय भी क्रोध करनेसे लाभ क्या है? बुद्धि और बिगड़ जाती है। तब जो करने योग्य कार्य हैं वह नहीं कर पाता है। इससे क्षमा स्वभावका ध्यान रखते हुए क्रोध भावको दूर करनेका ही ध्यान रखना चाहिये। क्रोध करनेसे जो अपना उपकारी भी हो उसका भी ये अपकार कर बैठते हैं। किसीने मेरा कितना ही भला किया हो, पर मेरेको क्रोध जग जाय तो उसके भले कामका कोई ध्यान न रहेगा और उसके प्रतिकूल चलना, उसका

विघात करना यह ही चित्तमें रहेगा। तो क्रोध भाव करनेसे लोगोंका भी अहित याने अपकार बन जाता है।

क्रोधकी महती अनर्थकारिता—कोई समर्थ आदमी क्रोधमें आ जाय तो कितना अनर्थ कर डालता, असमर्थ आदमी क्रोधमें आ जाय तो उसमें इस समय तो सामर्थ्य नहीं है कि दूसरेका अनर्थ करे पर निरन्तर इस धुनमें रहता तो अपना अनर्थ करता, और कभी मौका पाता तो दूसरेका भी अनर्थ करता। एक पौराणिक घटना बताया है कि एक राजा जिसके राज्यमें दण्डक बन भी था, वह मुनियोंका बहुत भक्त था, किन्तु उसके मंत्री मुनियोंके विरोधी थे। जब राजा बंदनाको गया तो मंत्रियोंको भी साथ जाना पड़ा। वे मंत्री भीतरमे बड़ा कषायभाव रखे थे और कोई घटना भी हुई कि जिससे मुनियोंका अपमान भी हुआ, तो उन्होंने सोचा कि क्या उपाय रचा कि एक भाँड़को बहुत सा लालच दे करके सिखा दिया कि तुम मुनि बनकर पिछी कमण्डल भी कहींसे लेकर रानीके महलमें पहुंचो और उससे कुछ रागवचन बोलने लगो, तो उस भाँड़ने वैसा ही किया, उसी समय राजासे उन मंत्रियोंने बताया कि आप जिनकी भक्तिमें रहते हैं उनका चरित्र भी जानते, बड़ा खोटा होता है और फिर दिखा दिया कि देखो वह मुनि आपकी रानीके पास पहुंचकर किस प्रकारका वचन व्यवहार कर रहा है। अब उस राजाको विवेक न रहा और उसे एकदम क्रोध आ गया और उसने उस दण्डक बनमें ठहरे हुए सारे मुनियोंको कोल्हूमें पिलवा दिया। देखिये जब किसीको क्रोध जगता है तो उसके कुछ विचार नहीं रहता कुछ भी सोचता, कुछ बात करता, मगर क्रोधमें तो विवेक सब खतम हो जाता है। तो जीवनमें एक अपनी साधना यह होना चाहिए कि अपनेमें क्षमाका भाव रहे। उससे लौकिक काम भी सही सिद्ध होते हैं और पारलौकिक धार्मिक कार्य भी सही सिद्ध होते हैं। क्रोधी पुरुषोंको देखा होगा करीब करीब दुर्बल कृश रहा करते हैं। तो मालूम होता कि क्रोध एक ऐसी ज्वाला है कि जिसका प्रभाव शरीर पर भी पड़ता है। अब जिसका इतना प्रभाव शरीर पर पड़े उसका आत्मापर कितना प्रभाव पड़ता होगा इसका भी कुछ अनुमान कर सकते हैं। क्रोध भावमें संयम, व्रत, तप, नियम, विवेक, बुद्धि सब खतम हो जाते हैं। कोई सा भी काम बहुत दिनों तक मिल जुल कर सुधार रहे हैं और किसी समय क्रोधका बेग आ जाय तो प्रारम्भ किया हुआ काम, सुधारा हुआ काम भी नष्ट हो जाता है। तो यह सुभाषित रत्नसंदोह नामका ग्रन्थ है इसमें क्रोध कषायके निवारणके प्रकरणमें आचार्यदेव कह रहे कि क्रोधभाव आत्माका लौकिक भी बिगाड़ करता और पारलौकिक भी बिगाड़ करता है।

तीर्थाभिषेकजपहोमदयोपवासा, ध्यानव्रताध्ययनसंयमदानपूजा: ।
नेदृक्फलं जगति देहवतां ददंते, यादृग्दमो निखिलकालहितो ददाति ।।३६।।

क्षमाका तीर्थाभिषेकादिसे भी अधिक गुणकारिपना—क्षमाभाव स्वयं पुण्यका भण्डार बना देता है । जिसके क्षमा नहीं है वह धर्मके कितने भी कार्य करे तीर्थयात्रा आदिक मगर वे कार्य सफल नहीं हो पाते । क्योंकि इसके क्रोधकी प्रकृति बनी है । प्रायोगिक रूप देखो, कोई यदि भगवानके सामने खड़े होकर पूजा पाठ करे और जरा जरा सी बात पर माली या किसी नौकर पर क्रोध करता हो तो बतावो उसका वह पूजा पाठ कार्यकारी है क्या ? भले ही मुखसे छंद पढ़े मगर भीतर जब क्रोध कषायसे भरा आशय है तो वहाँ पूजा पाठका रंच भी भाव नहीं आ सकता । अनेक पुरुष तीर्थयात्रा करते हैं, कुटुम्बीजन साथ हैं, पड़ोसी भी साथ हैं । यात्रा कर रहे हैं, अनेक यात्रा कर चुके, अनेक अभी करेंगे मगर रास्ते भर क्रोध ही क्रोध बरसता रहे तो फिर बताओ वह तीर्थयात्रा कुछ फलवान हो सकती है क्या ? शान्तिसे समतासे क्षमाभाव रखकर प्रभुके गुणोंका स्मरण करता हुआ यात्रा करता तो वह तीर्थयात्रा थी मगर क्रोधभावमें उस तीर्थ यात्रा पर जिसमें श्रम किया, समय लगाया खर्च हुआ मगर बेकार कर दिया । जितना पुण्य लाभ एक क्षमाभावमें है वह पुण्यलाभ तीर्थयात्रा आदिक कार्योंमें भी नहीं हो पाता, ऐसा क्षमाका महत्त्व जानना । जो सभी देश, सभी काल, सभी क्षेत्रोंमें हित करने वाला है ऐसा क्षमाभाव धारण करें उसमें अद्भुत फल प्राप्त होता है । वैसा फल तो बड़ी बड़ी तीर्थयात्रावोंमें भी नहीं प्राप्त हो सकता । यदि वह क्रोधी बना हुआ तीर्थयात्रायें कर रहा है तो । जिनेन्द्रभगवानका अभिषेक कर रहा, पूजा कर रहा और बात बातमें निरन्तर क्रोधभाव आता है तो उसका कोई फल नहीं ।

पूजकके योग्य भावोंकी व्यञ्जना—पूजा करते समय मनुष्यका ऐसा भाव रहना चाहिये कि सर्व जीव अपने समान नजर आयें । वहाँ जो नौकर हो या माली हो उसके प्रति भी असभ्यवचन, निरादरके वचन, ये प्रयोगमें न आने चाहिए । जैसे कि किसी किसीकी आदत होती है कि पूजा करते जा रहे और मालीको अबे तबे कहते जा रहे, अबे तूने आग क्यों जलाया मुझे धूप खेना है—वहाँ पूजा कहाँ रही ? छोटेसे छोटे पुरुष पर अपने समान भाव होना चाहिए तब तो पूजाका चित्त रहेगा नहीं तो नहीं रह सकता । कौन नौकर कौन मालिक ? स्वरूपको देखें और खासकर ऐसे समयमें जहाँ स्वरूपको दृष्टिमें लेनेका काम कर रहे, पूजाका अर्थ ही क्या है ? आत्मस्वरूपकी दृष्टि बनाना, बस यह ही पूजाका प्रयोजन है । तब ही तो कहते हैं कि हे प्रभो ! तुम्हारे चरण मेरे हृदयमें रहें, मेरा हृदय तुम्हारे चरणोंमें रहे जब तक कि मोक्षपदकी प्राप्ति न हो । अब इन शब्दोंको कोई दूसरा सुने तो क्या कहेगा

कि यह कैसा भक्त है कि भगवानसे यह कह रहा कि जब तक मुझे मोक्ष न मिले तब तक मेरी आपमें भक्ति रहे। मगर यह तत्व ज्ञानी है। वह जानता है कि मोक्षपद प्राप्त हो तो फिर न कोई पूज्य और न कोई पूजक। केवल निजआनन्दरसलीन की दशा रहती इसी लिए कह रहा ऐसा। यदि ऐसा कोई सोचे कि हे प्रभो मैं भव भवमें हमेशा आपका पुजारी रहूँ तो उसके अभी अज्ञान बसा हुआ है। क्या यह हमेशा संसारी जीव ही रहना चाहता? यदि संसारी बनकर रहेगा तब तो पुजारी कहलायेगा। पुजारी जरूर है मगर पुजारी ही अनन्तकाल तक बना रहे भव भवमें यह तो मोह और मिथ्यात्वकी बात है। यदि कोई पुरुष भगवानकी पूजा कर रहा, अभिषेक कर रहा और उस समय क्रोधभाव कर रहा सेवक पर साथीपर तो उसका यह सब करना बिल्कुल व्यर्थ है।

क्षमाभावकी जप तप आदिसे भी अधिक गुणकारिता—कोई तपश्चरण करता, बड़ा तप करता, बहुत-बहुत उपवास करता, गर्मी सर्दी को समतासे सहता, अनेक प्रकारके तपश्चरण करता हुआ भी वह पुरुष यदि क्रोध स्वभाव वाला है तो उसका तपश्चरण व्यर्थ है। दया, उपवास, ध्यान, व्रत आदि ये सभी कार्य हैं तो भले मगर इनको कर रहा पुरुष क्रोधी बन रहा, क्रोध कर रहा तो उसका वे सब कार्य करना व्यर्थ है। इनसे कोई फल प्राप्त नहीं होता। एक क्रोधने इसकी सारी साधना बिगाड़ दी। अपमानका कारण है क्रोध। क्रोध करनेमें ऐसी अटपट चेष्टा हो जाती। ऐसे अटपट वचन निकल जाते, आखिर इसका ही अपमान होता है। कोई पुरुष व्रतका तो पालन करे, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह परिमाण, परिग्रह त्याग, इन्द्रिय विषयोंका त्याग, सर्वप्रकारसे तो साधना बनाये, मगर क्रोध करे तो उस क्रोधका कारण है घमंड। धार्मिक कार्योंको करते हुए भी जिन बंधुवोंको क्रोध आता रहता है तो उसका कारण है घमंड। अपने आपमें यह बुद्धि बनी है कि मैं उच्च हूँ। बड़ा हूँ। ये सब छोटे हैं, ऐसी स्थितिमें क्रोधके अवसर आते हैं।

सर्व जीवोंको स्वस्वरूप सम माननेका प्रभाव—अपनी यह पद्धति बनाइये कि जब धर्मकार्योंमें लग रहे हो मंदिरके, पूजाके कोई भी धार्मिक प्रसंगमें हैं उस समय सबको अपने समान मानना, किसीको भी अपनेसे छोटा न मानना, अगर यह गुण नहीं आता तो वह धर्म नहीं कर सकता। बड़े बड़े कार्य कर लिये जायें धर्मके और भीतरमें अगर यह भाव है कि मैं सबसे अच्छा हूं, ये लोग मेरे सामने कुछ नहीं जानते, करते, इस तरहकी अगर दृष्टि ही बन जाय तो बस वह धर्मसे च्युत हो गया। कहाँ तो सभी समय सभी जीवोंको अपने स्वरूपके समान समझना चाहिए, मानलो कभी इस बातसे चूक भी जायें तो धार्मिक कार्य करनेके समय तो रंच भी न चूकना चाहिए। बल्कि यह मानना चाहिये कि यह मुझसे

महान है। कोई बता सकता क्या कि कौन महान और कौन छोटा ? किसीके भावकी परख कोई कर सकता है क्या ? जहाँ बताया है समंतभद्राचार्यने कि अगर निर्मोह गृहस्थ है तो वह मोक्षमार्गमें स्थित है, पर मोही मुनि हो तो वह मोक्षमार्गमें स्थित नहीं और वह गृहस्थोंसे भी हल्का है। तब किसीके दिलकी बात कोई जान सकता है क्या ? धर्मके प्रसंगमें यहाँ सभी लोग आये हैं सभी अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार धर्मकार्य कर रहे हैं, कहो बहुत बहुत धर्मका व्यापार करने वाला भी इतना विशुद्ध न हो सके जितना कि एक छोटासे छोटा व्यक्ति विशुद्ध भावों वाला हो जाय। तो यहाँ न कोई महान न कोई छोटा। धार्मिक प्रसंग में सबको एक समान समझना है। सब मेरे समान हैं, मुझसे बड़े हैं। एक भीतरी भावकी बात है। चाहे ऊपर कुछ भी वृत्ति हो, होता ही है ऐसा कि बड़े समूहमें बड़ेको आगे बैठा देते हैं, पर बड़ेका हृदय इतना निर्मल होता है कि उसे बैठना पड़ता है, स्थिति ऐसी है, मगर उनके चित्तमें कोई पुरुष छोटा नहीं है। वे सबको अपने स्वरूपके समान निरखते हैं। ऐसा परिणाम हो तो धार्मिक काम करते हुए पुण्यबंध होगा और वे सब कार्य सफल होंगे। और एक अहंकार आ गया जिसके कारण क्रोध भी आता रहता है तो उसके धार्मिक कार्य सब निष्फल हो जाते हैं। तो जो फल क्षमाभाव धारण करनेसे प्राप्त होता है वह फल धार्मिक बड़े बड़े कार्योंसे भी प्राप्त नहीं होता।

क्षमा स्वभावके लाभ--देखिये—अपने जीवनमें यह गुण तो अवश्य ही होना चाहिये सबको क्षमा करनेका स्वभाव। कोई अज्ञानी है, छोटा है, असभ्य है, बोलचाल भी ठीक नहीं कर पाता तो उसे समझें कि इस आत्माका क्या अपराध ? इसके ऐसा ही कर्मका उदय है, कर्मकी छाया पड़ी है कि यह इस प्रकारकी बात निरखता है। यह तो निरपराधी है। ये सब कषायके वेग हैं, यह सोचकर उसे क्षमा क्षमा कर देता है। हर एक घटनामें जब क्षमा का स्वभाव रखें तो वह भीतर कितनी अलौकिक उपलब्धि पा लेता है और इसीके प्रतापसे उत्तम वचन बोलता है। किसीके प्रति कभी भी कटुवचन न निकालें। उस समय इतना तो सावधान रहना ही चाहिए कि मेरे मुखसे खोटे वचन न निकलें, क्योंकि खोटे वचन निकलेंगे तो किसका अनर्थ करेंगे ? इसही का अनर्थ होगा, दूसरेका क्या अनर्थ हो ? खुद पछतायगा बादमें और दूसरोंका आकर्षण भी हटेगा, दूसरे फिर चाहेंगे भी नहीं इसलिए दुर्वचन किसी भी समय न कहना चाहे खुद पर कोई विपत्ति भी आ रही हो किसीसे पर दुर्वचन कहनेसे विपत्ति मिट जायगी क्या ? अपने भाव और खराब किया। विपत्ति आने पर भी अगर अच्छे वचन निकलेंगे तो वह खुद शरमा जायगा और खुद आपका दास बन जायगा। क्रोधके कारण आपका कोई प्रेमी न बन सकेगा। कोई शत्रु हो उस पर भी क्षमा

भाव धारण करें तो वह अन्य मित्रोंसे भी ऊंचा मित्र बन जायगा। इससे जीवनमें क्षमाभाव का स्वभाव बनै और अपने वचन हितमित प्रिय ही निकलें ऐसी अपनी योग्यता बने फिर ऐसा जीवन रहेगा निर्बाध कि आप अपने आत्मस्वभावकी दृष्टि रखकर धर्मसाधनामें खूब बढ़ सकेंगे। इससे जीवनमें बस दो बातें बनें—आत्माका स्वभाव रखना और दूसरोंसे अच्छे वचन कहना, हितकारी हों, परिमित हों और प्रिय भी हों, ऐसा जीवन रहेगा तो उस जीवनमें धर्मसाधना बन सकेगी।

भ्रूभंगभंगुर मुखो विकरालरूपो, रक्तेक्षणो दशन पीडित दंत वासा।।
त्रासं गतोऽतिमनुजो जननिंद्यवेष: क्रोधेन कंपित तनुर्भुविराक्षसो वा ।।४०।।

क्रोधकी निन्द्यता—क्रोधके आवेशमें आकर इस मनुष्यकी भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं और मुख भी टेढ़ा हो जाता है। क्रोध ऐसा पिशाच है कि जिसकी मुद्रा मुख पर भी झलकने लगती है। उसकी विकराल मुद्रा हो, जाती है। क्रोधी पुरुषकी आँखें लाल लाल हो जाती हैं, दाँतोंमें मिसमिसी बंध जाती है। क्रोधी पुरुष वचनालाप भी स्पष्ट नहीं कर पाता है। क्रोधमें यह दूसरेको डाटता डपटता है मगर वह सुन भी नहीं पाता कि यह क्या कह रहा है डाटते हुए में क्रोधी पुरुषको आगे पीछे नाना दुःख उठाने पड़ते हैं। उसका वेश भूषा निन्द्यनीय होता है। शरीरमें कम्पन होने लगती है। खड़ा खड़ा भी कांपता रहता, हाथ पैर भी कांपते रहते। क्रोधी पुरुष राक्षस जैसा भयंकर मालूम होने लगता है। क्रोधके वश होकर बड़े बड़े पुरुष भी विपत्तिमें आये। और उन्हें कोई साथी सहाय न हो सका। क्रोधीके प्रति जनताकी स्वयं ही उपेक्षा हो जाती है, उसके प्रति अनुराग नहीं रहता है। ऐसा क्रोधभाव दूर करने पर ही आत्माको अपने स्वभावदृष्टिका और धर्मपालनका उत्साह मिलता है।

कोऽपीहलोहमिति तप्त मुपाददानो दंदह्यते निजकरे परदाहमिच्छुः।
यद्वत्तथा प्रकुपित। परमाजिघांसुर्दु:खं स्वयं व्रजति वैरिवधे विकल्प: ।।४१।।

क्रोधीका स्वतः विनाश—क्रोध करने वाला पुरुष जिसपर क्रोध करता है और उसके बिगाड़के लिए चेष्टा करता है सो उस दूसरे पुरुषका बिगाड़ हो अथवा न हो, किन्तु इस क्रोध करने वाले पुरुषका बिगाड़ नियमसे हो जाता है। जैसे कोई मनुष्य किसी दूसरेको जलानेकी इच्छासे आगका अंगारा हाथमें उठाकर मारे तो जिसके मारा वह जले या न भी जल सके इसका कोई नियम नहीं, पर जलाने वालेका हाथ नियमसे जलेगा। यही हालत क्रोधी पुरुषकी है। क्रोधके प्रसंगमें पुराणोंमें कितनी ही कथायें आती हैं कि किसी ने किसी दूसरेके लिए कुछ अनर्थ विचारा पर हुआ क्या कि खुदका ही अनर्थ हो गया, दूसरे का नहीं। क्रोधी पुरुष अपने बैरीको मारनेकी चेष्टा करता है तो तत्काल भी वह बड़े संक्ले-

शमें रहता है और ऐसा ही उसके कर्मबन्ध होता कि उनके उदयमें आगामी कालमें भी वह दुःख पायगा खोटी योनियोंमें जन्म लेगा। तो यह क्रोध एक बहुत भयंकर रोग है इससे दूर रहने वाले पुरुष ही सत्संगति ज्ञानलाभ आदिकके लाभ लूट पाते हैं।

वैरं विवर्धयति सख्यमपाकरोति, रूपं विरूपयति निंद्यमतिं तनोति।
दौर्भाग्यमानयति शातयते चकीर्ति, रोषोऽत्ररोषसदृशो न हि शत्रुरस्ति ॥४२॥

क्रोधीकी चिरकाल कष्टकारिता— क्रोधके सदृश इस जगतमें कोई भी शत्रु नहीं है। यह क्रोध रूपी बैरी लोगोंसे बैर बढ़ा लेता है जिसके फलमें यह अनेक भवोंमें मरण पायगा। कोई यहाँ देहधारी बैरी हो तो भी अधिकसे अधिक क्या करेगा? एक बार जान ले लेगा तो एक ही बार मरण हो सका। पर क्रोधसे जिनके गुण भस्म हो जाते हैं, नाना संस्कार बना लेते हैं वे प्राणी भव भवमें दूसरेके योगसे मरणको प्राप्त होते हैं। क्रोधी पुरुषको मित्रता किसीसे भी नहीं निभ पाती। यह सबके लिए अनुभूत प्रयोग है। क्रोधीके चित्तमें सदैव विड-म्बना बनी रहती है। क्रोधी पुरुष अपना रूप बिगाड़ डालता है। कितनी ही क्रोधी महिलायें तो अपना ही शरीर जला डालती हैं। दूसरेको कलंकित साबित करनेके लिए कितना ही उद्यम करतीं, पर उस उद्यममें सफल न होने पर स्वयं आत्महत्या कर लेती हैं। वे किसीके सामने मुंह दिखाने लायक नहीं रहती। क्रोधमें विवेक भी नष्ट हो जाता है। इस क्रोधके कारण बड़े श्रमसे कमायी गई कीर्ति भी नष्ट हो जाती है। इस कारण जो विवेकी जन है वे अपने हितकी भावना रखते हैं और कभी क्रोधभाव नहीं करते।

३—मानमायापरिहाराधिकार

रूपैश्वर्यकुलजाति तपोबलाज्ञाज्ञानाष्टदुः सहमदाकुलबुद्धिरज्ञः।
यो मन्यतेऽहमति नास्ति परोऽधिकोऽपि मानात्स नीचकुलमेति भगवाननेकान् ॥४३॥

आश्रयभूत कारणोंके उपयोगसे कषायकी व्यञ्जना—यह माया और अहंकारको दूर करनेका उपदेश वाला तीसरा प्रकरण है। जीव सीधा स्पष्ट प्रतिभासमात्र अमूर्त है, उसका जिसको बोध नहीं होता वह अज्ञानी पुरुष बाह्य पदार्थोंके संगसे अपने आपमें अभिमान बसा लेता है। अभिमानके आश्रय हैं ज्ञानमद आदिक ८ प्रकारके मद। जगतमें निमित्त नैमि-त्तिककी व्यवस्था सही ढंगसे चल रही है। अटपट नहीं है कि कोई ऐसा मान ले कि नैमि-त्तिक काम हो तो निमित्त कहा जाता है। यदि मेरा पैर अग्निपर पड़ जाय तो मैं जल जाऊँ, तब वह अग्नि कहलाये ऐसा तो नहीं होता। योग्य उपादान निमित्तसन्निधानमें अपना प्रभाव बना ही लेता है और आश्रयभूत कारणका अन्वय व्यतिरेक नहीं है, ये सब बाहरी पदार्थ आश्रयभूत कारण हैं। इस कारण इनमें उपयोग लगे तो ये कारण बन जाते हैं और उपयोग न लगे तो कारण नहीं बनते। ये आश्रभूत कारण आरोपित कारण कहलाते हैं।

सुन्दरताके अहङ्कारका दुष्परिणाम--

घमंड करनेके आश्रयभूत *कारण क्या क्या हैं ? पहला ले लीजिए सुन्दरता, क्योंकि* जीवका शरीरके साथ घनिष्ट सम्बंध है। और शरीरमें ही सुन्दर रूप दीखा तो उसका वह अभिमान करने लगता है कि मैं बहुत सुन्दर हूं, यद्यपि अपने लिए अपना शरीर सभीको सुन्दर जचता है करीब करीब। बिरला ही पुरुष ऐसा सोचता होगा जिसको कि भयंकर रोग हुआ हो, मुख सारा चेचकके दागोंसे खराब हो गया हो, अत्यन्त कुरूप हो तब ही वह अपनेको मानेगा कि मेरा रूप बिगड़ गया। साधारण बिगड़े हुए रूपमें भी कोई पुरुष अपनेको कुरूप नहीं अनुभव कर पाता। तो इस सुन्दरताके अभिमानमें अपनेसे भी कोई सुन्दर हो तो वह सुन्दर न जंचेगा, स्वयं ही सुन्दर जंचेगा इसमें कितना तीव्र मिथ्यात्व है कि देहके साथ उसने एकता मानली। यह है सो मैं हूं। यह ही मेरा सर्वस्व है। अपने ही देहकी सुन्दरतासे अपना महत्व आंक रहा है उस पुरुषको आत्मस्वरूपकी सुध कैसे हो सकती है ? जिसे आत्म-ज्ञान चाहिए उसको क्रोधकी तरह मानका भी खण्डन करना होगा। क्रोधसे मान और भी विकट कषाय है। यद्यपि ये चारों कषाय सब अपने-अपने हिस्सेमें विकट ही विकट हैं, किन्तु किसी दृष्टिसे मान कषाय अतिविकट है क्योंकि क्रोध कषायका बेग होता है और कुछ समय क्रोध शान्त होता है, पर मान कषाय ऐसी भीतर जमी हुई है कि उसका निकलना कठिन होता है। और क्रोधके बलपर होता है। क्रोधके कारण प्राय: किसीको मान हुआ क्या ? मानके कारण क्रोध हुआ यह बात प्राय: देखी जाती है। तो जो क्रोधकषायकी जड़ है वह मान कषाय अति भयंकर है। जो जगत अन्य जीवोंको तुच्छ मानता, छोटा मानता उसकी दृष्टिमें चैतन्यस्वरूप कहाँ रहा ? वह अन्य जीवोंको अपने समान कैसे मान सकता है ? सुन्द-रतामें अभिमान करने वाला पुरुष अपनेको तो बड़ा मानता है और अन्य कोई रूपमें बड़ा भी हो तो भी उसका अपमान ही करता है। अपने दिलमें उपेक्षा करना यह ही उसका अपमान है। इस मानका फल है नीच कुलमें उत्पन्न होना।

जीवकी सर्व घटनावोंमें जीवकी मूल जिम्मेदारी—देखिये शरीर पौद्गलिक है, उसकी रचनाका कर्ता यह जीव नहीं है। मगर जीवने जिस प्रकारके भाव किया था, जिस प्रकारके कर्म बंधे थे उस प्रकारके कर्म उदयमें आये हैं। तो यों शरीर रचना हुई है। तो शरीररचनाका मूल जिम्मेदार जीव ही रहा। तो जो सुन्दरताका अभिमान करते हैं वे नीच कुलका बंध करते हैं और अशुभ प्रकृतियोंका बंध करते हैं। आगे भविष्यमें उनको फिर सुन्दर शरीर नहीं प्राप्त हो पाता।

प्रभुताके मानका दुष्परिणाम—लोग प्रभुतापर अभिमान करते है। कुछ लोकमें

चला चलने लगा, अपनी बात निभने लगी तो वे अपनी प्रभुता याने नेतागिरीपर अभिमान करने लगते हैं। मैं तो सबका प्रभु हूं। मैं जैसा ले जाऊं वैसा ये चलते हैं। तो उसे प्रभुताका अभिमान हो जाता है। इस अभिमानमें भी वह अन्यको तुच्छ मानने लगता। अभिमानका स्वरूप ही ऐसा है कि वह दूसरोंको तुच्छ मानने लगे, लेकिन अभिमान करने वाले पुरुष ऐसे कारण कलाप प्राप्त करते हैं, उनको ऐसी कोई घटना सामने आती है जिससे उनको विषाद बहुत भोगना पड़ता है। मानो दिलमें तो यह बसा रखा कि मैं इन सबका मालिक हूं प्रभु हूँ, जिस रास्तेसे इन्हें ले जाऊं उस रास्तेसे ये चलेंगे। मेरे हुक्मके खिलाफ ये नहीं हो सकते और कदाचित इस प्रभुतामें बाधा आये, किसीने आज्ञा न माना तो यह बेचैन हो जाता है, ऐसी बेचैनी बहुतोंके पायी जाती है। कोई अपनी बात न माने तो वह बड़ा खेदखिन्न होता है। लौकिक बातोंमें तो ऐसा होता ही है। मगर कोई अज्ञानी पुरुष कुछ धर्मकी बात बोलने लगा हो और वह अपनी ही बात सबको बताये, समझाये और मान रहा हो कि मैं इन सब में अधिक जानकार हूं और कोई बात न माने तो वहाँ भी झगड़ा खड़ा हो जाता है। बड़ी बड़ी मीटिंगोंमें या धार्मिक चर्चावोंमें विवाद क्यों होता है? उसमें कारण है मद। मैं इन सबमें बड़ा हूं, समझदार हूं, जो मैं कहता हूँ वह इनको मानना चाहिये ऐसा भीतर भाव भरा है। उसके कारण विवाद विसम्वाद चलता है। प्रभुतामदमें दूसरोंको अपनेसे हीन मान लेता है। घमंड भी कभी कभी शरीरपर दिखने लगता है। घमंडके आसनसे बैठना, घमंड जैसा मुख बनाना, घमंड जैसी बात बोलना, इन सबसे प्रभुताका, घमंडका अनुमान बनता है। प्रभुताका मद भी एक विकट विष है कि जिसमें यह जीव अपनी सुध नहीं ले पाता। बताते हैं कि अनात्मज्ञ लोग आत्माका ऐसा उपदेश करते कि जिसको सुनकर दूसरे लोग सुलट जायें और खुद न सुलटे। उसका कारण क्या है? तो उसके ये ही सब कारण है। भीतरमें मोह है जिसके कारण प्रभुताका मद बना हुआ है। उस मदमें आत्माकी सही बात को कह रहा है, पर अपने आपमें असर नहीं होता। दूसरे लोग भले ही सुलट जायें। प्रभुताका मद भयंकर विष है।

कुल जाति मदका दुष्परिणाम—अनेक लोग कुलका जातिका मद करते हैं। यद्यपि यह बात पायी जाती है कि जो उच्च कुलमें जन्म लेता है उसकी प्रवृत्ति सभ्यताकी रहती है और उच्च विचारकी रहती है, यह बात प्रायः पायी जाती है। पर नियमकी बात यह भी नहीं है, किन्तु वहाँ कोई कुलके उपयोगसे अपने आपमें गर्व करे तो वह तो उसके लिए दोष हो गया। जीवका कुल क्या? जीव तो देहरहित चैतन्यस्वरूप है। उसके लिए देहका सम्बन्ध होना ही कलंक है। अब उस कलंकमें ही ऊँच नीचपनका विकल्प बनाते हैं तो यह तो

स्वरूपदृष्टिका साधक नहीं है। जिसको जाति कुलके विकल्पमें धर्मका आग्रह बनता है वह आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं पा सकता। जो है सो है, उच्च कुल मिला है, ठीक है, भली बात है, मगर उसको ही दृष्टिमें रखे कोई कि मैं अच्छे कुलमें पैदा हुआ हूं, मैं उच्च कुल वाला हूँ तो इस अभिमानमें आत्मस्वरूपकी दृष्टि नहीं बन पाती। यह तो अच्छे आचार विचारका फल है कि उच्च गोत्र बन गया, उच्च गोत्रमें जन्म हो गया, मगर मैं उच्च कुलका उच्च जातिका हूं इस प्रकारका अभिमान बसाये तो उसे आत्मदृष्टि नहीं जग सकती। व्यवहारके प्रसंगमें भले ही कुल काम आये, मगर स्वानुभूति, मोक्षके योग्य भाव, दोषोंसे हटना, इसके लिए कुलकी बात चित्तमें रखना बाधक होता है, क्योंकि वह तो बीचमें ही अटक गया। यह उपयोग आत्माके अभिमुख रहा, और इस अटकके कारण उसके आत्माकी दृष्टि नहीं बन सकती। जो पुरुष कुलका अभिमान रखता है वह इस अभिमानमें दूसरोंको तुच्छ समझता है। जैसे मानो जैन धर्मके मानने वाले वैश्योंमें अनेक कुल जातियाँ हैं खण्डेलवाल, अग्रवाल, परवार, ओसवाल, जायसवाल आदिक अनेक जातियाँ हैं तो जैनत्वके नातेसे वे सब समान हैं। उनमें कैसे कहा जायगा कि ये ऊँचे हैं और ये नीचे हैं? मगर लोकमें प्रायः देखा जाना कि जो जिस कुलमें जन्मा है वह उसमें ऐसा अनुभव करता है कि श्रेष्ठ तो मेरा कुल है। बाकी कुल तो यों ही साधारण हैं। ऐसी बुद्धि है तो यह दोष वाली बुद्धि है। भले ही कुछ थोड़ा बहुत अन्तर हो रीति रिवाजके कारण लेकिन उस कुलका जो अहंकार है वह अहंकार ही स्वयं दोष है और इन दोषोंमें वह स्वानुभवका पात्र नहीं रहता। स्वानुभूतिके लिए तो यह ध्यान बनना चाहिए कि मैं देह नही हूं। मेरे देह नहीं है। मैं केवल चैतन्यस्वरूप मात्र हूं, यह दृष्टि बननी चाहिए। कुलकी बात तो बहुत ही दूर रही। जब देहसे विविक्त अपने आपको निरखेंगे तब ही तो हम आत्माके अभिमुख बन पायेंगे। तो यह कुलमद अहंकार अपने आपका ही घात करने वाला है और अहंकारमें नीच गोत्रमें जन्म हुआ करता है।

तपोमदका दुष्परिणाम– अनेक लोग अपने तपश्चरण, आचारोंपर अहंकार करते हैं। आचरण किया जाय सही, पर सही आचरण करके, तपश्चरण करके यह अहंकारभाव मैं अन्य जीवोंसे मैं ऊँचा हूं, मैं ऐसा कर लेता हूँ, तो यह अहंकार तो खुद दोष हो गया, फिर आचरण कहाँ अच्छा रहा? नम्रता, विनय, मार्दवधर्म, ये ही तो आधार हैं इस आचारके। इनका विघात कर दिया। तो जो पुरुष तपश्चरण, आचार आदिकका अहंकार करते हैं वे अन्यको नीच समझने लगते हैं। जैसे आचरणोंमें सबसे ऊँचा धर्म है मुनिधर्म। अब वहाँ भी यदि कोई मुनि अच्छे आचरणसे रहकर इस प्रकारका अनुभव बनाये कि मैं ऊँचा आचरण करता हूं, जो आचरण अन्य मुनियोंसे न बने, ऐसे आचरणसे मैं रहता हूं, तो यह तो उसके लिए

दोष बन गया। तपश्चरण भी किया, कष्ट भी सहा और दोष बन गया। चैतन्य स्वरूपकी दृष्टि पानेपर श्रावकको कैसा होना चाहिए, मुनिको कैसा होना चाहिये, ये सब बातें आसानी से (सुगमतासे) अपने आप आ जाती हैं और जहाँ देहके आधारसे अहंकार आ जाता वहाँ सब बातें उल्टी पड़ जाती हैं। बड़े बड़े मुनिराजोंको भी जो तपश्चरण आदिक पर अहंकार हो जाता है। उसका कारण क्या है कि उसने देहका लगाव रखा और देहको देखकर माना कि यह मैं मुनि हूं तो देह बुद्धि हुई, मोह हुआ, जहाँ मोहभाव आया वहाँ अच्छा आचरण कहाँसे आ सकता जो मोक्षमार्गके अनुकूल हो।

बलमदका दुष्परिणाम—अनेक पुरुष बलका अहंकार करते हैं। शरीरमें बल विशेष हुआ तो मैं बलिष्ट हूं, मैं इनसे ऊँचा हूं, ये सब शक्ति हीन हैं, कायर हैं, ये मुझसे बहुत हल्के छोटे हैं, इस प्रकार बलका अहंकार बन जाता है, मगर जो बलका अहंकार कर रहा है उस का आत्मा निर्बल हो रहा है, यह उसे ख्यालमें नहीं है। यदि शारीरिक बलसे बड़ा माना जाय तो इस मनुष्यसे बड़े तो भैंसा, हाथी आदिक अनेक जानवर हैं, यह मनुष्य तो उनके आगे बलमें कुछ भी नहीं है। शारीरिक बल तो एक मैल है आत्माका। यद्यपि कभी कभी ऐसा अनुरूप चलता है कि आत्मा विशुद्ध होता है, तो शरीरका बल भी बढता है मगर शरीरबल अन्य चीज है, आत्मबल अन्य चीज है। शरीरबल वाले बीसों भैंसोंको आत्मबल वाला एक ८ वर्षका बालक भी डंडेके जोरसे हाँक देता है। जहाँ ले जाना चाहे ले जाता है। शारीरिक बल और आत्मबलमें बहुत अन्तर है। जिसके आत्मबल है वह तृप्ति पा सकता है, शारीरिक बल वाला तृप्ति नहीं पा सकता, मगर जिनको देहसे ही लगाव है वे देह बलसे अपने आपमें अहंकार अनुभव करते हैं और उस अहंकारमें दूसरोंको छोटा मानते हैं।

बुद्धिमद व आज्ञामदका दुष्परिणाम—किसीको बुद्धिका भी घमंड होता, मैं बुद्धिमान हूं, मैं इन सबमें अधिक जानकार हूँ। ये लोग कुछ नहीं जानते। अरे बुद्धिका घमंड रखने वाला जीव कितना अपने आपको अंधेरेमें रख रहा। जगतके सभी जीव शुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं। उनमें विकारका नाम नहीं, कष्टका नाम नहीं। यह तो सब कर्मकी छाया पड़ रही है। सर्व जीव ज्ञानस्वरूप हैं, ज्ञानघन हैं यह बात उसके चित्तमें नहीं आ सकती जिसमें अपनी बुद्धिका घमंड बना हुआ है, जो सर्व जीवोंमें उस ज्ञानस्वरूपको नहीं तक सकता है वह पुरुष स्वानुभवका कैसे पात्र बनेगा? बुद्धि ज्ञानकी व्यक्तिसे देखें तो केवलज्ञानके सामने मनःपर्ययज्ञानी गणधर देव भी यह मानते हैं कि मेरे ज्ञान कुछ नहीं है, फिर अन्य ज्ञानकी और हम आपके ज्ञानकी तो कथा ही क्या है? थोड़ा क्षयोपशम बढ़ गया, बुद्धि प्रकट हो

गई तो इतनेमें ही अभिमान बन गया तो ज्ञानावरण कर्मका बंध विकट हो रहा और आगे ज्ञानदशा नहीं प्राप्त हो सकती। किसी भी जीवको मूर्ख न तकना और जो कुछ कमी है, जो कुछ मूर्खताकी बात है वह सब कर्मकी छाया है। जीव तो ज्ञानस्वरूप है सो प्रत्येक जीव के बारेमें स्पष्ट निर्णय रहना चाहिए अन्यथा अपनी बुद्धिपर अहंकार आयगा, तो उस अहंकारके कारण अपने ज्ञानका घात करेगा। जो पुरुष बुद्धिके अहंकारमें रत रहा करता है वह पुरुष स्वानुभव नहीं पा सकता, दूसरोंको तुच्छ निरखता है और नीच कुलका बंध करता है। आज्ञामद भी ऐसा ही भयंकर विष है।

नीतिं निरस्यति विनीतमपाकरोति कीर्ति शशांकधवलां मलिनी करोति।
मान्यान्न मानयति मानवशेन हीनः प्राणोति मानमपहंति महानुभावः ॥४४॥

मानसे न्याय नीति व विनयका उल्लंघन—जो पुरुष घमंडी है वह नीति और न्याय को भूल जाता है, वह पुरुष विनय छोड़कर उद्धत हो जाता है और अपनी निर्मल कीर्तिमें धब्बा लगा देता है। किसी पुरुषने कितना ही उपकार किया हो दूसरोंका, पाठशालायें खुलवायीं, शास्त्रप्रकाशन किया, विद्वानोंके व्याख्यान दिलवाये, अनेक गरीबोंको सहायता दी और वह पुरुष किसी सभामें या कुछ पुरुषोंके बीच यह बोलने लगे कि मैंने इस प्रकार इन दुःखियों का ऐसा उपकार किया तो लोगोंकी निगाहमें फिर वह कुछ नही रहता। मानके वचनोंमें उसके किए कराए कामपर पानी फिर जाता है। जो पुरुष अभिमानी है वह न्याय नीतिको भूल जाता है। कैसा बर्ताव करना चाहिए, कैसे वचन बोलना चाहिये, इस बुद्धिको भ्रष्ट कर देती है यह मान कषाय। मानी पुरुष विनय छोड़कर उद्दण्ड हो जाता है। मैं हूं सब कुछ, ऐसा मानता है। वह दूसरे धर्मात्मा पुरुषोंको भी न कुछ जैसा देखता है। कभी कोई धर्मात्माजन, त्यागीजन दिख जायें तो उनके प्रति विनय करना तो दूर रहा, उल्टा उद्दण्डतासे पेश आते हैं। यह एक देहात्मबुद्धि होनेसे अहंकारका रूप बन गया।

अभिमानमें निर्मल यशका भी विध्वंस एवं मान्योंकी अमान्यता—अभिमानी पुरुष चन्द्रमाके समान भी अपनी निर्मल कीर्ति हो तो उस कीर्तिको भी नष्ट कर देता है। रावणके विषयमें लोग यह दोष देते हैं कि उसने परस्त्रीकी वाञ्छा की थी। इससे उसका लोकमें बड़ा अपमान चल रहा है, मगर साथ ही यह भी ध्यान दें कि वह परस्त्रीकी लालसाको उतना तेज न कर सका था जिससे कि वह कुशीलका बर्ताव करता, ऐसा क्यों नहीं कर सका कि उसने एक केवलीके सम्मुख यह नियम लिया था कि जो परस्त्री मुझे न चाहेगी उसके साथ मैं बलात्कार नहीं करूँगा। सो भले ही रावणने परस्त्रीकी वाञ्छा की, लेकिन उसको अपनी प्रतिज्ञा याद रही और अपनी प्रतिज्ञामें दृढ़ रहा। सीताने रावणको नहीं चाहा इससे रावणने

सीताके ऊपर अपने बलका प्रयोग नहीं किया। बलप्रयोगकी भावना ही उसके नहीं बनी एक बात, दूसरी बात—परस्त्रीकी वाञ्छा की उस दोषसे बड़ा विकट दोष उसका अभिमान था, वह जान चुका था कि सीता मुझे चाहती ही नहीं है तो सीताका रखना तो बेकार है मुझे क्योंकि मेरी प्रतिज्ञा है कि जो परस्त्री मुझे नहीं चाहती उस पर मैं बलात्कार नहीं कर सकता। इसलिए सीताको तो वापिस देना ही है, क्योंकि मेरे लिए वह बिल्कुल बेकार है, लेकिन उसके चित्तमें यह बात थी कि मैं इसे दे कैसे दूं, इसमें तो मेरी कायरता समझी जायगी। हां पहले श्रीरामको युद्धमें मैं जीत लूं और फिर सीताको दूं तो इसमें मेरी शान है, इससे मेरा यश बढ़ेगा, यह उसके भाव था। तो आप समझिये कि मान कषाय रावणमें तेज थी। पापकी वासना रावणमें तेज न थी, मगर अभिलाषाकी बात तेज थी रावणमें जिस अभिमानके कारण वह नीति न्याय सब भूल गया था, उसके चित्तमें आया कि मैं युद्धमें जब श्रीरामको जीत लूंगा तब सीताको वापिस दूंगा, वह इस बातको भूल गया कि इस युद्धमें तो लाखोंका विध्वंस होगा और मेरा भी विध्वंस हो सकता। तो अभिमान एक ऐसी विकट ज्वाला है कि जिसमें न्याय नीतिके सारे गुण भस्म हो जाते हैं। बहुत समय और श्रमसे कमाया हुआ निर्मल यश भी इस अभिमानके कारण खत्म हो जाता है। वैसे रावणकी कीर्ति बिल्कुल उज्ज्वल थी, आज भी दक्षिण देशमें लंका वगैरामें रावणके भक्त मिलते हैं, एक उसके अभिमानके कारण उसकी सारी कीर्ति धूलमें मिल गई। अभिमानी पुरुष हीन होकर भी बड़ोंका अपमान करता है, पर जो विचारशील पुरुष हैं वे मानसे सर्वदा दूर रहते हैं। मान कषाय बहुत भयंकर विष है, इसे हटाना चाहिए, उसका उपाय है मानरहित ज्ञानमात्र चैतन्यस्वरूपको अपना अनुभव करें कि मैं तो यह प्रतिभासमात्र पदार्थ हूँ।

हीनाधिकेषु विदधात्यविवेकभावं धर्मं विनाशयति संचिनुते च पापं।
दौर्भाग्यमानयति कार्यमपाकरोति किं किं न दोषमथवा कुरुतेभिमानः ॥४५॥

अभिमानवशीका छोटे बड़े पुरुषोंमें अविवेक भाव—जो पुरुष अभिमानके वशीभूत है वह बड़े और छोटे मनुष्योंको एकसा समझने लगता है। आप कहेंगे कि यह तो अच्छी बात है—बड़े और छोटेको एकसा मान लेना, पर बड़ा और छोटा सबको एकसा मान लेता है, छोटेपनमें सबको एकसा मान लेता है, और अविवेकसे दोनोंको एकसा ही तुच्छ नीचा बर्ताव करने लगता है। मान कषायका नाम लोग अहंकार भी कहते हैं, पर अहंकारका अर्थ मान कषायसे भी और खराब है। मानमें तो दूसरोंकी अपेक्षा अपनेको ऊँचा समझना यह बात आती है और अहंकारमें जो मैं नहीं हूं उसको अहंकर डालनेकी बात आती है। अहंकारका सम्बंध मिथ्यात्वसे है। जो मैं नहीं उसको मैं मानना अहंकार है। अनहं अहं करोति

इति अहंकारः, जो मैं नहीं हूं उसे मैं कर डालना । तो अहंकार और मानका घनिष्ट सम्बंध है । मानकषायका वेग उन्हीं पुरुषोंके आता है जिनके देहमें आत्मबुद्धि है । वहाँ मान कषाय सम्यग्दृष्टिके भी जगता, मगर उसका तीव्र वेग मिथ्यात्व हुए बिना नहीं बन पाता । तो जो पुरुष मानके वशीभूत हैं उन पुरुषोंकी निगाहमें सच्चा प्रकाश नहीं रहता । इस जीवनमें सबसे प्रमुख विशेषता यह होनी चाहिए ऐसा अभ्यास बनाये कि सब जीवोंमें उनका सहज आत्म-स्वरूप नजर आने लगे । दोषकी बात तो बादमें नजर आयी । वह नैमित्तिक है, औदयिक है, परभाव है । इसके स्वरूपमें यह बात नहीं पड़ी है, पर सब जीवोंमें वही स्वरूप है जो मुझमें स्वरूप है । इस दृष्टिका आना कल्याणार्थीको बहुत ही आवश्यक है । जिसके मान भाव है उसके यह दृष्टि नहीं बन पाती ।

अभिमानी पुरुषके धर्मविनाश व पापसंचय—अभिमानी पुरुष अपने धर्मका नाश कर डालता है । अपना धर्म क्या है ? चैतन्यस्वरूप, और उसरूप अपनेको मानना, यह बुद्धि अभिमानमें नहीं रहती है । तो जो अपने आपका विघात करे वह कषाय अपना हितकारी कैसे हो सकता ? यह जगत सब मायारूप है । जो कुछ दिख रहा है सब माया है, मायाका प्रयोग अन्य लोग भी करते, ब्रह्म है, माया है, मिथ्या है, पर मिथ्याका क्या स्वरूप है ? मायाका स्वरूप है—जो दो पदार्थोंके संयोगमें बना हो उसका नाम है माया । जो अकेला न हो, किन्तु अनेक पदार्थोंके सम्बंधसे बना हो वह सब माया कहलाती है । अब आप नजर डालिये कि जो कुछ आपको दिख रहा है वह अनेक द्रव्योंका संयोग दिख रहा या कोई केवल एक द्रव्य दिख रहा । जो ये पिण्ड नजर आ रहे सो अनन्त परमाणुओंका पिण्ड नजर आ रहा । पशु-पक्षी मनुष्य जो नजर आ रहे सो जीव और शरीर कर्मका पिण्ड नजर आ रहा तो यह सब मायारूप है । अभिमान करने वाला पुरुष किसको जताना चाहता है कि मैं ऊँचा हूं । इसका उत्तर उससे पूछो—इन लोगोंको जताना है कि मैं बड़ा हूं तो ये लोग आपके भविष्यके निर्माणकर्ता हैं क्या ? क्यों जताना चाहते ? इनके कुछ समझ लेनेसे उसका कुछ भला होनेका है क्या ? व्यर्थ है अपनी उच्चता दिखाना । धर्मके प्रसंगमें यदि कोई अपनी उच्चता दिखानेका भाव रखता है तो उसे कहते हैं अनन्तानुबंधी मान । और और प्रसंगोंमें व्यापारमें गृहस्थीमें किन्हीं अन्य घटनावोंमें कुछ भाव आ जाता है अपनेमें उच्चपनका तो वह अनन्तानुबंधी मान हुआ । चाहे न हो, पर धर्म प्रसंगमें जो अपनी उच्चताका भाव रखता है और दूसरेको तुच्छ समझता है वहाँ अनन्तानुबंधी मान है । चारों कषायोंमें यह ही बात है व्यापार करनेमें, घर गृहस्थीमें क्रोध आता रहता है, पर धार्मिक कोई अनुष्ठान करतेमें क्रोध आये और ऐसी क्रोधकी प्रकृति रहे और धार्मिक अनुष्ठानके आश्रयसे ही क्रोध करे तो

वह अनन्तानुबंधी क्रोध होगा। माया और लोभसे धार्मिक प्रसंगमें यदि कपट व्यवहार करे तो वह अनन्तानुबंधी माया है, मिथ्यात्वके सहचारी हैं। धार्मिक प्रसंगमें यदि लोभ आये अपनी सामर्थ्य होते हुए भी तो वह अनन्तानुबंधी लोभ है। अन्य अन्य स्थानोंमें कषाय जग जाय तो उसके मेटनेका उपाय धर्मस्थान है, पर धर्मस्थानके सहारे कोई कषाय जगाये तो उसके मेटनेका और क्या स्थान हो सकता है। तो यह मान कषाय, आत्मधर्मका नाश कर बैठता है। और इस अभिमानके कारण निरन्तर पापकर्मका संचय होता रहता है।

जहाँ दुसरोंसे अपनेको अधिक जतानेका भाव आया है वहाँ पुण्यभाव कहाँ रहा? वह पुरुष तो पापरसको और आगे बुलाता है। अभिमान करने वालेका कोई साथ नहीं निभाता। भले ही कोई पुरुष उससे कुछ प्राप्त होता हो तो उस लोभमें आकर उसे निभा ले, पर लक्ष्य भी न हो और फिर भी अभिमानी पुरुषका कोई साथ निभाये, ऐसा कभी नहीं देखा जाता। तो अभिमानी पुरुष दुर्भाग्यको अपने निकट बुलाता है और जो कार्य अच्छे प्रारम्भ किये उन प्रारम्भ किए हुए कार्योंको भी नष्ट भ्रष्ट कर देता है। कुछ भी रचना की, साहित्य रचना की, व्यापारकी बात, भोजन आदिककी बात कुछ भी चीज बनायी और क्रोध आ जाय तो वह अपनी बनायी हुई चीजको भी नष्ट कर देता है, और वह क्रोध मानवश, मानमें आकर वह अपना भी बिगाड़ करता और दूसरेका भी। कहाँ तक बात कहियेगा? ऐसा कौनसा दोष है जिसे अभिमानी पुरुष न कर सके। अपने मानकी रक्षाके लिए लौकिक जन जान जायें इसके लिए वह सब कुछ करनेको तैयार रहता है।

मानविजयसे मानवकी श्रेष्ठता—चार गतियां हैं और चार ही कषाय हैं। नरकगति में क्रोध कषाय मुख्य है, उनका काम है लड़ना भिड़ना, मारना मरना। उनका क्रोध कषाय मुख्य रहता है। तिर्यञ्चगतिमें माया कषाय मुख्य रहती है। अब देखिये—माया कषायकी प्रबलतासे तिर्यंचगतिमें जन्म होता है, पर देखा यह जाता कि उन तिर्यंचोंके मायाका भाव तो बहुत तेज रहता है, मगर मायाका कोई व्यवहार अधिक नहीं कर पाता। कुछ ही जानवर हैं ऐसे जो अपनी मायाका व्यवहार रचते हैं। जैसे छिपकली, बिल्ली, कुत्ता आदि कुछ जानवर हैं ऐसे जो माया कपटका व्यवहार रचते हैं, और है सबके अन्दर मायाकी विशेषता, पर उनकी रचना ही इस प्रकार है कि वे माया कपटका खिलाफ व्यवहार नहीं कर पाते, पर भीतरमें मायाका संताप बना रहता है। इस छिपकलीका नाम यदि कुछ उसकी वृत्तिको देखकर सोचे तो उसका नाम रखना चाहिए छिपकर ली, जो अपना शिकार छिपकर ले सो छिपकली। बड़ी शान्त पड़ी रहती है भीत पर, जैसे कि मानो कुछ हो ही नहीं, एक मरीसी पड़ी रहती और थोड़ा निकटमें कोई मक्खी, मच्छर या कीड़ा कीड़ा गिर जाय तो एकदम

उसे खा जाती है । अब जल्दी-जल्दी बोलनेमें र नहीं बोला जाता तो उसका नाम पड़ गया छिपकली । बिल्ली भी कैसा मायाचार करके अपना शिकार करती है । तो मायाचार प्रधान है तिर्यञ्चमें । और लोभकी प्रधानता है देवगतिमें । लगता है ऐसा कि लोभकी प्रधानता मनुष्योंमें है, लोभके पीछे ही मर रहे, पर ऐसी बात नहीं, चिन्तन करें तो मनुष्योंसे अधिक लोभ देवोंमें पाया जाता, और मनुष्योंमें मान कषायकी मुख्यता है । मनुष्य लोभ करते, तृष्णा करते तो केवल इस दृष्टिसे करते कि लोगोंके बीच मेरी प्रतिष्ठा बढ़े, मैं बड़ा धनिक कहलाऊँ, लोग समझ जायें कि हाँ यह भी लखपति करोड़पति है । तो मनुष्योंके लोभका भी प्रयोजन मान कषाय है । तो यह मान कषाय यदि मनुष्योंसे जीती जा सके तो वे मनुष्य सन्मार्गमें बढ़ सकते हैं ।

माने कृते यदि भवेदिह कोपि लाभो यद्यर्थहानिरथ काचन मार्दवे स्यात् ।
ब्रूयाच्च कोपि यदि मानकृतं विशिष्टं मानो भवेद्भुवभृतां सफलस्तदानीं ।।४६।।

मान करनेपर लाभका अभाव व नम्रता करनेपर हानिका अभाव—इस छंदमें यह बतला रहे कि भाई मानके करनेपर यदि कोई लाभ होता हो तो बताओ ? आत्माके लाभकी बात पूछी जा रही है । मान बढ़ गया मान लो इस देशकी जनतामें, इस देशकी सारी जनता ने इसका नाम जान लिया तो इतने मात्रसे याने दूसरे पदार्थके इस परिणमनसे इस आत्माको कौनसा लाभ मिला ? इसका आनन्द बढ़ा या पवित्रता बढ़ी या मोक्षमार्ग मिला । कुछ भी लाभ नहीं होता । और मार्दवपरिणाम यदि करे, नम्रतासे रहे, अपना उच्चताका भाव न बनाये तो इसके कौनसे प्रयोजनकी हानि हो गई ? बाह्य पदार्थोंकी कुछ भी परिणति हो उससे आत्माको कोई लाभ-हानि नहीं है । हाँ यदि अपना श्रद्धान, ज्ञान, आचरण बिगड़े तो हानि है और श्रद्धान, ज्ञान, आचरण उज्ज्वल बने तो हमारा लाभ है । तो यदि इस संसारमें अभिमान करनेसे किसी तरहका लाभ होता हो और नम्रता करनेसे कोई हानि होती हो तब तो मानकी बात करनेकी सोची जाय ।

मानकी निरर्थकता—मानसे हानि और नम्रतासे लाभ होता है । कोई अभिमानी अपनी प्रशंसा करता हो । तो मान करने वालेने तो अपनी प्रशंसा भी खो दी और जो नम्रता से रहे, उसकी कोई निन्दा करता हो तो बताओ । तो जब मान करनेसे कोई लाभ नहीं और मान न करनेसे कोई हानि नहीं, तब मान करना बिल्कुल निरर्थक है । समाजमें, घरमें झगड़े का प्रधान कारण मानकषाय है । नहीं तो जिस धर्मका हम आप प्रचार करते हैं वह तो प्रभु का धर्म है और उस धर्मकी प्रभावना करनेके लिए हम आपकी उमंग है । तो जितना बने उतनी प्रभावना करें, मगर वहाँ कोई काम बिगड़ता हो तो हम आप क्यों लड़ें ? लड़ें तो

महावीर भगवान लड़ें (हंसी)। देखिये—यदि कुछ ज्ञानप्रकाश किसीको जगा हैं तो समाजमें रहनेके नातेसे जितना बने उतना समाजका उपकार करें। उपकार करने पर भी यदि कोई उपकार नहीं मानता और विपरीत होता तो उससे यही कहे कि भाई हम क्या करें, हमसे अधिक उपकार करते नहीं बनता, पर किसी भी प्रसंगमें मान कषाय करना और दूसरोंको नीचा दिखानेका भाव रखना यह मोक्षमार्गीकी आदत नहीं हुआ करती। उसका तो एक निर्णय बन गया कि मुझे दुनिया जाने तो क्या, न जाने तो क्या, मेरी दुनिया मेरे आत्मामें है। यह ही मेरा लोक है, यह ही मेरा परलोक है। जो कुछ है सो मेरी जिम्मेदारी पर मुझे है। उसके मान कषाय नहीं बनता।

मानी विनीतिमपहृत्य विनीतिरंगी सर्वं निहंति गुणमस्तगुणानुरागः।
सर्वपदां जगति धाम विरागतः स्यादित्याकलय्य सुधियो न धरंति मानं ॥४७॥

मान कषायसे विनय व कृतज्ञताका विनाश—मानी मनुष्य न्यायवृत्तिको छोड़कर अन्यायमार्गमें, कुमार्गमें फंस जाता है। क्योंकि उसका एक ही ध्येय रह जाता कि चाहे किसी को नुक्सान पड़े, किसीका अपमान हो, पर मेरा नाम रहना चाहिए। नाम एक बहुत बुरी समस्या है। बौद्ध दर्शनमें तो जहां आश्रवके कारण बताया है वहां सर्वप्रथम नामको गिनाया है। वेदना, विज्ञान आदिक बादमें कहे गए। तो इस नामके सहारे कितनी ही प्रकारकी अनीतियां हो जाती हैं। सो मानी पुरुष न्यायको छोडकर अन्याय मार्गमें फंस जाता है और कुमार्गमें फंस जानेसे उसके समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं। किसी आदमीको खूब अच्छा भोजन करा दो बढ़िया व्यंजन बनाकर और उसके बाद उसको यदि कह दो कि कहो आज कैसा भोजन खाया आपने ? ऐसा तो कभी आपके बापने भी न खाया होगा तो उस खाने वालेकी ऐसी भावना हो जायगी कि यदि वह सब किया हुआ भोजन कम हो जाय तो अच्छा है। देखिये—सब कुछ उपकार किया, पर एक अभिमान भरे वचन बोल दिया तो सब किया कराया मिट्टी हो जाता है। यह तो बात घरकी है और समाजमें तो और भी सावधानी रखनेकी जरूरत है। घरमें भी उपकार करके अभिमानकी बात न करें और जन समाजमें, जनतामें, देशमें भी उपकार करके अभिमान करनेकी बात न करे। घरमें अभिमान करनेसे तो कहीं वह देरमें लोगोंकी निगाहसे तुरन्त गिर जायगा।

मानके कारण गुणोंका दहन हो जानेसे सब आपदावोंका भार—मान कषाय इतना अहंकार विष है कि मान करनेसे उसके सारे गुण नष्ट हो जाते हैं। उसने कितना ही उपकार किया हो, लोगोंमें उसके प्रति कृतज्ञता आनी चाहिए, पर इस मान कषायके जगनेपर प्राय: लोगोंमें उसके प्रति कृतज्ञताका भाव दूर हो जाता है। उसके गुण फिर लोगोंको नहीं दिखते।

और जब गुण भस्म हो जाते हैं तो संसारमें सारी विपत्तियोंका स्थान बन जाता है। जैसे मानो प्रजातंत्र राज्यमें कोई देशका प्रधान बन गया हो और उसने देशकी भलाईके लिए कितने भी कार्य किया हो, पर जब उससे कोई ऐसा कार्य बन जाता कि जिससे जनताको अतीव कष्ट होने लगता और अन्याय होने लगता और उसकी सब सूझ बूझ खत्म हो जाती तो उस समय वह जनताकी दृष्टिसे तो गिर गया, पर अभी तक शासन है सो कोई कुछ कर सकता नहीं, पर जब कभी शासनमें वह नहीं रहता याने उसका शासन नहीं चलता तब फिर उसका कितना अधिक पतन हो जाता है। अभिमानी पुरुषके फिर उन गुणोंको भी सोचने वाला कोई नहीं रहता कि इसने देशको कितना विशाल बना दिया था। ऐसी ही सभी जीवोंकी बात है। तो अभिमान कितना भयंकर विष है कि जिसके होनेपर फिर लोगों के चित्तसे वह बिल्कुल उतर जाता है, फिर उस पर सारी विपत्तियाँ आने लगती हैं। उसके विरुद्ध कार्यवाही होती है और उन पर अनेक तरहके संकट आने लगते हैं। ये सब बातें अभिमानी पुरुष पर बीतती हैं। तो जिस व्यर्थके मान कषायके कारण सारी विपत्तियाँ आती हैं उस मानकषायको विवेकी पुरुष नहीं करता। इन कषायोंके ऐसे सुन्दर नाम हैं कि उनको अगर उल्टा पढ़ा जाय तो कषाय मेटनेका उपाय नजर आने लगता है। जैसे रोष (क्रोध), मान, माया और लोभ, इनका उल्टा करो। सरो—यदि क्रोधको छोड़ दिया जाय तो काम सरेगा अर्थात् बनेगा। नमा—याने नम जावो तो भला हो, यामा याने यह कुछ है ही नहीं मेरे लिए ऐसी दृष्टि बन जाय तो बस उसका भला हो जाय। भलो—याने लोभ कषाय न रहे तो उसका फिर भला ही भला है। इस प्रकार चारों कषायोंके नाम जो दिए हैं उनको उल्टा करके पढ़ने पर कषायोंके मेटनेका उपाय समझा जा सकता है।

हीनोयमन्यजननोपहिताभिमानाज्जातोहमुत्तमगुणस्तदकारकत्वात्।
अन्यं निहीनमवलोकयतोपि पुंसो मानो विनश्यति सदेति वितर्कभाजः ॥४८॥

अभिमानका फल हीनता जानकर हीन जनोंके प्रति अभिमानकी अवृत्ति—जब कभी लोकमें छोटे कहलाने वाले दरिद्र, भिखारी आचरणसे गिरे हुए छोटे लोग नजरमें आने लगते तो उनको देखकर यह चिन्तन होना चाहिए कि इन जीवोंने पिछले भवोंमें अभिमान किया था इससे ये नीच बन गए हैं। अभिमानका फल है नीच बन जाना, और मैंने पिछले भवोंमें अभिमान नहीं किया था इसलिए मैं उत्तम बन गया, बड़ा बन गया, अच्छे संगमे आ गया। अब यदि इस तुलनाको देखकर कोई अभिमान करने लगे तो उसका फल यह है कि ऐसा नीचा बनना पड़ेगा। तो छोटे मनुष्योंको देखकर तो अभिमान नष्ट होनेका मौका है न कि अभिमान करनेका, उनको देखकर तो यह ध्यानमें आना चाहिए कि इन्होंने अभिमान किया

था इस कारण ये नीच बन गए। यह है अभिमानका फल। ऐसा जो निरखता है वह कैसे अभिमान कर सकता ? तो छोटे लोगोंको भी देखकर विवेकी जनोंके हृदयमें मान कषाय नहीं जगती।

सर्व आत्मावोंके सहजात्मस्वरूपका परिचय होनेसे ज्ञानीके अहंकारका अभाव—मूल बात यह है कि जिसको आत्माके सहजस्वरूपका परिचय हुआ है वह सर्व आत्मावोंमें इस ही स्वरूपको निरखता है। तो जब सब जीव मेरे ही समान हैं, भगवत्स्वरूप हैं तो मान करने का अब कहाँ अवकाश रहा ? मान होता है तब ही जब कि दूसरोंको तुच्छ समझे और अपने आपमें बड़प्पनका आशय रहे। मगर सहज आत्मस्वरूपका परिचय कर लेने पर वहाँ तुच्छपनेका और अपने महानपनेका आशय नहीं रहता। फिर इस विवेकीके मान कषाय नहीं जगता। जीवनमें उतारने लायक यह बात है कि घरमें भी मान न करें, काम अच्छे करें, उपकारके काम करें, पर मान न करें। समाजमें, देशमें, पुरा पड़ौसमें भी काम अच्छे करें, पर उनको करके अभिमान न करें। अन्यथा सब कुछ सबका भला कर दिया, पर मानकषाय जग जानेपर वह सबकी दृष्टिमें गिर जाता है, और जब गिर गया तब लोगोंके सहयोगसे वह हाथ धो बैठता है। एक बात और भी देखिये—मानकषायकी बात सभा सोसायटियोंमें कोई बोल भी नहीं सकता। बड़ीसे बड़ी सेवा करने वाला भी अगर सभाके बीचमें भाषण दे तो वह मैं मैं की बात न कर पायगा, और अगर करता है तो समझो कि उसकी बुद्धि खराब है और उसमें मूढ़ता आयी है। सब कुछ बना देने पर भी वह यह ही तो कहेगा कि भाइयो, आप सबकी कृपासे यह काम बन गया, मैंने कुछ नहीं किया, ऐसा कहता है तभी उसकी इज्जत रहती है और यदि वह यह कहे कि देखिये—आप लोग यहाँ वहाँ भटकते फिर रहे थे, दुःखी हो रहे थे, पर मैंने आप लोगोंकी सुविधाके लिए यह काम कर दिया, धर्मशाला बनवा दिया…ऐसा यदि बोल दे तो समझो कि उसका धन भी लगा, श्रम भी किया, पर उसकी सब बात खराब हो गई। तो जो बात चार आदमियोंके बीच बैठकर बोली नहीं जा सकती वह भाव तो खोटा ही है। इस प्रकारका खोटा भाव करना ही न चाहिए। तो जो पुरुष मान कषायसे दूर रहते हैं वे इस लोकमें भी सुखी हैं और आत्माके स्वभावकी दृष्टि करनेके वे पात्र बने रहते हैं।

गर्वेण मातृपितृबांधव मित्रवर्गाः सर्वे भवंति विमुखा विहितेन पुंसः।
अन्योपि तस्य तनुते न जनोऽनुरागं मत्वेति मानमपहस्तयते सुबुद्धिः ॥४६॥

मानी पुरुषके प्रति कुटुम्बी मित्रवर्ग व अन्य जनोंका अननुराग—मानके कारण माता-पिता, बंधु, मित्र सभी इस मानकर्तासे विमुख हो जाते हैं। किसीको दूसरेका मान

देखना पसंद नहीं। सम्मान देखना तो पसंद है, पर वही पुरुष यदि मान कर रहा हो तो वह नहीं देखा जाता, और यही कारण है कि घरमें यदि कोई मान कर रहा है तो माता-पिता भी उस मानी पुत्रसे विमुख हो जाता है। नाता कब तक है जब तक प्रीति है, राग है। जब राग नहीं रहता तब नाता नहीं रहता। चाहे वह कषायवश नाता टूटे चाहे वैराग्य से नाता टूटे, जब राग नहीं, मोह नहीं तब वह नाता नहीं रहता। जैसे आजकल लड़कियों के विवाहमें लड़केके माता-पिता या खुद लड़का बहुत-बहुत दहेज ले लेते हैं, कहकर लेते, मांग कर लेते, तंग करके लेते, तो चाहे बेटी वाला होनेसे प्रीति करे, परन्तु हृदयसे प्रीति फिर नहीं रहती। ऐसे ही कोई मान करे तो मान करने वालेसे भी हृदयसे प्रीति नहीं रहती। और मित्रता भी तब ही तक टिकती है जब तक परस्परमें कोई एक घमंड नहीं करता। दो मित्र हैं, एक साथ चलते हैं, उनमें अगर एक मित्र मान करने लगे और दूसरे मित्रसे अपना अपमान जाहिर करने लगे या सभाओंमें या किन्हीं गोष्ठियोंमें अपनेको ऊंचा जाहिर करे, ऊँचे आसनमें बैठे, उसे पूछे नहीं, किसी तरह उसे जंच जाय कि यह मान कषायमें आ गया है और मुझे तुच्छ मानता है तो फिर मित्रता नहीं ठहरती। मान कषाय इतनी बुरी चीज है। तो जब घरके ही कुटुम्बीजन विमुख हो जाते मानी पुरुषसे अन्य पुरुष तो अनुराग करेंगे ही क्या ? मानीसे प्रत्येक पुरुष घृणा करने लगता, इस कारण जो बुद्धिमान पुरुष हैं वे कभी भी मान नहीं करते।

आयासकोपभयदुःखमुपैति मर्त्यो मानेन सर्वजननिंदितवेषरूपः।
विद्यादयादमयमादिगुणांश्च हंति ज्ञात्वेति गर्ववशमेति न शुद्धबुद्धिः ॥५०॥

मानीके मानसिक व क्रोधकृत दुःखोंकी बहुलता—मानके कारण मनुष्य मानसिक क्लेशोंको प्राप्त होते हैं। आत्मस्वरूपकी जिन्हें खबर नहीं, देहको ही जो आत्मा मानते हैं, दूसरे देहको भी दूसरा आत्मा मानते हैं ऐसे पुरुष लोकमें अपना मान चाहते हैं, मानके लिए अनेक यत्न करते हैं, सो जब मान सम्मान चाह रहा है उस समय भी मनमें पीड़ा है और उस मानकी बात बनानेके लिए जो प्रयत्न करता है उस समय भी मानसिक पीड़ा है, और जिस समय लोगोंने मान शुरू कर दिया, इसको बड़ा मानना प्रारम्भ कर दिया, इसकी आज्ञा में रहते हैं, इसके हाथमें देशकी बागडोर आ गई। बड़ा मान मिल गया उस समय भी दुःख और कदाचित् यह बागडोर हाथसे चली जाय और साधारण आदमी ही रह जाय तो उस समय भी मानसिक दुःख। तो मानके कारण सदैव मानसिक दुःख होता है, मानके ही कारण क्रोध प्रबल बनता है। जहाँ अपनी प्रतिष्ठा लोकमें गिरते देखा वहाँ क्रोध जग जाता अथवा मान प्रतिष्ठा होने पर दूसरोंके प्रति जरा-जरासी त्रुटि होनेपर इसे क्रोध आने लगता है।

क्रोधका मुख्य कारण मनुष्यगतिमें तो मान है। नरकगतिमें भले ही मानकषायके कारण क्रोध नहीं आता, स्वतः आता ही रहता है। जन्मजात बैरसा बना रहता है, पर मनुष्योंमें जिनको भी क्रोध जगता है उनको मान कषायके ही कारण क्रोध जगता है। घरमें क्रोध आता है तो मानके कारण आता है। किसीने कोई बात न माना, अब जान रहे कि मैं इनमें बड़ा हूं मेरा यहाँ अधिकार है, तो क्रोध आने लगता है। आपसमें झगड़ेका भी मुख्य कारण मान कषाय है। देवरानी जेठानीमें क्रोध बन गया बहुत तो आप घटना जानेंगे तो यह पता पड़ेगा कि दोनोंमें मान कषाय बनी है इस कारण क्रोध जगा है। इसने ऐसा क्यों कह दिया ? यह हमारा हुक्म क्यों नहीं मानता ? कुछ न कुछ मानकी बात है तब क्रोध जगता है। तो जिस पुरुषके मान जग रहा है, उसका उपयोग तो परकी ओर हो ही गया। अब स्वकी सुध कैसे ले ? और स्वकी सुध न लेना। यही सबसे बड़ी विपत्ति है। इसीको भटकना कहते हैं। पर परपदार्थ ही उपयोगमें रह जायें इसीके मायने है आत्माका भटकना। कोई तेज दौड़ लगानेको भटकना नहीं कहते। एक ही जगह बैठे हैं, मगर जगह-जगह उपयोग जा रहा है, अपने आपमें उपयोग नहीं आता, तो इसको कहते हैं कि भटक गया। तो ये सारी आपत्तियाँ मानसे उत्पन्न होती हैं।

मानीके भय और विविध दुःखोंका उद्भव—मानके कारण भय होता है। मैं इतना बड़ा हो गया हूँ। कहीं मेरे बड़प्पनमें हानि न आ जाय। कहीं कोई दूसरा मेरेको कुछ हल्की बात न कह दे। कभी कोई मुझे इस पदसे न उतार दे आदिक अनेक भय जगने लगते हैं जिसके मान कषाय है। एक दृष्टान्त है लालबहादुर शास्त्रीका। वह रेलमंत्री बन गए थे। और केवल एक दुर्घटना हुई तो तत्काल कह दिया कि मैं इस लायक नहीं हूँ जो इस पदको निभा सकूँ, प्रधानमंत्री होनेपर यदि कोई घटना हुई तो तत्काल कह दिया कि मैं इस पदको निभाने लायक नहीं हुं। तो ऐसे पुरुष तो बिरले ही होते हैं, मगर जिसको जो पद मिला उस पदमें वह चिपका रहना चाहता है। चाहे अन्याय हो, मायाचार हो चाहे किसी पर अत्याचार करना पड़े, पर वह अपना पद नहीं छोड़ना चाहता। तो यह क्या है ? यह है उसकी मान कषाय। इस मान कषायसे सदा दुःख है। लोग तो सोचते हैं कि ये बड़े लोग, धनिक लोग या बड़े पद पर पहुंचे हुए लोग बड़े सुखी हैं, पर वे कोई सुखी नहीं है। जरा कुछ दिन उनके निकट रहकर देख लो, वे तो बड़े दुःखी हैं। सुखी शान्त होनेका उपाय वह है ही नहीं। सुखी शान्त होनेका उपाय तो सहज आत्मस्वरूपका ज्ञान ही है, अन्य कोई न हो सका, न है, न होगा। यह तो एक गणितका जैसा हिसाब है सही निमित्तनैमित्तिक भाव है। यदि मछली उछलकर पानीसे बाहर कहीं रेतमें गिर जाय तो वह मछली व्याकुल होती

है। व्याकुल होना ही पड़ता है उसे शांति नहीं प्राप्त होती ऐसे ही यह आत्मा अपने ज्ञानबल से फिरकर दूर बाहर पर पदार्थों में गिर जाय इसका उपयोग पर पदार्थोंमें लग जाय तो सिवाय अशान्तिके दूसरा उसका फल है ही नहीं। परका आश्रय करके कोई शान्ति चाहे तो शान्ति मिलना असम्भव है। जैसे सूईके छिद्रसे ऊँटका निकलना असम्भव है।

जितने भी जीव प्रभु हुए, मुक्त हुए वे सब परका आश्रय छोड़कर ही हुए, सदाके लिए शान्त हुए। तो हम भगवानकी पूजा करें, वंदना करें, दर्शन करें, भक्ति करें और भगवानके बताये हुए मार्गको मानना ही न चाहें तो उसे भक्तिका रूप कहा जा सकता क्या? नहीं कहा जा सकता। जैसे—मान लो कोई पिताकी खूब शारीरिक सेवा करे, खूब हाथ-पैर दबाये, पर उसे खाने-पीनेको न पूछे उसकी आज्ञा न माने जरा-जरासी बातमें उस पर झुंझलाता फिरे तो वह उसकी भक्ति कहलायगी क्या? ना कहलायगी। ऐसे ही प्रभुकी भक्ति तो कोई बहुत-बहुत करे, पर उनकी आज्ञा न माने तो वह प्रभुकी भक्ति न कहलायगी। मान कषाय वालेको गुण कैसे प्राप्त हो सकते हैं? वह तो स्वयं ही अपनेको भगवानसे कम नहीं समझ रहा। वह सन्मार्ग नहीं पा सकता। तो मानमें इतना अनर्थ है।

आबालगोपाल सभीके दुःखोंका मूल प्रायः मान कषाय—जितने भी दुःख होते हैं मनुष्योंको वे करीब मान कषायके वश होते हैं। छोटे-छोटे बच्चोंकी भी हालत देख लो वे भी मानकषायसे दुःखी होते रहते हैं। कोई छोटा बच्चा माँ की या किसीकी गोदमें बैठा हो और उसे नीचे बैठा दे तो वह बच्चा रोने लगता। क्यों रोता? इसलिए कि वह यह समझता कि मैं अभी इतना ऊँचे चढ़ा था, अब मुझे नीचे जमीनमें पटक दिया तो इसमें अपना अपमान समझकर वह रोने लगता है। मान लो किसी बच्चेको लेकर उसके माता-पिता किसी सभामें पहुंच गए और उस बच्चेके मनमें आ जाय कि अब तो मुझे घर जाना चाहिए, पर माता-पिता घर नहीं जा रहे, वहीं सभामें बैठे रहें तो वह रोने लगता है। वहाँ वह यह समझता कि ये मेरे माता-पिता मेरा कहना नहीं मानते, सो इसमें अपना अपमान महसूस कर वह रोने लगता है। तो हर जगह देख लो, क्या नेताजन, क्या साधुजन, क्या गृहस्थजन जो जो भी दुःखी होते वे इस मान कषायके कारण पद-पदपर दुःखी होते रहते हैं। एक बार रुड़कीमें मेरे एक सहपाठीने मुझसे कहा—महाराज आजकल जो बड़े-बड़े मुनियों को भी गुस्सा आते देखा जाता तो उसमें मूल कारण क्या है सो यदि आप कहो तो मैं बताऊँ? तो मैंने कहा—हाँ हाँ बताओ तो सही, पर मैं तो बतानेसे पहले ही समझ गया कि आप क्या कहना चाहते? तो फिर वह बोले—हाँ आप समझ तो गए होंगे पर मेरे मुख से भी सुन लो। तो कहा—अच्छा सुनाओ। तो वह बोले—आजकल मुनि लोग अपनेको

मानते कि मैं मुनि हूं, ऊँचा हूं, पूज्य हूं और ये श्रावक लोग नीचे हैं, ये मेरे भक्त हैं, पुजारी हैं, इनको मेरी आज्ञामें रहना चाहिए.... पर वैसा जब देखनेको नहीं मिलता तो वे पद-पद पर क्रोध कर बैठते और दुःखी होते। तो हमने कहा—ठीक है। देखिये कोई भी मनुष्य दुःखी हो उसमें उसका मूल कारण है मान कषाय।

मानसे विद्या विनय दया आदि सब गुणोंका विनाश—मान कषायसे अभिभूत हो जाना यह सबसे बड़ी एक कमजोरी है। मानके वश होकर यह जीव बड़े-बड़े निंदित कार्य भी कर डालता है, विद्या दया आदिक गुणोंसे भी वह हाथ धो बैठता है। गुरुजी एक घटना सुनाते थे कि कोई एक लाठी चलानेकी विद्या सिखाने वाला गुरु था। उसने कई शिष्योंको इस कलामें निपुण बना दिया। एक बार कोई एक नवयुवक शिष्यके मनमें आया कि मुझे तो गुरुजी से ही लाठी चलाकर उनपर विजय प्राप्त करनी चाहिए। अब गुरु तो था बेचारा बुड्ढा और वह शिष्य था, खूब हृष्ट-पुष्ट नवयुवक। उसने गुरुको भी नीचा दिखाना चाहा सो बोला—गुरुजी हम तो अब आपसे ही लट्ठ चलायेंगे, देखेंगे कि कौन जीतता है? अपने ही शिष्यके मुखसे यह बात सुनकर गुरु दंग रह गया, मगर बोला—ठीक है बेटा, कोई बात नहीं। चला लेना हमसे लट्ठ। आजके १० दिन बादकी तिथि इसके लिए निश्चित कर रहा हूं। इन दस दिनोंमें तुम भी अपनी तैयारी कर लो।....ठीक है। अब गुरुने क्या किया कि कोई १०-१५ हाथका बाँस मंगाया और अपने द्वार पर खड़ा कर लिया। उधर शिष्य इस ताकमें रहा करता था कि देखें तो सही कि गुरु जी अपनी किस तरहकी तैयारी कर रहे हैं, उससे बढ़कर तैयारी मैं करूँगा। सो शिष्यने जब देखा कि गुरुजी ने १०-१५ हाथका बाँस हमसे लड़नेके लिए मंगाया है तो उसने कोई २५ हाथका बाँस लाकर अपने द्वार पर खड़ा कर लिया, क्योंकि गुरुसे बढ़कर तैयारी करनी थी ना? प्रतिदिन उस बाँसमें तेल लगाये, उसे ठीक करे। जब लड़नेका दिन आया तो वह अपना वही २५ हाथका बाँस लेकर आया और गुरु वही तीन साढ़े तीन हाथकी लकड़ी लेकर आया। अब भला बताओ कैसे वह उस उतने बड़े बाँससे लड़े, उसका घुमाया ही न घूमे, और गुरुने उसे छोटी लकड़ीसे ही परास्त कर दिया। तो देखिये—मानकषायके वश होकर वह शिष्य अपनी विद्या भी भूल गया। उसके दिमागमें यह बात न आयी कि इतने बड़े बाँससे मैं कैसे लड़ सकूंगा? मानके वश होकर विद्या भी नहीं रह पाती। इस मान कषायके रहते हुए कोई अपना आत्महित भी नहीं कर सकता। आत्महित चाहने वालोंको तो यह मान कषाय दूर ही कर देना चाहिए, क्योंकि मान कषायके रहते हुए आत्मविद्या टिक नहीं सकती। आत्मविद्या पाये बिना जीवका कल्याण हो नहीं सकता।

स्तब्धो विनाशमुपयाति नतोऽतिवृद्धि मर्त्यो नदीतटगतो धरणोरुहो वा ।
गर्वस्य दोषमिति चेतसि संनिधाय नाहं करोति गुणदोषविचारदक्षः ।।५१।।

दृष्टान्तपूर्वक मानीके विनाशका व नम्रके अविनाशका कथन—इस छंदमें एक दृष्टांत दिया है कि जैसे नदीके किनारे पर सीधा लम्बा खड़ा हुआ कोई वृक्ष हो तो उस नदीके वेग के या नदीके जलसे कट-कटकर वह गिर जाता है, पर नदीके किनारे जो छोटी-छोटी घास लगी होती है वह घास कभी नष्ट होते नहीं देखी गई। वेग आता तो भी नम जाती, मगर बहुत कम उखड़ती हुई देखी गई, पर ऊँचे लम्बे मानी वृक्ष जो इतने ऊँचे लम्बे उठ गए हैं वे नदीके किनारे टिक नहीं पाते इसी प्रकार जो अहंकारसे दूसरेसे नहीं नमता है वह पुरुष संसारमें नाना कष्ट पाता है और नम्र होने वाला यह यश कीर्ति गुणोंको प्राप्त करता है। यह तो है लौकिक बात, पर जो नम्र होगा वह अपने आत्माकी ओर आ जायगा और जो कठोर परमें अपनी जान लड़ाने वाला होगा वह अपनी ओर कहाँ आ पायेगा ? वह तो पर-पदार्थकी ओर ही अपना उपयोग फंसायेगा। देखो गजबकी बात कि यह उपयोग मेरे प्रदेशमें है, मेरी ही चीज है, पर दु.खसे संतप्त होकर यह उपयोग मेरे स्थानको छोड़कर भग गया है। यद्यपि रहा प्रदेशोंमें ही मगर बाहरके बाह्य पदार्थोंमें जब यह उपयोग रम रहा है तो यह कहा जायगा कि स्थानभ्रष्ट होकर यह बाहर भटक रहा है। यह बाहर भटकने वाला उपयोग जो निरंतर दुःखी हो रहा है इसका भटकना और दुःखी होना कैसे मिटेगा ? उसका उपाय है कि यह नम्र बनकर अपने आपके स्थानमें आ जाय।

स्वधामसे जुदे हुए उपयोगका परसे निवृत्त होकर स्वधाममें आनेपर ही शान्तिकी संभूति—जैसे समुद्रका पानी सूर्यकी तीव्र किरणोंसे संतप्त होकर भापके रूपमें उड़कर अपने स्थानको छोड़कर आकाशमें भटकने लगता। वह बादल क्या है ? वह समुद्रका भाप ही है। अब वह पानी मेघके रूपमें स्थानभ्रष्ट होकर आकाशमें यत्र तत्र डोलता है। जहाँ वायुका झोंका लगा उसी तरफ दौड़ गया। अब यह बादल भटकता रहता है। सुयोगसे जैसा वर्षा ऋतु आदिकमें उसमें कुछ गीलापन आया, कठोरताको छोड़ दिया तो वह मेघ और गीलापन आकर वह बदल जाय, नीचे गिर जाय और उसे नीची गली मिलती ही है सब गलियोंसे तो नम्र गलीसे चलकर अपने स्थानमें आ जाता है। समुद्रमें आ जाता है। तो पानी जब तक भ्रष्ट रहा अपने स्थानसे तब तक भटकता रहा, और नम्र होकर अपने स्थानमें आ गया तो वह शान्त हो गया, ऐसे ही हम आपका उपयोग रूपी जल मोह राग द्वेष आदिकके तीव्र आतापसे संतप्त होकर अपने ज्ञान सरोवरसे हट गया और हटकर बाह्य पदार्थोंमें भटकने लगा सो जरा ही वातावरण मिला, आश्रयभूत पदार्थ मिला तो वेगमें आकर उसी ओर बह

गया। यह भटकने वाला उपयोग जब कभी थोड़ा नम्र बने, कुछ इसको अपने आपकी सुध आये और यह बरष जाय। तत्त्वज्ञानमें आ जाय और इसमें फिर विनयभाव आये, नम्रता आये तो उस विनयकी गलीसे चलकर यह अपने ज्ञानसागर आत्मतत्त्वमें मिल जायगा तब यह शान्त हो पायगा। तो जब तक यह मानके वश रहा, कठोर रहा तब तक सर्वत्र भटकता ही रहा। सो जो गुण दोषके विचार करनेमें चतुर पुरुष हैं वे कभी भी मान नहीं करते।

हीनानवेक्ष्य कुरुते हृदयेऽभिमानं मूर्खः स्वतोऽधिकगुणानवलोक्य मर्त्यान्।
प्राज्ञः परित्यजाति गर्वमतीव लोके सिद्धांतशुद्धधिषणा मुनयो बदंति ॥५२॥

अज्ञानी मुग्धजनोंमें गर्व आनेकी प्राकृतिकता—आचार्योंका यह उपदेश है कि जो मूर्ख मनुष्य हैं, तत्त्वज्ञानसे अनभिज्ञ हैं वे तो इस संसारमें अपने से हीन मनुष्योंको देखकर घमंड करते हैं, अपने को ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। एक अहाना सा है ना कि माने जगतमें कुल दो आँखें हैं जिनमें डेढ़ आँखें तो मेरे पास हैं बाकी आधी आँख जगतके सारे मनुष्योंको मिली भयी है। मैं सारे जगतसे बढ़कर तिगुना बुद्धिमान हूं, सो मूर्ख मनुष्य हीन मनुष्योंको देखकर विकल्प करते हैं किन्तु जो बुद्धिमान मनुष्य हैं वे अपनेसे अधिक गुण वालोंको देख कर नम्र हो जाते हैं। अपने से हीन तुच्छ व्यक्ति मानते हैं। चार भावनायें कितनी सुन्दर हैं। (१) सब जीवोंमें मैत्रीभाव करना (२) गुणीजनोंको देखकर हर्षभाव करना (३) दुःखी जीवोंपर दयाभाव करना और (४) अविनयी जीवोंके प्रति मध्यस्थभाव रखना। जिसके मान कषाय है उसके ये चार भावनायें नहीं बन सकतीं। सब जीवोंमें मित्रता तो तब रहे जब सबको अपने स्वरूपके समान मानने पर मानमें अन्तर तो नहीं आ सकता। गुणीजनों को देखकर हर्षका परिणाम करना यह तब ही बनेगा जब खुदमें घमंड न हो। अगर घमंड है तो यह तो भगवानकी भक्ति करके, पूजा करके या मनौती मनाकर तीर्थयात्रा करके महावीर जी या पद्मपुरी वगैरहमें जाकर कोई काम बन जाय तो यह समझता है कि मैंने देखो प्रभुको मना लिया, अपना काम कर लिया। प्रभु भी उतने चतुर नहीं हैं, और हम जो चाहते हैं सो प्रभुसे करा लेते हैं, प्रभुमें भी हमसे अधिक कोई खास अक्ल नहीं है। तो जो मानी पुरुष है वह तो प्रभुसे भी अधिक अपनी महत्ता समझता है, वह गुणियोंको देखकर क्या प्रमोद करेगा, गुणियोंको देखकर क्या दया करेगा और विपरीत बुद्धि वालोंको देखकर कैसे मध्यस्थ रह सकता ? तो मान कषायसे सब प्रकार के अवगुण उसके लग जाते हैं। तो जो विवेकी पुरुष हैं वे मान कषायको दूर कर मानरहित चैतन्यस्वरूप अपने आपको अनुभवते हैं।

जिह्वासहस्रकलितोऽपि समासहस्रैर्यस्यां न दुःखमुपवर्णयितुं समर्थः ।
सर्वज्ञदेवमपहाय परो मनुष्यस्तां श्वभ्रभूमिमुपयाति नरोऽभिमानी ॥५३॥

अभिमानवश प्राप्त नरकवासके दुःखोंके वर्णन करनेकी हजार जिह्वाबोंसे भी अशक्यता—अभिमानी पुरुष अपने अभिमान दुर्गुणके कारण नरकभूमिको प्राप्त होता है। सो उस नरकभूमिमें कितना दुःख है उसका वर्णन करनेके लिए वह भी समर्थ नहीं हो सकता जिसके हजारों जिह्वायें हों। सर्वज्ञदेवको छोड़कर और कोई मनुष्य उस नरकके दुःखका ज्ञान नहीं कर सकता। तो सर्वज्ञदेव भी मात्र ज्ञाता रहते नहीं तो उनको बड़ा कष्ट हो। वे केवल ज्ञातामात्र रहते हैं। जैसे कहीं नदीके किनारेपर खड़े हुये वहाँ पड़ी हुई रेतको एक निगाहसे देख लेते हैं, पर उसे गिन नहीं पाते कि इसमें कितने कण हैं। एक मुट्ठीभर रेत भी नहीं गिन सकते। उसकी भी बहुत संख्या है, तो ऐसे ही एक निगाहसे सर्वज्ञने परख लिया, पर वह दुःख अनन्त है। उसका वर्णन तो कहीं आ ही नहीं सकता, वह नरकभूमि क्या है जिस पृथ्वीपर अपन चलते, बैठते उठते हैं। ये पृथ्वी बहुत मोटी है, और इस पृथ्वीके नीचे तीन भाग हैं, जिसमें ऊपरके पहले और दूसरे भागमें भवनवासी और व्यन्तरोंके भवन बने हुए हैं। नीचेके तीसरे भागमें पहला नरक कहा जाता है, सो तीसरा जो वह हिस्सा है सो एकदम खुला हुआ नहीं है, किन्तु जैसे एक फुट लम्बे चौड़े मोटे काठका पाटिया हो, बीच-बीचमें छिद्र हो १०-२०-५० उन छिद्रोंका मुख न ऊपर है न अगल-बगल, न कहीं वह बीचमें ही छिद्र है ऐसे ही उस तीसरे खण्डमें उस मोटी भूमिमें जगह-जगह बिल बने हैं, मगर वे बिल करोड़ों अरबों योजनके लम्बे हैं और ऐसे बिल पहिले नरकमें ३० लाख हैं फिर इस पृथ्वीके नीचे बहुत सा आकाश छोड़कर दूसरी पृथ्वी आती है। उस दूसरी पृथ्वीमें भी बिल हैं। खुली हुई बिल्कुल जगह नहीं है, लेकिन वे बिल भी करोड़ों अरबों योजनके हैं इसलिए खुला सा लगता है मगर उनका मुख किसी ओर नहीं है निकला हुआ कि जिससे कहीं आसमानमें या पृथ्वीके ऊपर आ सके। ऐसे बिल दूसरे नरकमें २५ लाख हैं। तीसरे योजनमें याने पृथ्वी में नीचे बहुतसा आकाश छोड़कर तीसरी भूमि है, उसके बीच बिल हैं, वह तीसरा नरक कहलाता है। ऐसी ये ७ पृथ्वियाँ हैं जिससे ये ७ नरक कहे गए हैं।

नरकोंके दुःखोंका संक्षिप्त दिग्दर्शन—उन नरकोंमें पृथ्वीके पूर्व भगायें ऐसा दुःख होता कि हजार बिच्छुवोंके डसनेसे भी नहीं होता। तो देखिये उसी पृथ्वीपर उसी नरकमें देव पहुंच जायें तो देवोंको दुःख नहीं होता, ऐसी क्या वजह है ? तो जैसे मानो इसी कमरेमें करंट आ जाय भींतमें या नीचे फर्शमें तो वहाँ खुले पैर पहुंचनेपर दुःख होता है कि नहीं ? होता है। और यदि कोई प्लास्टिक या रबड़के जूते या चप्पल पहिनकर आ जाय तो उसे

करंट नहीं लगता। तो ऐसे ही उन देवोंके शरीरकी ऐसी प्रक्रिया है कि उनको उन नरकों की जमीनसे भी दुःख नहीं होता। भूख प्यासका दुःख, एक दूसरेने मारा काटा उसका दुःख, तीसरे नरक तक असुर कुमार जातिके देव आपसमें भिड़ाकर दुःख बढ़ा दें तो उसका दुःख, ठंड गर्मीका बड़ा कठिन दुःख, यह मान कषाय वाला पुरुष नरकमें जाकर ऐसे दुःखोंको सहन करता है, इस कारण अपने आपकी रक्षा करना हो तो मानकषाय चित्तमें न जगना चाहिए। सब जीवोंको अपने स्वरूपके समान निरखें। जीवनमें व्यवहार भी करना पड़ता आवश्यक, मगर स्वरूप प्रतीति खत्म नहीं हो, इसीके आधारपर मानकषाय न जगेगी। अब मायाके विषयमें कह रहे हैं।

या छेदभेददमनाकनदाहदोहवातातपान्नजलरोधवधादिदोषा।
मायावशेन मनुजो जननिंदनीया तिर्यग्गति व्रजति तामतिदुःखपूर्णां ॥५४॥

मायावी पुरुषोंका तिर्यग्गतिमें जन्म लेकर नाना दुःखोंका सहना—माया कहते हैं छल कपटको, कैसा छल ? कि मनमें और, वचनमें और, करे कुछ और, ऐसी माया जिसमें भरी है वह मायावी पुरुष बड़ा भयंकर होता है, उससे अपनी रक्षा करना बड़ा कठिन है। तो ऐसा मायाचार करने वाला पुरुष मरकर तिर्यंच गतिमें उत्पन्न होता है। तिर्यञ्चगतिमें बड़े कठिन दुःख हैं। ऐसे पशु-पक्षियोंकी बात तो हम आप रोज-रोज देखते ही हैं। गाड़ीमें बैल लदे जा रहे हैं, उसमें कितना ही बोझ लदा है। चलनेमें यदि मंदगति कर दी तो उन पर चाबुक मारे जाते हैं, और जब वे इतना अशक्त हो जायें, वृद्ध हो जायें, कामके न रहें, तो प्रायः लोग अब इस जमानेमें उन्हें कसाइयोंके हाथ बेचनेमें भी रंच संकोच नहीं किया करते हैं। उनको बड़े कठिन दुःख हैं। क्या ऐसे पशु हम न थे ? न जाने कैसे कैसे दुःख भोगे, आज भी यदि अपनी सम्हाल न करें तो बस यही संसारके जन्म मरण चलते रहेंगे। बड़ा कठिन दुःख होगा। यह अवसर ऐसा चेतनेके लिए मिला है कि एकदम अपना मोड़ बना लें और इसी भवमें उसका आनन्द ले लें जो ज्ञानस्वरूप आत्माकी अनुभूतिसे प्राप्त होता है, जिसके प्रसादसे आगेका भव भी ठीक रहेगा और और निकट कालमें ही मुक्ति प्राप्त कर लेंगे। एक निर्णय बना लें कि मुझे तो मुक्तिका उपाय बनाना है और इस जीवनका दूसरा कोई कार्य मेरे लिए है ही नहीं। जो कुछ करना पड़ रहा है सो कर्मोदयवश गुजारा करनेके लिए करना पड़ रहा है, पर मेरे करनेका काम तो केवल मोक्षमार्ग है। मुझे किसी परका विश्वास नहीं, मेरा तो मोक्षका प्रोग्राम है, ऐसा चित्तमें बसा हुआ होना चाहिए, अन्यथा कषायोंमें लगकर फिर संसारका परिभ्रमण बना रहेगा।

मायावी जीवके तिर्यग्गतिके दुःखोंका संक्षिप्त दिग्दर्शन—इस छंदमें बतला रहे हैं कि

जो मनुष्य मायाचार करते हैं वे तिर्यंच गतिमें नाना बाधवोंको सहते हैं। उनके नाक, कान आदि छेद दिये जाते। उनकी नसबंदी जैसे कर दी जाती। जैसे कि किसान लोग बैलोंको नसबन्दी किया करते हैं। वे कोई डाक्टर तो नहीं हैं। वे तो बैलोंको रस्सियोंसे बांधकर गिरा देते और उनके अंडकोषोंको मूसल या किसी अन्य चीजसे कूट-कूटकर उनको नपुंसक जैसा बना देते जिससे कि ये कभी अपनी वीर्यशक्तिको बरबाद न कर सके, और इनकी शक्ति से हम लाभ उठायें। तो इस प्रकारसे उन पशुवोंका छेदन-भेदन करते, जब मर्जी आयी तब उन्हें खाना-पीना दे दिया नहीं तो भूखे-प्यासे बँधे हैं, ठंडी गर्मीके भी बड़े दुःख सहते हैं, बोझा ढोते हुए में यदि चलनेमें कुछ कमी की तो उन पर डंडेकी मार पड़ती है। तो देखिये मायाचारी करनेके फलमें पशु बनकर ये सब दुःख सहने पड़ते हैं। यह माया कषाय बड़ी ही कलुषित है तब ही तो इसको शल्यमें गिनाया है। माया, मिथ्या और निदान ये तीन शल्य हैं। मायाचार करने वाले पुरुषको जीवन भर शल्य बना रहता है। जिनके बीच मायाचार किया है उनके बीच कहीं हमारा कपट खुल न जाय इस शल्यमें वह मायाचारी पुरुष निरंतर रहा करता है, पर मायाचार खुल सबका जाता है। चाहे किसीका जल्दी खुले, चाहे देरमें खुले, पर यह मायाचार प्रकट हो जाता है, और जब मालूम पड़ जाता है लोगोंको कि यह बड़ा छली पुरुष है तो फिर उसकी जिन्दगी बड़ी खराब हो जाती है। उसे कोई पासमें नहीं बैठाता, कोई उसका विश्वास नहीं कर पाता।

मायाचारकी विडम्बनाका एक दृष्टान्त—एक बार एक राजा अपने बगीचेमें घूम रहा था तो उसको एक जगह एक पेड़के नीचे बहुत बढ़िया सेब पड़ा हुआ दिख गया। उसे देखकर राजाका जी ललचा गया, पर पड़ा था वह गोबरके ऊपर। सो उसने पहले तो देखा कि कोई देख तो नहीं रहा, फिर उसे उठाकर, कपड़ेसे पोंछकर खा लिया। अब खा तो लिया, पर शल्य उसे बराबर बनी रही कि कहीं किसीने इस तरहसे हमको खाते हुए देख तो नहीं लिया। देखिये—राजावोंको इस तरहसे खाना तो नहीं बताया। वे तो तब खाते जब कि लोग बड़ी भक्तिपूर्वक थाल सजाकर लायें और निवेदन करें कि महाराज भोजन ग्रहण कीजिए तब कहीं वे भोजन करते। यदि इस पद्धतिके विरुद्ध कार्य करें तो वह तो चोरीमें शामिल हो गया। अब कोई यों भी कह सकता कि वह चोरीकी क्या बात? वह बाग राजा का ही तो याद सो ऐसी बात नहीं। जो विधि है राजाके भोजन करनेकी, उसके विपरीत चेष्टा करने पर चोरी ही कहलायगी। खैर वह राजा बगीचेसे चलकर महलमें आया। तो महलमें प्रतिदिन दिनमें दो ढाई बजेके करीब नृत्य गायन वगैरा हुआ करते थे। सो अनेक प्रकारके गायन हुए, पर उस दिन राजाने किसी भी गायन पर खुश होकर किसीको इनाम न

दिया। सबसे बादमें एक नर्तकी (नृत्य करने वाली) उठी और एक गीत गाते हुए नृत्य करने लगी उस गीतकी टेक थी....."कहि देहौं ललनको बतियां।" अब इस टेकको उस नर्तकीने कई बार बोला तो राजाको यह भ्रम हो गया कि कहीं इसने मुझे बगीचेमें सेब खाते देख तो नहीं लिया जिससे कह रही कि कहि देहौं ललनकी बतियां। अगर इसने सभाके बीच कह दिया कि राजाने गोबरसे भिड़ा हुआ सेब उठाकर बगीचेमें खाया था, तब तो मेरी मिट्टी पलीत हो जायगी, सो यह नर्तकी सभाके बीचमें वह बात न कहे यह सोचकर उसने अपना एक सोनेका आभूषण उतारकर दे दिया। नर्तकीने यह समझा कि राजाको हमारा यह गीत प्रिय लगा सो बार-बार उसीको दोहराये, राजा बार-बार एक-एक आभूषण उतार-उतारकर देता जाय। यहाँ तक कि राजाके सारे आभूषण इसी गीतमें उतर गए। जब एक भी आभूषण पासमें न रहा तो स्वयं बोल उठा—अच्छा जा, कह दे, यही तो कहेगी कि राजाने अपने बगीचेमें गोबरसे भरा सेब उठाकर उसे पोंछकर खाया था...। लो उसकी बात उसीके द्वारा प्रकट हो गई। तो मायाचारी किसीकी छिपती नहीं। एक न एक दिन वह प्रकट हो जाती है। मायाचारी प्रकट होने पर उसे बड़ा दुःखी होना पड़ता है। तो ऐसा निर्णय करके इस मायाचारीके दोषसे बचना ही चाहिए।

यत्र प्रियाप्रियवियोगसमागमान्यप्रेष्यत्वधान्यधनबांधवहीनताद्यैः।
दुःखं प्रयाति विविधं मनसाप्यसह्यं तं मर्त्यवासमवितिष्ठति माययांगी ॥५५॥

मायावी जीवका मनुष्यगतिमें भी जन्म लेकर कठिन दुःखोंका सहन—मायाचारी पुरुष मनुष्यगतिमें भी उत्पन्न हो जाय तो भी वहाँ बड़ा दुःख है। जैसे इष्टवियोग। इष्टवियोग में इस जीवका बिगड़ता कुछ नहीं है, दूसरा पदार्थ है, रहे तो रहे, चला जाय तो चला जाय, किन्तु जिसके ज्ञान नहीं है और इसी कारण उसको बड़ा इष्ट समझ रखा है तो उसका वियोग होने पर कितना उसे कष्ट होता है, सो जगतमें दिख ही रहा है। तो ऐसा मनुष्य इष्ट वियोग का, अनिष्ट संयोगका घोर दुःख भोगता है। जो वस्तु खुदको इष्ट नहीं है उसका संयोग हो तो उसकी बड़ी वेदना मानता है। मायाचारी पुरुष मरकर मनुष्यगतिमें भी उत्पन्न हो तो वहाँ भिखारी, भृत्य, दास जैसा जीवन व्यतीत करता है तथा दरिद्रता, बंधुहीनता आदिकके असह्य दुःख भोगता है और जहाँ शारीरिक मानसिक अनेक बाधायें सहनी पड़ती हैं।

सहजात्मस्वरूपका बोध न होने पर विविध विषयकषायोंकी विडम्बितता—काम एक है कि मेरा जो शाश्वत शरण है, मेरा स्वयंका स्वरूप जो कभी मुझसे हटता नहीं उस ही की दृष्टिमें तृप्त रहना, बस यह ही एक कार्य है, पौरुष है, जिसके बलसे इसकी रक्षा है बाकी बाहरमें इन चर्मचक्षुओंसे जो देखा तो मायावी पुरुषोंको निरखकर ईर्ष्या, दाह, आशा

आदिक कितने ही प्रकारके अवगुण लग जाते हैं, पर जो बाहरमें अंधा है, भीतरमें ज्ञानचक्षुसे जागृत है उसके लिए कोई समस्या नहीं है। बाहरी काम करने पड़ रहे हैं, उन्हें सम्हालता है और अपनी आन्तरिक प्रसन्नताको भी अनुभवता रहता है, आत्मदृष्टिके सिवाय कोई उपाय नहीं है कि यह जीव शान्त हो सके, आनन्दमय हो सके। किसीको अगर बहुत अधिक धनिक देखा, जैसे– बिड़ला, टाटा, बाटा, डालमिया आदि माने हुए देशके दो-चार बड़े फर्म हैं, उनके प्रति तो ऐसा भाव होना चाहिए कि वे तो बेचारे बड़े कष्टमें हैं, क्योंकि उनको आत्माकी अनुभूति, पहिचान, दृष्टि करने तकका भी समय नहीं मिलता, निरन्तर आरंभ परिग्रह सम्बंधी बात ही उनके चित्तमें बसी रहा करती है, उसकी आशा तृष्णामें ही वे निरन्तर संतप्त रहा करते हैं। ऐसा सोचने पर न उन्हें डाह जगेगी, न इतना बड़ा उच्च होनेकी बात चित्तमें आयगी। पुण्योदयसे यह सब हो रहा है, ऐसा सोचकर वे तृप्त रहेंगे, और अपना लक्ष्य अपने इस शाश्वत चित्स्वरूपका बनेगा। मैं तो यह हूं अमूर्त, ज्ञानमात्र, आनन्दमय, इसमें कष्टका नाम नहीं। ऐसा जिसको ज्ञानप्रकाश नहीं मिला वह अटपट व्यवहार करके विषयोंके पोषण करने की ही धुनमें रहता है। कोई पुरुष मायाचारीमें मरकर मनुष्य भी हो तो भी बड़ी दुर्दशाओं से ग्रस्त वह मनुष्य रहता है।

यत्रावलोक्य दिवि दीनमना विभूतिमन्यामरेष्वधिककीर्तिसुखादिकेषु।
प्राप्याभियोगपदवीं लभतेऽतिदुःखं तत्रैति वंचनपरः पुरुषो निवासे ॥५६॥

मायावी पुरुषका देवगतिमें उत्पन्न होनेपर भी ईर्ष्यादिवश व्यर्थ क्लेश सहन—यह मायाचारी पुरुष कदाचित कारणवश जैसी कि पहले आयु बाँध रखी थी, देवगतिमें भी पैदा हो जाय तो वहाँ भी उसे कठिन दुःख होता है। देवगतिकी इतनी बात सुनकर कि उनको कमाना नहीं पड़ता। जब कभी हजारों वर्षोंमें भूख लगती तो उनके ही कंठसे अमृत झड़ जाता और उससे वे तृप्त हो जाते, फिर भूख-प्यासकी वेदना नहीं सताती। उनका वैक्रियक शरीर है, आयुसे पहले वे मरते नहीं, ऐसी कुछ बातें सुनकर मैं देव बनूं ऐसी भावना बहुतसे लोग करने लगते, मगर देव क्या मनुष्योंसे भले हैं? उनको कष्ट नहीं है क्या? अरे उनको तृष्णा, ईर्ष्या, विरोध, चिन्ता आदिकका बड़ा दुःख होता है। वे देव तो सब ठलुवा ही हैं, न रोजगार करनेकी उन्हें फिक्र, न घर गृहस्थीके सम्बंधकी अन्य कोई फिक्र, तो ऐसा ठलुवापन उन्हें मिला जिससे कि वे बड़े दुःखी रहते, क्योंकि यह मन ऐसा ही विचित्र है कि अन्याय न्यायकी अनेक कल्पनायें करके बड़े दुःखी होते हैं। दूसरेके ऋद्धि वैभवको देखकर मनमें बड़े विषाद किया करते हैं देवगण। अपनेसे किसी दूसरे देवकी कीर्ति अधिक दिखे, वैभव दिखे, सुख अधिक दिखे तो देख करके उन्हें बड़ा दुःखी होना पड़ता।

मायावी पुरुषोंका हीन देवोंमें 'उत्पन्न होकर संक्लेशसहित कष्टोंका अनुभव—कुछ देव ऐसे हैं कि उन्हें बड़े देवोंकी आज्ञामें रहना पड़ता। देखिये—उनका कर्मविपाक ऐसा ही है कि उन्हें आज्ञामें रहना जरूरी हो जाता। भला बताओ जिनको किसी प्रकारका कष्टका प्रसंग नहीं वे अगर मना कर दें कि हमें नहीं आज्ञामें रहना है तो इन्द्र उनका क्या बिगाड़ कर सकता ? कुछ नहीं कर सकता, पर ऐसा ही उनका नियोग है कि उन्हें इन्द्रकी आज्ञामें रहना ही पड़ता है। यदि इन्द्र कहे कि हाथी बनकर यह सामान लादकर या इतनी सवारी लेकर चलो तो उन्हें वैसा करना पड़ता। उनका ऐसा ही नियोग है कि वे उस आज्ञाका विरोध नहीं कर सकते। तो जब आज्ञामें रहकर उन देवोंको चलना पड़ता तो भला बताओ उन्हें दुःख न होता होगा क्या ? अरे वे तो बड़ा दुःख मानते होंगे। देवगतिमें न बड़े देवोंको शान्ति, न छोटे देवोंको शान्ति। तो कदाचित् मायाचारी पुरुष देवगतिमें भी उत्पन्न हो जाय तो भी वह भला देव नहीं बन पाता। छोटी जातिका देव बनकर ऐसी ही आज्ञामें रहना पड़ता है जिससे वह अपनेको बड़ा दुःखी अनुभव करता है।

देवगतिमें भी पुरुषोंकी भांति अपमानके दुःख—अच्छा यह दुःख है सो तो है ही, मगर जैसे किन्हीं-किन्हीं मनुष्योंको घरमें सब प्रकारके आरामके साधनोंके बीच रहते हुए भी स्त्री-पुत्रादिकके दुर्वचन सुनकर बड़ा दुःखी रहना पड़ता है इसी प्रकार उन देवोंको भी सब प्रकारके आरामके साधन होते हुए भी देवांगनाओंके रति आदिके समय होने वाले अनेक दुर्व्यवहारोंसे बड़ा दुःखी रहना पड़ता है। यहाँ एक प्रश्न हो सकता कि देवियाँ देवोंके साथ क्या किसी प्रकारका दुर्व्यवहार कर सकतीं ? तो उसका समाधान दिया कि हाँ कर सकतीं। इसे एक दृष्टान्त द्वारा सुनो—ऋषभदेव अपने पूर्व भवोंमें एक बार ललितांग देव हुए थे, उनकी पूर्व भवकी स्त्री एक देवी हो गई थी। जब वह ललितांग देव वज्रजंघ बना तो वह देवी बनी श्रीमती कन्या कहीं। उस श्रीमतीने जब ऊपरसे देवोंको जाते देखा तो उसे पूर्व भवकी याद आ गया और उसने सोचा कि मेरा जो पति था देवगतिमें वही पुरुष मेरा अब पति बने। सो उसे एक घटना स्मरण आ गयी। एक बार किसी बात पर ललितांग देवकी देवीने ललितांग देवके सिरमें लात मारी थी और उसकी निशानी ललितांग देवके मस्तकपर बन गई थी। उस श्रीमती कन्याने ललितांग देवका एक चित्रपट बनाया, उस चित्रपटमें वह निशान उसने अंकित कर दिया। उसका प्रण था कि जो भी देव उस लात मारनेके निशानकी घटनाको सही-सही बता देगा उसीको अपना पति चुनूंगी। सो उस चित्रपटको देखने अनेक लोग आये, सभीने मूर्छाका रूपक दिखाया, इसलिए कि यह कन्या श्रीमती जान जाय कि यही मेरा पति था, पर सभीको वह अस्वीकार करती गई। अंतमें जब जिस देवने उस लात मारनेके निशानकी घटना बतायी तब उसे अपना पति चुना। तो इस घटनाका अर्थ यही हुआ ना कि देवगतिमें भी

दुर्व्यवहार संबंधी कितनी ही बातें चलती हैं, क्योंकि वे कोई ज्ञानी थोड़े ही होते। तो मायाचारी पुरुष देवगतिमें भी जन्म ले ले तो भी उसे देवगतिसे सम्बंधित अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं।

या मातृभातृपितृबांधवमित्रपुत्रवस्त्राशनाभरणमंडनसौख्यहीनाः।
दीनानना मलिननिंदितवेषरूपा नारीषु तासु भवमेति नरो निकृत्या ॥५७॥

मायाचारी पुरुषोंकी दुर्दशा—जो पुरुष मायाके वश होकर दूसरोंको ठगते हैं वे नारियोंमें भी विकृत और दुरवस्था वाली नारियाँ होती हैं। माया एक ऐसा शल्य है कि जिसके कारण धर्ममार्गमें व्रत, तप आदिक भी किए जायें तो भी वे निष्फल होते हैं। यह मायाचार उनके ही जगता है जिनको अपने मायारहित सरल सहज चैतन्यस्वरूपका अनुभव नहीं हुआ। मायाचारी पुरुष अपनेको बुद्धिमान समझता है। उसकी दृष्टिमें अन्य लोग तुच्छ नजर आते। वह जानता है कि इन लोगोंको मेरी कलाका ज्ञान नहीं हो पाता और मैं माया से इन दूसरोंको ठग लेता हूं या अपनी स्वार्थसिद्धि कर लेता हूं, पर जितना भी बाहरी स्वार्थ की बात सोचता है वह सब उसीके लिए धोखा है। जैसे जगतमें कोई किसीका सहायक नहीं। वस्तुका स्वरूप ही वह है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कर्ता नहीं, कुछ उसमें परिणतिमें सहयोग दे सकता नहीं। जो कुछ है वह अपने ही आपकी परिणतिसे चलता है, वह परिणति कैसी होती है यह विषय अलग है, वह नैमित्तिक है। पूर्वबद्ध कर्मके उदयका निमित्त पाकर होता है, क्योंकि वह विकार है। जो भी विकार है वह इसी कारण है विकार कि निमित्त पाकर होता है अतएव स्वभावके अनुरूप नहीं हो पाता। जिसे अपना हित चाहिए उसे कपट जाल छोड़ना पड़ेगा। कदाचित् कपटके बलसे दुनियामें अपना यश भी फैला ले तो भी वह काहेका यश? मायावी पुरुषोंमें थोड़ा मायावी नाम बन गया, इसपर क्या खुश होना, मगर कपटके फलमें जो दुर्गतियाँ मिलेंगी उनकी जगत्का कोई पुरुष मदद न कर सकेगा।

धर्मकी आड़ लेकर कपट व्यवहारकी रचनामें अधिक खतरा—कपट लोक व्यवहार में भी होता, कपट धर्मकी आड़ लेकर भी होता और लोकव्यवहारमें जो कपटका व्यवहार चलता है उससे अधिक खतरनाक है धर्मकी आड़में कपट करनेका काम। जो धर्मकी ओट लेकर कपट करके अपना यश फैलाने पर तुला हो उसके अनन्तानुबंधी माया कषाय समझना चाहिए। अपने उद्धारका मार्ग बिल्कुल सीधा स्पष्ट है। जैसा कि आचार्य देवोंने सीधे शब्दोंमें बताया। स्वभावदृष्टि करिये। स्वभावके आश्रयसे आत्मविकास होता है। और वह स्वभावदृष्टि कैसे बने? जो विकार है यह स्वभाव नहीं है, यह बात समझमें आये तो विकारोंको छोड़ेगा स्वभावदृष्टि बनेगी। विकार मेरा स्वरूप नहीं है, यह बात जब समझमें आती है तब

यह विदित होता कि ये विकार मेरे स्वभावसे स्वत: उत्पन्न नहीं हुए, किन्तु निमित्तकी माया, छाया प्रतिफलन है यह नैमित्तिक है अतएव विकार है, और यह मेरा स्वरूप नहीं है। जो विकारको स्वरूप नहीं मान रहा उसके स्वभावदृष्टिका बल है ही, अन्यथा विकारमें स्वरूपका निषेध कैसे कर लेता ? अविकार चैतन्यस्वरूप यह मैं हूं ऐसा अनुभवन करना यह है सीधा मोक्षमार्ग। अब किसीको अधिक ज्ञान नहीं है, दार्शनिक करणानुयोग आदिक विषयोंका विशेष ज्ञान नहीं है तो उसे सीधी-सादी बातसे ही अपने उपयोगको निर्मल बनाकर अपना काम निकालना चाहिए, पर प्रयत्न यह करें कि हम दार्शनिक और करणानुयोगके ज्ञानके बलसे इस अध्यात्मतत्त्वको स्पष्ट बनायें।

भेद्य पदार्थोंके स्पष्ट बोधसे भेदविज्ञानमें विशेषता—कोई एक घटना है कि एक सेठके यहाँ एक मुनीम और अनेक पल्लेदार रहते थे। उसके यहाँ गल्लेका व्यापार चलता था। अब मुनीमका वेतन था पल्लेदारोंसे कई गुना अधिक। इस बातको पल्लेदार लोग सोच सोचकर बड़ा कष्ट मानते थे कि देखो हम सेठका कितना तो काम करते बड़ा बड़ा बोझ दिन भर ढोते और यह मुनीम बैठे बैठे सिर्फ कलम भर हिलाता रहता कोई खास काम नहीं करता, आरामसे रहता फिर भी इसको हमसे कई गुना अधिक वेतन क्यों मिलता ? इस बातकी शिकायत भी की सेठसे पल्लेदारोंने। तो सेठने उस समय तो कोई खास उत्तर न दिया पर मनमें यह आया कि इनको किसी घटना द्वारा ही मौका पाने पर उत्तर दे देंगे। अब एक दिन क्या हुआ कि पास ही सड़कसे कोई बारात जा रही थी, बड़ा कोलाहल मचा हुआ था क्योंकि बड़े गाजे बाजेसे धूम धामसे बड़े जलूसके साथ वह बारात जा रही थी। सो वहाँ सेठ ने उन पल्लेदारोंको भेजा कि जावो मालूम करके आवो कि सड़कपर वह क्या चीज है। अब वे पल्लेदार कोई पढ़े लिखे तो थे नहीं, सो सड़क पर गए और मालूम किया कि क्या चीज है ? पता लगा कि बारात है और वापिस आकर सेठसे बस इतना ही भर कहा कि वह बारात है। उसी वक्त मुनीमसे कहा कि अब मुनीम जी तुम जावो पता लगाकर आवो कि सड़क पर वह क्या चीज है ? तो मुनीम गया और बीसों बातें पूछ पूछ कर लिख लाया और सेठसे आकर बताया कि बारात है। अमुक जगहसे आयी है, अमुक जगह जायगी। अमुकका लड़का है। अमुकके घर जायगी, अमुक समयमें वापिस होगी। यों बीसों बातें बतायी। तो सेठने उसी समय पल्लेदारोंसे कहा कि देखो तुम लोगोंमें और मुनीममें यही फर्क है कि बात हमने तुम दोनोंसे एक ही कहा कि मालूम करके आवो कि क्या है ? सो मुनीमने तुम लोगोंकी अपेक्षा कितना स्पष्ट करके सब बातें बतायीं। पल्लेदारों की समझमे सब बात आ गई ? ठीक यही बात अध्यात्मके मार्गमें लगायें। बात तो कुल

इतनी भर समझना है कि यह आत्मा सर्व पर भावोंसे विविक्त और अपने स्वरूपमात्र है, अब इतनी सी बातको स्पष्ट रूपसे समझे बिना उसका स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता। किसी ने मानो इतना भर सुन लिया कि ये कर्म धूल है, मेरेसे भिन्न हैं तो इतनी भर बातसे वह स्पष्टता नहीं आ पाती। स्पष्टता तब होती जब कि सब बातोंका ज्ञान हो कि इन कर्मोंका क्या स्वरूप है। क्या कार्माण वर्गणायें हैं, कैसे कर्मत्व आता है, कैसा उनकी स्थितिका बंटवारा चलता है, कैसा विपाक है—ये सब बातें जब स्पष्ट रूपसे समझमें होती है तब उनसे विविक्तताका ज्ञान भी स्पष्ट होता है।

मायाचारीको धर्मनायक बनानेका दुःसाहस—जब तक स्पष्ट ज्ञान नहीं होता तब तक उसका ज्ञान डगमग रहता है। जैसे इन्द्रियके विषयभूत समस्त पर पदार्थ ये सब बाह्य चीजें हैं, यहाँ तक कि न दिखने वाली जो कर्मदशा है वह भी बाह्य चीज है। उसको हम युक्ति और आगमसे स्पष्ट रूपसे समझते हैं, अब जो कुछ भी विकार जगता है उस विकारके जगनेमें निमित्त कारण केवल कर्मदशा है। लोग प्रायः जानते हैं और रोज रोज समझमें आता है कि इन बाहरी विषयोंको आश्रय करके, धन वैभव कुटुम्ब आदिकको ख्यालमें लेकर कषायें जग जाया करती हैं। तो अब अज्ञानमें यह भ्रम हो जाता है कि ये भी निमित्त हैं, जिन विषयोंका आश्रय करके हमारे विकार व्यक्त बनते हैं और कर्मकी बात आगमसे सुन रखी है उसे भी निमित्त कहते हैं। अब जब थोड़ा मनोबल जगता है जिसे कहो अधकचरा विवेक और यह विदित होता है कि ये बाहरी विषयभूत पदार्थ ये तो सच्चे निमित्त नहीं जंचते। कभी ये सामने हों तो भी कषाय नहीं जगती, कभी ये न हों और कुछ हो तो भी जगती, तो निमित्त कुछ नहीं है यों निमित्तमात्रका खंडन करने लगते अरे ये दृश्य निमित्त है ही कहां? ये तो सब नोकर्म हैं और विकारके आश्रयभूत हैं। विकार दशामें निमित्त तो केवल कर्म विपाक दशा ही है। सो जिसके साथ अन्वय व्यतिरेक हो ऐसे परपदार्थको कहते हैं निमित्त और जिसके साथ अन्वय व्यतिरेक न हो किन्तु उपयोगके आश्रयभूत हों ऐसे पर पदार्थको कहते हैं बाह्य कारण आरोपित कारण। कदाचित यह भेद भी ज्ञात हो जाय तो सही बात कहनेमें चित्तमें पोजीशनकी बात सतानेको आती है कि मैं तो अब इस तरह लोगोंको कैसे समझाने लगूं कि ये बाह्य पदार्थ निमित्त नहीं हैं बल्कि केवल कर्मदशा निमित्त है और निमित्तका प्रतिफलन विकार है सो यह नैमित्तिक है। निमित्तत्वका खंडन मैं अज्ञान में करता रहा यह बात कहनेमें शर्म आने लगती है। भैया, ये बाहरी पदार्थ माष आश्रयभूत हैं। निमित्त नैमित्तिकयोगका उल्लंघन नहीं हो सकता है। नैमित्तिकताकी वजहसे तो ये

विकार परभाव कहलाते हैं, मेरे स्वभाव नहीं है। इस सब परिचयसे स्वभाव दृष्टि बड़ी सुगम होती है। मायाचारी पुरुषके मनमें कभी सच कहनेको मन करता है लेकिन तब फिर पोजीशन इज्जत सताने लगती है, कैसे कह दूं ? जो कहता आया पहलेसे, आज उसके विरुद्ध कैसे कह दूं ? नहीं तो सारे जीवनकी कमायी हुई यश कीर्ति मेरी धूलमें मिल जायगी। अब इस प्रकारका यदि ज्ञानप्रकाश प्राप्त है, किन्तु कुछ मायाचार करना पड़ता है तो यह एक ऐसा कर्मविपाक है कि जिसका निमित्त पाकर ऐसा कर्मबंध होता है जो कि दुर्दशा प्राप्त होती है।

निमित्तनैमित्तिक भाव व वस्तुस्वातन्त्र्यके परिचयमें स्वभावदृष्टिकी सुगमता—ज्ञानी पुरुष किसी भी बातमें संकोच नहीं करता। जो सत्य है वही वस्तुतत्व है। वस्तुतः यदि स्वरूप देखा जाय तो ये रागादिकभाव यदि परसंग बिना होने लगें तो आत्मा नित्यकर्ता बन जायगा ऐसा कुन्दकुन्दाचार्यने, अमृतचन्द्रसूरिने, जय सेनाचार्यने स्पष्ट शब्दोंमें अनेक बार कहा "तस्मिन्निमित्तंपरसंगएव, तस्तु स्वभावोऽयमुदेति तावत्" अर्थात् ये रागादिक विकार यदि परसंग बिना हों तब तो ये विकार स्वभाव बन बैठेंगे, फिर ये विकार हटाये नहीं जा सकते। ये विकार तब ही हटाने लायक हैं कि जब ये औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं, मेरे स्वरूप की वृत्ति नहीं है। मैं हूं चैतन्यस्वरूप। मेरेमे मेरे लिए मेरे ही सत्त्वसे जो वृत्ति जगेगी वह केवल चेतनाकी दृष्टि, ज्ञाताद्रष्टापनेकी दृष्टि, अविकार वृत्ति जगेगी। जितने भी विकार जिस किसी भी पदार्थमें आयें, एक जीवकी ही बात क्या पुद्गलमें भी जितने जब जो कुछ विकार आते हैं उसमें भी परसंग ही कारण है। वैज्ञानिक लोग इस पर काफी प्रयोग करते हैं और वे जानते है कि अमुक वस्तुका संग पाकर यह वस्तु इस प्रकार बन जायगी। और हम आप लोगोंके भी रोज रोज घटनायें घटती हैं, जैसा काम रोज करते हैं उस प्रकारकी घटनायें चलती हैं, रोटी पकानेके लिए रोज रोज आग ही सुलगाती हैं महिलायें। कभी उनको यह भ्रम नहीं होता कि रोटी आगमें रोज सिकती थी सो सब अटपट था, आग निमित्त है नहीं, रोटी सिकी तो निमित्त कहलाने लगती है तो आज पानीसे ही रोटी सिक जाय तो क्या हर्ज है। ऐसा पागलपन निमित्तत्व खंडन करने वाले स्वामी स्वामिनी कभी नहीं करते। यह प्रतिनियत व्यवस्था क्यों बनी है ? यह प्रतिनियत व्यवस्था निमित्तनैमित्तिक योगको सिद्ध करती है, पर वहाँ कर्ता कर्मभाव रंच भी नहीं दिखता।

वस्तुस्वातंत्र्य, निमित्तनैमित्तिक भाव, कर्तृकर्मत्वाभावका परिचय होनेपर अहङ्कार व कायरताका अभाव—आत्महितके लिये सत्य ज्ञान प्रकाश आवश्यक है। यदि मैं अपने विकारके बारेमें यह श्रद्धा लेकर बैठूं कि मेरे विकारोंको कर्म कर देते हैं तब तो मैं कायर

बन गया । फिर तो यह उमंग ही नहीं जग सकती है कि इन कर्मोंसे हट सकूं । तो कर्तृकर्म भाव माननेसे अपनेमें विकार मिटनेकी बात कभी हो ही नहीं सकती । ये कर्म कर देते हैं राग द्वेष । यदि ये कर्म ही गम खायेंगे तो ये मेरे रागद्वेष मिटेंगे । मेरा इनमें क्या वश है ? यों कायर होकर सदा भ्रमण करते रहेंगे । ऐसा कर्तृकर्म भाव नहीं है स्वरूपमें, यह बात समझ लें और जान लें कि केवल निमित्तनैमित्तिक भाव है यहाँ कि जो कर्मविपाकका निमित्त पाकर मैं ही खुद रागादिक रूप परिणमता हूं । कहीं कर्म नहीं, रागरूप परिणमते । मैं ही परिणमता हूं । परस्पर कर्तृकर्मभावके अभावकी दृष्टि होनेसे न तो उसे अहंकार जगेगा, न तो यह भाव जगेगा कि मैं दूसरोंका पालन-पोषण करता हूँ, मैं दूसरोंको ऐसा प्रगतिशील बना देता हूं, ऐसा भाव न आयगा । तो अहंकार भाव न रहेगा । यदि कर्ता कर्मकी बुद्धि होवे तो इसके अहंकार बना रहेगा । जगतके जीवोंको क्यों अहंकार बना हुआ है कि वे प्रत्येक द्रव्य का कर्ता अपनेको मानते हैं । मैंने मकान बनाया, दुकान बनाया, लड़कोंको ऐसा कुशल बनाया, मैं समाजको पालता हूं, मैं अमुक अमुक काम कर देता हूं । इस प्रकार परपदार्थोंमें कर्तृत्वकी बुद्धि होनेसे अहंकार जगता है और इसी तरह दूसरे मेरेको दुःखी कर डालेंगे । वे जो चाहे मेरा बिगाड़ कर सकते हैं, यों परकी ओरसे कर्तृत्व माना जाय तो वहाँ कायरता बनती है । पर जो वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव इनका सही परिचय पाते हैं वे न कायर बनते हैं, न अहंकारी बनते हैं, न कुमार्गगामी हो सकते हैं, किन्तु सन्मार्गपर यथा-शक्ति चलते हुए ज्ञानस्वभावकी भावनाको भरते रहते हैं । तो अपना शुद्ध स्वरूप जानें और ऐसा ही दुनियाको बतायें जैसा कि स्वरूप है, उल्टा बतानेका कपट न रखें तो इस जीवकी वर्तमानदशा भी समीचीन होगी । भविष्य भी उज्ज्वल रहेगा ।

मायावी पुरुषोंका दुर्दशापूर्ण नारीभवमें जन्म—जो पुरुष मायावी हैं उनकी उत्पत्ति ऐसे दीन हीन नारियोंमें होती है कि जैसे कोई माताके न होनेसे बेचारी लड़की कहलाती है या पिताके न होनेसे असहाय होती । बांधवका वियोग होनेसे कुटुम्बहीन होनेसे उसका कोई सहायक नहीं रहता । माता, पिता, पुत्र, बांधव आदिक रहित दीन दरिद्र ऐसी स्थिति वाली नारियोंमें जन्म होता है । तो बुद्धिमान पुरुषोंको सोचना चाहिए कि जगतमें कौन सी वस्तु ऐसी है मेरे हितरूप कि जिसकी प्राप्तिके लिए मुझे मायाचारी करनी चाहिये । कोई पुरुष उदार भी हो । धन दौलतकी विशेष परवाह न रखता हो किन्तु उसे यश इज्जतकी ममता लग जाती हो तो उसके कारण मायाचार करता । तो यश कीर्ति नामवरी ये भी असार बातें हैं । यशका क्या अर्थ ? कुछ लोगोंको जिनको कुछ सहूलियत मिल जाय तो उस लोभके कारण वे कुछ नाम गा दें तो आखिर इतना ही तो किया उन्होंने । लोभके

कारण ही तो वे यश गाते हैं, वे कोई ऐसे न मिलेंगे जो बिना लोभके वश होकर यश गाते हो। हाँ जिनमें धर्मरुचि हो वे ही पुरुष धर्मात्माजनोंका, गुणीजनोंका, परमेष्ठियोंका, प्रभुका गुणगान करते हैं। बाकी लोग जिनको वस्तुस्वभावकी श्रद्धा नहीं है वे यदि किसीका गुण-गान करते हैं तो उसमें कोई न कोई लोभ कारण होता है। तो लोभके कारण कुछ पुरुषों ने कुछ नाम गा दिया तो यह गुणगान उनका कहाँ तक सहायक होगा ? उसका क्या महत्त्व है ? मेरेको ऐसा कुछ निर्णय तो रखना चाहिये कि क्या संसारके इन मायामय प्रसंगोंमें, कीर्तिमें ही अपने आपको बहाकर खो दिया जाय ? कुछ नहीं बाहरमें देखना ? कोई कुछ कहे, उससे मेरा उद्धार नहीं। मैं ही आचरणसे यदि सही हूं, मैं प्रभुके मार्गमें चल रहा हूं तो मेरा उद्धार है और प्रभुका मार्ग छोड़कर कुमार्गमें चल बैठें तो मेरा पतन है। कोई दूसरा मेरा न सुधार करता न पतन करता।

देखिये—सबसे बड़ा व्यामोह होता है नामवरीका। सो नामवरी खूब करते जावो यदि होती हो तो। अब पूछा जाय कि बताओ तुम कितने लोगोंमें और कितने क्षेत्रमें नाम-वरी चाहते हो ? तो शायद यही उत्तर होगा कि हम तो संसारके सब जीवोंमें अपना नाम चाहते हैं। अब जीव तो हैं संसारमें अनन्तानन्त। तो क्या संसारके सब जीवोंमें किसीका नाम फैल सकता ? अरे सब जीवोंकी तो बात छोड़ो, सारे मनुष्योंमें भी नहीं फैल सकता। जब ऐसी बात है तब फिर थोड़ेसे परिचित क्षेत्रके थोड़ेसे लोगोंमें अपना नाम चाहनेसे क्या फायदा ? इतना सा परिचित क्षेत्र सारे विश्वके सामने तो कुछ भी गिनती नहीं रखता। विश्व तो ३४३ घनराजू प्रमाण है तो क्या सर्वत्र किसीका यश फैल पाता है ? इस सारी दुनियाके आगे एक बिन्दुभर जगहमें कुछ स्वार्थी जनोंने यदि कुछ यश गा दिया तो इतने व्यामोहसे अपने अनन्त संसार भ्रमणका कारण क्यों बनाया जा रहा है ? अच्छा कितने समय तक यश चाहिए ? क्या कोई कह देगा कि हमें तो बस १००-५० वर्ष ही यश चाहिए ? अरे वह तो यही कहेगा कि हमें तो यश सदैव चाहिए। तो ऐसा कहनेसे होता क्या ? काल अनन्त है। उस अनन्त कालके सामने ये १००-५० वर्ष तो कुछ गिनतीमें ही नहीं आते, इतनासा समय तो एक विशाल समुद्रके एक बिन्दु बराबर है। इतनेसे समयका व्यामोह अगर छोड़ दिया जाय तो सन्मार्ग मिलेगा।

निज सहज स्वभावमें स्वात्मत्वके अनुभवसे उद्धार—जिनका होनहार भला है, जिनको स्वरूपदृष्टि मिली हुई है वे सर्व कार्य अपने आप बना लेते हैं। क्या चाहिए ? स्वभाव का अनुभव। मैं वास्तवमें सहज स्वरूपसे क्या हूं, ऐसा अपनेको सोचना चाहिए। यह बात यदि बनेगी तो सब काम ठीक बनने लगेंगे। फिर अन्य कामोंमें विशेष प्रतिबोधकी आवश्य-

कता नहीं होती। यही एक मौलिक उपाय है अपने आपके उद्धारका। सो जो मायाचार करता है वह अपने सहज परमात्मतत्त्वको ही ठगता है दूसरेको नहीं ठगता। कोई भी ठगने वाला खुदको ठगता है। अब जिसको ठगा जाय उसकी दुर्गति हो, यह नियम नहीं, पर ठगने वालेकी नियमसे दुर्गति होती है। अब बताओ ठगने वाला टोटेमें रहेगा या ठगा जाने वाला। टोटेमें तो ठगने वाला ही रहा, ठगा जाने वाला टोटेमें नहीं रहा। थोड़े प्रसंगोंमें धैर्य खो देना, अपने स्वरूपको भूल जाना और लौकिक रीतिमें बढ़ जाना यह अपने आपके घातके लिए है। इससे नित्य शाश्वत अन्तः प्रकाशमान सहज आनन्दरूप अपनी ही सत्ता मात्रके कारण अपनी चिद्वृत्तिरूप अन्तस्तत्त्वमें यह मैं हू ऐसी दृढ़ पकड़ होनी चाहिये। इस ही पकड़के बलसे हम आपका उद्धार होगा।

शीलव्रतो यमतपःशमसंयुतोऽपि नाश्राश्नुते निकृतिशल्यधरो मनुष्यः।
आत्यंतिकी श्रियमबाध सुखस्वरूपां शल्यान्वितो विविधधान्यधनेश्वरो वा ॥५८॥

नाना सम्पन्नतायें होनेपर मायाशल्ययुक्त पुरुषके शान्तिका असंभवपना—जिसके चित्तमें माया शल्य है वह अनेक तरहकी सम्पन्नतायें होने पर भी शान्त नहीं हो सकता, क्योंकि भीतरमें मायाचारका परिणाम बड़ा कुटिल है और सब जगह अनेक स्थानोंमें इस उपयोगको बुरी तरह भ्रमाता है जैसे कि कोई पुरुष धन-धान्यादिकसे सम्पन्न हो तो भी मन में चित्तमें रहनेसे किसी भी प्रकारका सुख नहीं प्राप्त कर पाता, क्योंकि वह चिन्तासे ही दुःखी रहता है। तृष्णा एक ऐसी बुरी बला है कि अनावश्यक व्यर्थके विकल्प और चिन्तायें करता रहता है। मनुष्यको क्षुधा तृषाको मिटानेका साधन चाहिए और ठंडी गर्मीसे बचनेका साधन चाहिये। इसके अतिरिक्त कोई ऐसी आवश्यक चीज नहीं है कि जिसके बिना काम न सरता हो। इसके अतिरिक्त गृहस्थीमें चूंकि वह संयम पालन करनेका पूरा पात्र नहीं है सो गृहस्थी बसायी, वहां कुछ दंद-फंद बढ़ गया, वहां भी सबका गुजारा हो, इतने मात्रकी आवश्यकता है, इससे अधिक कुछ न चाहिए। और चाहनेसे होता भी क्या है ? पुण्य पापके उदयके अनुसार थोड़ेसे प्रयाससे सर्व समागम बन जाते हैं। फिर इसका कर्तव्य है कि जो भी स्थिति बने उस स्थितिमें अपने गुजारेका ढंग बनाना और धर्मपालनकी धुन बनायी। सम्पन्नता भी होना, धन-वैभव जुड़ना यह तो अपने लिए सार बात नहीं है, पर जो भी वैभव हो, सम्पन्नता हो उसमें ही गुजारा कर लेना, यह अपनी कला आवश्यक है। तब उसके लिए क्यों ललचायें ? सुखी ही तो रहना है, सुखी शान्त होनेके लिए धर्म ही एक आश्रय है।

विषयसुखोंकी क्षोभरूपता—जिसको हम विषय सुखोंका मौज कहते हैं। वे सब आकुलतायें हैं। कोई भी विषयका भोग शान्तिके साथ कोई करता हो तो बतलावो ? क्षोभ

के साथ करता है। गायनका सुनना, सिनेमा थियेटरका देखना, किसी रूपका देखना, गंधका सूंघना, स्वाद लेना और विषय मैथुन प्रसंग करना। कोईसा भी विषय ले लो? क्षोभसे प्राप्त होता है, और क्षोभसे वही अत्यन्त पीड़ित है। जैसे एक मैथुन प्रसंगकी ही बात ले लो। आकुलता न हो, क्षोभ न हो, वेदना न हो तो कौन उस खोटे प्रसंगमें लगे? और जिस समय खोटे प्रसंगमें लगता है उस समय भी कितना भीतरमें व्यग्रता और घुड़दौड़ मची रहती है कल्पनाओंकी और विषयप्रसंगकी बात अपनेको शक्तिहीन करती है और तुरन्त कोई पुरुषार्थ नहीं कर सकता। ऐसी ही सभी विषयोंकी बात है। जब रसनासे स्वाद लेते हैं, खानेका मौज लेते हैं तो वेदना हुए बिना कोई खाना खाता है क्या? पीड़ा होती है और उस पीड़ा को प्रकट करनेके लिए खाना खानेका परिश्रम किया जाता है और खाना खाते हुए क्या यह समता और शान्तिका अनुभव करता है? व्याकुलता भी अनुभव करता है। अभी यह खाया अब यह खा रहे हैं, अब यह खायेंगे, कुछ मौजसा आ रहा है तो उसमें व्याकुलताके साथ प्रवृत्ति हो रही है। उसके बनानेमें भी क्षोभ, खानेमें भी क्षोभ। हर बातमे क्षोभ। कौनसा ऐसा भोग है जो शान्तिके साथ भोगा जाता हो और भोगनेके बाद शान्ति प्राप्त होती हो? ये सब अनावश्यक बातें हैं।

सात्त्विकता व उदारताके संगममें जीवनक्षणोंकी उज्ज्वलता—भैया, अपना ऐसा जीवन बितायें कि अपने खाने पीनेकी साधन-सामग्री मध्यम वर्गके लोगोंकी तरह रखें। गरीब लोगोंकी तरह सात्त्विक वृत्तिसे अपने जीवनमें रहें और पुण्योदयसे अगर धन बढ़ता है तो उस धनका सदुपयोग करे परोपकारमें। तब वह जीवनमें जितनी शान्ति पायगा वह शान्ति वह पुरुष नहीं पा सकता जो अपने आरामके लिए बड़े साधन जुटाये। बँगले, कार, अच्छे दोस्तों का प्रसंग आदि बड़ी-बड़ी बातें जुटायें तो एक तो धन विशेष, कामकी चिन्ता, दूसरे जितना ही अधिक पुरुषोंका प्रसंग होगा उतनी ही विपत्तियाँ आयेंगी। कभी कभी कोई परिवार मौज में ही बहुतसे रिश्तेदारोंको अपने घर बुला लेते, जैसे मानो गर्मीकी छुट्टी है तो उन दिनों अनेकों लोगोंको अपने घर बुला लिया, इसलिए कि कुछ दिन आनन्दका वातावरण रहे, मगर होता क्या है कि वहाँ रात दिन क्षोभ और क्रोधके प्रसंगोंकी बात अधिक रहती है। जितना अधिक प्रसंग होगा उतना ही अधिक क्षोभकी बात बनती जायगी। तो ये सब अनावश्यक बातें हैं। आवश्यक जितना हो उतनेसे ही संतुष्ट रहें और बाकी सब कुछ धर्मपालनके लिए समय और उपयोग लगायें, जीवन तो उसका निष्फल है, पर तृष्णा ऐसी पिशाचिनी है कि वह विवेकको खो देती है और जहाँ तृष्णा बढ़ती है वहाँ मायाचार करना पड़ता है। किसी को मायाचार करनेकी कुछ अटकी थोड़े ही है मगर व्यर्थ की तृष्णा लगी है और उस तृष्णा

के अनुकूल साधन चाहते हैं। और साधन मिल जायें ऐसा पुण्य नहीं है तो छलसे, कपटसे, किसीसे कुछ कहा, किसीसे कुछ कहा, यों मायाचारका व्यवहार करते हैं। तो ऐसा व्यवहार करने वाला पुरुष कदाचित् सम्पन्नता भी पाये तो भी वह शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

सरलता व आत्मधुनमें ही आत्मलाभ—दुनियाकी दुनियावी दृष्टिमें बेवकूफसा (उल्लू सा) बनकर रहनेमें लाभ है। यह सारी दुनिया, इसके लिए कौन बुद्धिमान बनता फिरे? और बुद्धि बढ़ाता फिरे तो वह सब उलझन है। और यदि इस मायाचारको छोड़कर, विषय कषायको छोड़कर सरल विधिसे चलें तो यद्यपि दुनियाके लोग उसे बेवकूफ कहेंगे, पर कह लेने दो बेवकूफ, अगर खुद धर्मपालन करते हुए चल रहे अपने जीवनमें तो उससे सारा फायदा ही फायदा है। धर्मस्वरूपको छोड़कर दुनियामें सर्वोच्च जंचनेके लिए जिसने प्रयत्न किया है उसको तो इस जीवनमें भी बड़ा दुःख सहना पड़ता है। वह एक घंटा भी आरामसे सो नहीं पाता। मान लो कोई बड़ा नेता बन गया या राज्याधिकारी मिनिस्टर बन गया तो बनते समय भी उसे दुःख और यदि उसका वह पद मिट गया तो उस समय भी दुःख। यद्यपि दुःखके कारण ये नहीं हैं किन्तु आत्मज्ञान न होनेसे दुनियाकी दृष्टिमें उच्च बननेका भाव बन गया तो उसको तो केवल कष्ट ही कष्ट है। शान्ति कभी नहीं मिल सकती। तो मायाचार छोड़कर सरल भावसे अपने जीवनमें रहे। अनादि कालसे भव भवमें भ्रमण करते करते आज मनुष्यभव मिला है जिसमें मन भी श्रेष्ठ मिला है, तो आत्महित जिसमें हो, केवल यह ही धुन होना चाहिए और बाकी दुनियाकी पार्टी चक्कर, अर्थसंग्रह, कीर्ति, चाह आदिकी बातें ये सब व्यर्थ हैं। केवल आत्महितकी धुन रहे, उसके लिए जो कुछ भी छोड़ना पड़े उसमें कोई संकोच न हो। सो सरल भावसे रहनेका कर्तव्य इस जीवनमें हो।

दुर्लभ योग्य जिह्वाके लाभका सदुपयोग हित मित प्रिय संभाषण—देखिये—अनन्त काल निगोदमें बीता, वहाँ तो जीभ मिली नहीं। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चोइन्द्रिय को जीभ मिली तो वे जीभसे क्या बोलें? वे कहाँ स्पष्ट शब्द बोल पाते हैं। पशु पक्षी हो गए, उनको भी जीभ मिली तो भी वे वचन वर्गणायें नहीं बोल पाते। भाषा तो है उनके भी, मगर जैसे अक्षर हम आप बोलते वैसे अक्षर वे कहाँ बोल पाते? वे तो बाँय बाँय, भौं भौं, चीं चीं करते रहते हैं। तो उस जीभसे भी वह लाभ उन जीवोंको न मिल पाया जो मनुष्योंको मिल रहा। मनुष्योंको ऐसा जीभ, ओंठ, मुख, तालू आदिकी रचना मिली कि जिससे अपने मनकी सब बात दूसरों स्पष्ट बता सकते और दूसरोंके मनकी बात सुन सकते। अब कोई इस जिह्वाको पाकर यदि इसका दुरुपयोग करे तो अलंकारमें यों समझो कि कर्म फिर उसे जीभ न देंगे, समझ लेंगे कि इसे तो जीभकी कुछ जरूरत नहीं है। तो फिर वही

एकेन्द्रिय बनना पड़ेगा। वहाँ फिर जीभ न मिलेगी। तो अपनी एक बड़ी जिम्मेदारी हैं कि इन पाये हुए दुर्लभ वचनोंका सदुपयोग करें। अपना हित, मित, प्रिय वचन व्यवहार रखें। मायाचारी रहित अपना वचन व्यवहार रहे। अपने इन वचनोंके द्वारा किसीको ठगनेका विचार न करें। कष्ट आखिर दूसरोंको ठगने वाला ही पायगा। जो ठगा गया वह कष्ट पाये ही, ऐसा कोई नियम नहीं। वह तो उसके उदयसे सम्बंधित बात है।

क्लेशार्जितं सुखकरं रमणीयमर्घ्यं धन्यं कृषीबलजनस्य शिखीव सर्वं।
भष्मीकरोति बहुधापि जनस्य सत्यं मायाशिखी प्रचुरदोषकरः क्षणेन ॥५६॥

मायाग्नि द्वारा गुणसमूहका दहन व मायाचारी पुरुषसे विशेष खतरा—जैसे कोई कृषक बड़े परिश्रमसे धान पैदा करे—खेत जोते, बीज बोये, उसे समय-समय पर पानी दे, उसकी निराई की गई, और और भी उससे सम्बंधित बड़े-बड़े श्रम करे। सब श्रम करके बड़े कष्ट उठाकर फसल तैयार करे, उसे काटकर खलियानमें रखे, उसकी दाँय करे, सब काम कर डाले, पर अन्तमें उस धानकी बड़ी राशिमें कोई अग्निकण गिर जाय तो वह सारा धान भस्म हो जाता है इसी प्रकार बहुत-बहुत कष्ट उठाकर दुनियामें बड़ा यश भी प्राप्त किया, बड़े बड़े गुणसमूह भी प्राप्त किए फिर भी पीछे यदि बुद्धि बिगड़ जाय, क्रोध, मान, माया आदिक कषायोंमें प्रवृत्त हो जाय तो उसके वे सारे गुणसमूह भस्म हो जाते हैं। जिस पुरुषको क्रोध कषाय करनेका स्वभाव है उसके पास तो आप बैठ भी सकते हैं, देखा जायगा, जब क्रोध करेगा तब हट जायेंगे, सावधान हो जायेंगे, मान करने वालेके पास भी आप बैठ सकते हैं, और लोभ करने वालेके पास भी आप बैठ सकते हैं। जिस समय उसकी वैसी प्रवृत्ति होते देखा उस समय सावधान होकर उससे दूर हट गए, मगर मायाचारी पुरुषके पास कोई नहीं बैठना चाहता, क्योंकि वह बड़ा खतरनाक है। उसके प्रति यह पता नहीं कि कब कैसा मायाचारीका बर्ताव कर दे कि घोर विपत्तिका सामना करना पड़ जाय।

मायाचारी असत्यवादियोंके संगका बड़ा खतरा—एक कथानक है कि किसी पुरुष को झूठ बोलनेकी बहुत आदत थी, वह एक बार एक सेठके पास पहुंचा और बोला कि सेठ जी हमें अपने यहाँ नौकर रख लो। तो सेठने पूछा—क्या वेतन लोगे ?····अजी वेतन कुछ नहीं, सिर्फ सीधा-सादा भोजन देते रहना और पूरा काम लेते रहना। इससे अधिक हमें कुछ न चाहिए। तो सेठने समझा कि यह तो बड़ा सस्ता नौकर मिल रहा। इतना सस्ता नौकर कहाँ धरा ? सेठ बोला—भाई और कुछ बता दो—क्या लोगे ? तो वह पुरुष बोला—सेठ जी हमको सालमें एक बार झूठ बोलनेकी आज्ञा दे दो, इससे अधिक नहीं, क्योंकि हमको

कुछ झूठ बोलनेकी भी आदत है । तो सेठ बोला—हाँ हाँ सालमें एक बार झूठ बोल लेना । सेठने सोचा कि हम तो रोज-रोज कितना ही झूठ बोलते, यह तो सालमें एक ही बार झूठ बोलनेको कह रहा, और फिर जब यह झूठ बोलेगा उस समय हम सावधान हो जायेंगे । यह सोचकर सेठने उसे अपने घर नोकर रख लिया । खैर चलता रहा, जब करीब १ वर्ष होनेको हुआ तो उस पुरुषने एक माया रची । आखिर उसे झूठ बोले बिना चैन तो पड़ नहीं रही थी, क्योंकि एक आदत ही ऐसी बन गई थी । सो क्या किया सि सेठानीसे कह दिया कि सेठानी जी आपको कुछ मालूम भी है, ये सेठजी प्रतिदिन रात्रिको करीब ११ बजे एक वेश्या के घर जाते हैं । इनका चरित्र बहुत बिगड़ गया है । (देखिये—स्त्रियोंको सबसे बड़ा दुःख इस बातमें होता जब कि उसका पति परस्त्रीगामी या वेश्यागामी है) तो इस बातको सुनकर सेठानी बहुत दुःखी हुई । फिर वह पुरुष सेठानीसे बोला— देखो तुम्हें अगर इस बातकी परीक्षा करना हो तो एक उपाय करो, हम वह उपाय बताते हैं—रात्रिके करीब १० बजे जब सेठजी सो जावें तब तुम बढ़िया उस्तरेसे उनकी दाढ़ी एक तरफ बना देना, जब सेठजी उस रूपमें वेश्याके घर जायेंगे तो वहाँ हो हल्ला मच जायगा, बस तुम्हें उसका सही पता पड़ जायगा । तो सेठानी बोली—ठीक है ऐसा ही करूँगी । उधर सेठसे कह दिया कि देखो सेठ जी तुम्हारी सेठानीका चरित्र बिगड़ गया है वह आज रात्रिको करीब १० बजे उस्तरा लेकर तुम्हारी गर्दन साफ करने आयगी, सो सावधान रहना । अब उस दिन जब सेठजी बिस्तरमें सोनेके लिए लेटे तो उन्हें नींद न आये । यों ही बनावटी आँखें मींचकर लेटे रहे । उधर वह सेठानी उस्तरा लेकर सेठकी एक ओरकी दाढ़ी बनाने आयी । (देखिये कुछ उस्तरे ऐसे भी होते कि सोतेमें हजामत बना दीं जाय, पर पता न पड़े) सो जब सेठानी उस्तरा लेकर आयी तो सेठने समझ लिया कि मेरा नौकर ठीक ही कह रहा था, सो झट उठा और सेठानीसे लड़ने लगा । दोनोंमें बड़ी तेज लड़ाई हुई, मार-पिटाईकी नौबत आ गई । बादमें वह नौकर बोला— सेठजी बस लड़ाई बंद कर दो, हमने अपना वेतन पा लिया । तुम दोनों ही ठीक हो, खराब कोई नहीं । यह तो हमने अपना वेतन चुकाया है । तुमने ही तो सालमें एक बार झूठ बोल लेनेका वायदा दिया था । बस लड़ाई बंद हो गई । तो मायाचारी पुरुष बड़ा खत-रनाक होता है, पता नहीं उसके द्वारा कब विपत्तिका सामना करना पड़ जाय । यह माया रूपी अग्नि बड़े बड़े गुणसमूहको भी क्षणभरमें ध्वस्त कर देती हैं ।

विद्वेषवैरिकलहासुखघात भीतिनिर्भर्त्सनाभिभवनासुविनाशनादीन् ।
दोषानुपैति निखिलान् मनुजोऽतिमायी बुद्ध्वेति चारुमतयो न भजंति मायां ॥६०॥

नाना दोषोंकी खान मायाके व्यवहारसे स्व पर दोनोंकी हानि—मायाचारी पुरुष

इस संसारके बैरको बढ़ाता है, एक दूसरेकी मित्रताको खतम करा देता है, उनमें परस्पर बैर को बढ़ा देता है और वह खुद शत्रुवोंके डरसे चिन्तित होकर दुःख पाता है। ऐसा पुरुष कहलाता है दोगला। इससे बढ़कर होता है चोगला। चुगलखोरको चुगला कहते। देखिये—जिसके दो गले हों सो दोगला और जिसके चार गले हों सो चोगला। याने एकसे कुछ कहा, दूसरेसे कुछ कहा वह हो गया दोगला और एक ही बातको एकसे कुछ कहा, दूसरेसे कुछ कहा, तीसरेसे कुछ कहा और चौथेसे कुछ कहा तो यह हो गया चोगला। ऐसा मायाचारी पुरुष निरन्तर चिन्तित रहता है। कहीं इन दोनोंमें या सबमें दोस्ती न हो जाय, और मेरी मायाचारीकी बात खुल न जाय इस बातकी शल्य उसे निरन्तर बनी रहा करती है। मायाचारी करने वाला पुरुष रात-दिन लड़ाई-झगड़ेमें फंसा रहा करता है, सुखसे वह हाथ धो बैठता है। उसे सुख शान्ति नहीं मिलती। शान्ति पानेका बहुत सुगम तरीका यह है कि जब गृहस्थजन हैं तो अपना और कुटुम्बी जनोंकी भूख-प्यासकी बाधा मिटे, ठंड गर्मीकी बाधा मिटे, इसके लिए कमाई करना भी जरूरी हो जाता है, मगर उसकी भी विशेष चिन्ता क्या करना? जिस पुण्य प्रकृतिके उदयसे मनुष्य हुए, श्रेष्ठ समागम मिले, श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुए तो इतना भाग्य तो कमसे कम है ही कि गुजारा आसानीसे कर सकें, फिर सारे समय खुद धर्मपालनके लिए और अपने कुटुम्बमें रहने वाले लोगोंको धर्मपालनकी शिक्षाके लिए प्रायोगिक काम करें।

व्यवहारधर्म व निश्चयधर्मकी उपयोगिता—धर्मपालन है मात्र स्वभावदृष्टि, इसके पानेके लिए उतना कार्य करना पड़ता है जितना कि हम भूलकर भटक गए हैं वहाँसे लौटनेके लिए आवश्यक है उस ही का नाम व्यवहारधर्म है मायने है विकार शत्रुओं पर प्रहार करना। युद्धमें जो योद्धा लड़ने जाता है उसके हाथमें ढाल और तलवार दोनों रहते हैं। आजकल चाहे ढाल और तलवारका रूप कुछ भी रख लिया हो वैज्ञानिक तरक्की कर लेने की वजहसे, मगर बिना ढाल और तलवारके योद्धा लोग युद्धमें सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। बचाव करनेके उपायका नाम है ढाल और प्रहार करनेकी जो वृत्ति है उसका नाम है तलवार। इन दोनोंको जो युद्धमें लेकर जाता है वह योद्धा युद्धमें सफल हो पाता है। अब कोई सोचे कि युद्धमें तो प्रहार भर करता है, ढालकी क्या जरूरत? केवल तलवार लेकर उतर जाय तो बचावका उपाय न होनेसे चारों ओरसे घिर जायगा और मार दिया जायगा। अब कोई सोचे कि ढाल ही ढाल ले जावें, वही सब कुछ है, तलवारकी वहाँ क्या जरूरत? तो केवल ढाल लेकर युद्धमें जाने वाला भी मारा

जायगा। वह अपनी रक्षा नहीं कर सकता। ढाल और तलवार जैसे ये दोनों उपयोगी हैं युद्धमें विजय पानेके लिए ऐसे ही संसारयुद्धमें विजय पानेके लिए व्यवहारधर्म निश्चयधर्म ये दोनों ही उपयोगी हैं। व्यवहारधर्मसे अपनेको सुरक्षित बनायें, क्योंकि व्यसन, पाप आदिके खोटे संस्कार जो अनादिकालसे साथ लगे हैं वे उदयमें आते हैं, उनसे दूर होनेका सीधा तात्कालिक उपाय क्या है ? पूजा, भक्ति, दया, दान आदि शुभ कार्योंमें लगना। धर्मात्मा जनोंकी सेवा-भक्तिसे सम्बंधित जो कार्य हैं उनका नाम है व्यवहारधर्म। उससे तो अपनेको सुरक्षित बनायें ताकि व्यसनोंका, पापवासनाका प्रहार अपने पर न आ सके। उनसे अपनेको बचा लें। अब उस सुरक्षित दशामें कर्तव्य यह है कि अपनी प्रखर तत्त्वज्ञानदृष्टिसे अपने आपको ज्ञानमात्र सहज स्वरूप अनुभवनेका प्रयत्न करें, सफलता हो जायगी। यह एक सीधी सादी सी बात है। विवाद विसम्वाद आदिमें पड़कर सारा जीवन यों ही व्यर्थ खो देनेमें कोई बुद्धिमानी नहीं है।

पक्षपोषणकी कषायमें नाना विडम्बनायें—एक घटना है कि किसी स्टेशनके पास कोई दो मित्रोंमें विवाद हो गया, इस बातपर कि एक तो कह रहा था कि खण्डवाके लिए इस स्टेशनसे ११ बजे रात्रिको एक्सप्रेस गाड़ी मिलती है बीचमें कोई गाड़ी नहीं है। एक कह रहा था कि ८ बजे रात्रिको एक एक्सप्रेस जाता है, इसी बातपर दोनोंमें बात बढ़ गई, तेज झगड़ासा दोनोंमें मच गया, यहाँ तक कि मार-पिटाई तककी नौबत आ गई। इतनेमें कोई विवेकी पुरुष आया और पूछा कि भाई तुम लोग आपसमें क्यों झगड़ते हो ? तो उन दोनोंने अपनी-अपनी बात कही। एक बोला कि यहाँके स्टेशनसे खण्डवाको गाड़ी रात्रिके ८ बजे जाती है और यह झूठ बोलता कि ११ बजे जाती है, दूसरा बोला—यहाँसे खण्डवाको गाड़ी ११ बजे मिलेगी, यह झूठ बोलता है कि ८ बजे रात्रिमें मिलेगी। तो उस विवेकी पुरुष ने पूछा कि भाई तुम दोनोंमें से किसे खण्डवा जाना है ? तो वे दोनों ही बोले कि हमें नहीं जाना है तो वह विवेकी बोला—जब तुम्हें जाना नहीं है तब फिर इतना बड़ा झगड़ा कर डालनेसे फायदा क्या ? तो यही बात यहाँ समझ लो, कल्याण तो किसीको करना नहीं है, सिर्फ कल्याणके सम्बन्धकी बातें कर-करके आपसमें झगड़ रहे हैं। अरे व्यर्थके झगड़ोंमें पड़-कर इस दुर्लभ मानव-जीवनको क्यों व्यर्थ खोया जा रहा है ? व्यर्थकी मायाचारी करनेका फल तो बड़ा भयंकर होगा। मायाचारी करने वालेके चित्तमें धर्मका प्रवेश नहीं हो सकता। जैसे मालाके किसी दानेमें टेढ़ा छेद हो तो उसमें सूत नहीं पिरोया जा सकता, इसी प्रकार टेढ़े हृदय वाले व्यक्तिके अन्दर धर्मका प्रवेश नहीं हो सकता। मायाचारीसे भरा हृदय तो बेकार हृदय है, यह तो उसके संसारका परिभ्रमण ही बढ़ायेगा। इसलिए अपने हितकी धुन

रखनी चाहिए कि किसी भी प्रकार जैसे बने मेरेको ज्ञानप्रकाश मिले और उस पर अपनी शक्ति अनुसार चलकर जो कुछ शेष काम हैं, आगे करके संसार सागरसे छुटकारा पायें यही केवल एक भावना होनी चाहिए। करनेका कर्तव्य तो केवल एक यही है, बाकी तो सब व्यर्थ समझिये।

या प्रत्ययं बुधजनेषु निराकरोति पुण्यं हिनस्ति परिवर्द्धयते च पापं।
सत्यं निरस्यति तनोति विनिंद्यभावं तां सेवते निकृतिमत्र जनो न भव्य: ॥६१॥

मायाचारीके विश्वासकी समाप्ति—माया मायने छल-कपटका व्यवहार विद्वानोंमें विश्वास खो देता है। याने मायाचारी पुरुषोंका विद्वानोंमें फिर विश्वास नहीं रहता, लोग उसके प्रति विश्वास नहीं करते और जिसका विश्वास उठ गया उसका जीवन यों ही गया। तो मायासे इतना बड़ा नुक्सान है और फिर मायासे कुछ बनता भी नहीं। बहुत संक्लेश करनेसे बड़े मायाचारके भाव बनाये तो भी इससे मिलता कुछ नहीं है। जो जितना पुण्योदय है मिलेगा उतना ही, पुण्यसे बाहर न मिलेगा और पुण्य गया तो मिली हुई सम्पत्ति भी गई। मायाचार करनेसे क्या होता कि जो पुण्यबंध था या होता उसमें भी कमी आ जाती है।

सम्पत्तिलाभकी पूर्वकृत पुण्यके उदय पर निर्भरता—एक बार एक सेठ गरीब हो गया। बहुत बड़ा सेठ था। इतना गरीब हो गया कि खानेके लिए उसे कहीं छोटा काम करना पड़ा। मिल गया काम उसे अर्जीनवीसीका। अर्जीनवीसीका काम वह कहलाता है कि किसीका पत्र लिख दिया, किसीका कुछ लिख दिया, और मिल गए दो-चार आने पैसे। उन्हीं से अपना गुजारा करे। बड़ी गरीबीकी स्थिति थी। वही सेठ एक बार जीनेसे नीचे उतर रहा था तो वहाँ एक आवाज आयी—क्या मैं आऊँ? तो सेठने तुरन्त तो कोई जवाब न दिया और न कुछ समझ ही पाया कि यह किसकी आवाज है? अब सेठने सेठानीसे बताया तो सेठानी थी चतुर, वह सब समझ गई कि वह लक्ष्मीकी आवाज थी, सो बोली– इस बार यदि कहे कि क्या मैं आऊँ तो मना कर देना कि मत आवो। सो दुबारा जब आवाज आयी कि क्या मैं आऊँ? तो सेठने मना कर दिया कि मत आवो। वही आवाज लगातार ७ दिन तक आती रही और सेठ बराबर मना करता रहा कि मत आवो। बादमें सेठानीने कहा कि अच्छा आजके दिन कह देना कि आवो तो सही, मगर आकर जावो नहीं तो आवो। सो सेठने वैसा ही कह दिया। वहाँ लक्ष्मी बोली—ऐसा तो हो नहीं सकता कि मैं आऊँ तो फिर जाऊँ नहीं, पर हम तुम्हें एक सहूलियत देती हैं कि जब जाऊँगी तो बताकर जाऊँगी। (देखिये यह भी कम सहूलियत नहीं है, लक्ष्मी कहीं किसीसे बताकर नहीं जाया करती। जब जाना होता तो बिना किसीको बताये, तुरन्त चली जाती है।) सेठने वही बात सेठानीसे आकर

बताया। तो सेठानी बोली—अच्छा कह दो कि आ जाय। अब क्या था, लक्ष्मी धड़ाधड़ आना शुरू हो गया। उसी दिन क्या हुआ कि उस नगरका राजा जो कि बहुत दिन पहले परदेश गया हुआ था उसकी रानीने उस अर्जीनवीससे कहा कि हमारी ओरसे एक पत्र राजा जी को लिख दो और इस ढंगसे लिखो कि उस पत्रको पढ़कर राजाको रंच भी विषाद न हो और तुरन्त चले आवें।....ठीक है। सो उस अर्जीनवीसने वैसा ही पत्र राजाके लिए लिख दिया। रानीने पत्र लिखाईकी उस अर्जीनवीसको एक मोहर प्रदान की। देखिये—कहाँ तो कुछ थोड़ेसे पैसे प्रतिदिन मिल पाते थे, पर उस दिन अन्य दिनोंकी अपेक्षा सैंकड़ों गुना धन अधिक मिल गया। अब वह पत्र पहुंचा राजाके पास तो उसे पढ़कर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और विचारने लगा कि अहो, मेरे नगरमें ऐसा कौन बुद्धिमान रहता है जिसने इस प्रकारका उत्तम ढंगका पत्र लिखा। आखिर अपने नगर आया और आते ही तुरन्त पता लगाया कि वह पत्र किसने लिखा था। तो रानीने बता दिया कि अमुक अर्जीनवीसने लिखा था। राजा ने उसे अपने पास बुलवाया और कहा कि आजसे तुम अर्जीनवीसीका काम छोड़कर मेरे यहाँ का मंत्रीपद सम्हालो। अब मंत्री हो गया वह अर्जीनवीस। (सो आप सब जानते ही हैं कि मंत्री हो जाने पर आमदनीके कितने ही जरिये बन जाते हैं।) एक तो वेतन ही अधिक, दूसरे—मान लो किसी सड़कसे जा रहा और किसी सेठसे कह दिया कि तुम्हारा यह मकान सड़कको काफी दाबे हुए है। इसकी वजहसे सड़क सीधी नहीं है, यह गिरवा दिया जायगा, तो बस मकान गिरवानेके भयसे, सेठ तो न जाने कितने ही रुपये उस मंत्रीको दे डालेगा। खैर वह मंत्री पदपर हो जानेसे थोड़े ही दिनोंमें मालोमाल हो गया। देखिये लक्ष्मीको आते हुए देर न लगी।

पुण्योदयसमाप्तिपर सम्पत्तिसमाप्ति—अब वही लक्ष्मी जब जाना हुआ तो किस तरह गई, सो भी देख लीजिए। उस मंत्रीने धनको अपने मकानके आँगनमें खूब अच्छी तरहसे सम्हालकर गाड़ दिया था, इसलिए कि यह अब मेरे पाससे कहीं जा न सके, पर देखिये—एक दिन वह राजा उस मंत्रीके साथ जंगल घूमने गया। सो चलते चलते थक जानेसे दोनों एक वृक्षके नीचे बैठकर आराम करने लगे। मंत्रीकी जंघापर सिर रखकर वह राजा सो गया, उसी बीचमें वहाँ वह लक्ष्मी मायामयी स्त्रीका रूप रखकर पहुंची और बोली—अब मैं जाती हूं। तो मंत्रीने समझ लिया कि यह लक्ष्मी है जो जानेको कह रही है। सो उसे तो गर्व था कि मैंने सारे धनको खूब छिपाकर रख दिया है, वह जा कैसे सकती है ? सो बोला—तू नहीं जा सकती। फिर लक्ष्मी बोली—मैं तो जाऊंगी।...,...तू नहीं जा सकती।....मैं तो जरूर जाऊंगी। इसी प्रसंगमें मंत्रीको तेज क्रोध आ गया और राजाके कमरमें लटकी हुई तलवार

खींचकर बोला—तू मेरे पाससे नहीं जा सकती। खैर लक्ष्मी तो मायामयी थी, अन्तर्ध्यान हो गई, पर उसी प्रसंगमें राजाकी नींद खुल गई और नींद खुलते ही राजाने अपने सिरके ऊपर खिची हुई तलवार देखी। राजा डर गया, पर कुछ बोल न सका, इस भयसे कि यदि मैं कुछ बोलता हूं तो यह मंत्री मुझे मार देगा। मेरेसे यह बलवान भी है। सो राजा तो यों चुप रह गया, और मंत्री यों चुप रह गया कि मैं यदि लक्ष्मीको मारनेकी बात कहूं तो इसे कौन मान लेगा? खैर दोनों ही चुपचाप चले। राजा राजमहल पर पहुंचा और पहुंचते ही राजाने सेनापतिको बुलाकर आदेश दिया कि उस मंत्रीको अविलम्ब इसके समस्त परिवार सहित तुरन्त ही राज्यसे बाहर निकाल दिया जाय। अब क्या था, राजाका आदेश पाकर सेनापतिने उस मंत्रीको तुरन्त ही सपरिवार राज्यसे बाहर निकाल दिया। अब बताओ उसके पास कहाँ लक्ष्मी रही। वह तो फिर ज्योंका त्यों गरीब हो गया। तो यहाँ यह बता रहे कि जब लक्ष्मीको आना है तब आती है और जब जाना है तब जाती है।

मायाचारकी अनर्थकारिता—सम्पत्तिके पीछे मायाचारीका परिणाम करनेसे कुछ लाभ नहीं। बल्कि मायाचारीका परिणाम करके अपने पुण्यको और भी खोया जा रहा है। यह मायाका परिणाम सज्जनोंमें मायाचारीके विश्वासको नष्ट कर देता है। पुण्यको नष्ट करता है और पापको बढ़ाता है, क्योंकि वह दुर्भाव है। देखिये—निमित्तनैमित्तिक सम्बंध अटल तो है कि जो दुर्भाव करेगा, उसके दुर्भाव निमित्तके सन्निधानसे बँधा हुआ पुण्यकर्मका अनुभाग क्षीण हो जाता है, पापकर्मका अनुभाग बढ़ जाता है, यह सब निमित्तनैमित्तिक सम्बंधसे होता रहता है। प्रायः सभी लोग जानते हैं कि इस चीजका सम्बंध होनेसे इस चीज में ऐसा परिवर्तन हो जाता है। इस निमित्तनैमित्तिक सम्बंत्रका खंडन नहीं किया जा सकता, बस ज्ञान इतना रखनेकी जरूरत है कि वह निमित्तभूत पदार्थ, कुछ उसकी परिणति न कर देगा, किन्तु वह दूसरा पदार्थ स्वयं उसका निमित्त पाकर अपनी योग्यतासे उस रूप परिणम जाता है। तो इस मायाचारीके परिणामसे पापरस बढ़ता है और पुण्यरसका क्षय हो जाता है। मायाचारीके भावसे सत्यकी जगह झूठ का साम्राज्य आ जमता है। जो मायाचारी करेगा वह सत्यवादी नहीं हो पाता, उसे झूठ बोलना ही पड़ता। यहाँ कुछ बोला, वहाँ कुछ बोला, ऐसा जिसने कपट जाल रचा हो वह सत्य नहीं बोल सकता। यह सत्यवादिताका एक ही गुण समस्त कषायोंको और दुर्भावोंको दूर कर देता है। मायाचार करनेसे तो सत्यकी जगह झूठका साम्राज्य छा जाता है और नाना प्रकारके जो निन्द्य भाव हैं वे भी आ जाते हैं।

मायाचार न करनेकी शिक्षाकी उपादेयता—यह शिक्षा पुरुषोंको भी लेनी चाहिए और स्त्रियोंको तो विशेष करके लेना चाहिए, क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि जो घरमें

ठलुग्रासे अधिक रहते उनमें ये प्रवृत्तियाँ अधिक बढ़ जाती हैं। दूसरी बात यह है कि वह स्त्रीका भव ही ऐसा है कि वहाँ ये बातें अधिक पायी जाती हैं। देखिये—स्त्री शब्दके अनेक पर्यायवाची शब्द बताये हैं—स्त्री, भार्या, नारी, महिला, दारा, अबला, औरत, आदि तो इनमें जो दारा शब्द आया है उसका अर्थ है—दारयति भेदयति भ्रातानि इति दार: अर्थात् भाई-भाईमें जो बँटवारा करा दे, लड़ाई करा दे या एक दूसरेका प्राण हरने वाला बैर, विरोध उत्पन्न करा दे उसे दारा कहते हैं। उनमें प्राय: ऐसे ही आदत होती कि कभी कुछ भिड़ाया, कभी कुछ, वे भाई-भाईके प्रेममें बहुत बड़ा आघात पहुंचा देती हैं। उन स्त्री पुरुषों को बड़ा पुण्यवान समझना चाहिए जिनको धन वैभवके प्रति अधिक ममता न हो और परस्परमें धर्मसाधना करनेकी दृष्टिसे खूब हिल-मिलकर रह रहे हों। तो यह मायाचारीका परिणाम स्वयंको भी बहुत दु:खी कर डालता है और दूसरोंको भी भयंकर दु:खमें डाल देता है।

प्रच्छादितोपि कपटेन जनेन दोषो लोके प्रकाशमुपयातितरां क्षरोन।
वर्चो यथा जलगतं विदधाति पुंसां माया मनागपि न चेतसि संनिधेया ॥६२॥

मायाचारकी जलगत विष्टाकी तरह प्रकटता व उसकी पीड़ा—किसीका मायाचार बहुत दिनों तक छिपकर नहीं रह पाता। वह दबाये दबाये दबा रहता है, मगर कुछ समय बाद वह स्पष्ट हो जाता। उसीके मुखसे या किसी वृत्तिसे या उसके किसी चिन्हसे वह माया प्रकट हो जाती है। इस विषयमें आचार्यदेवने एक दृष्टान्त दिया है कि जैसे किसी सरोवरके जलमें या नदीमें किसी जगह कोई मनुष्य वहाँ विष्टा कर दे तो एक बार वह विष्टा पानीमें नीचे पहुंचता है, मगर उसके अंश जो वजनके हैं जैसे ही वे घुलते हैं वैसे ही वह विष्टा तुरन्त ऊपर आ जाता है। ऐसे ही यह मायाका दुष्परिणाम दबाता है, मगर यह दब नहीं सकता। किसी कालमें किसी भी समय यह फिर उभर जाता है और जब मायाचार प्रकट हो जाता है तब फिर उसका जीवन दूभर हो जाता है, लोगोंकी दृष्टिसे वह गिर जाता है। सो इस प्रकरणमें मान और माया कषाय दूर करनेका उपदेश किया है। अब तक इसके तीन प्रकरण हुए हैं। पहले प्रकरणमें विषयसुखका निराकरण किया था। वह प्रकरण बहुत ही लाभदायक और हृदयको स्पर्श करने वाला है। दूसरे प्रकरणमें क्रोध कषायको दूर करनेका उपदेश किया। अब चतुर्थ प्रकरण आ रहा है जिसमें लोभ कषायका दूर करनेका उपदेश किया जा रहा है।

—:o:—

४—लोभनिराकरण प्रकरण

शीतो रविर्भवति शीतरुचिः प्रतापी स्तब्धं नभोजलनिधिः सरिदंबुतृप्तः ।
स्थायी मरुच्च दहनोऽदहनोपि जातु लोभानलस्तु न कदाचिददाहक स्यात् ॥६३॥

लोभाग्निकी दाहकता—लोभरूपी अग्निको विषयसुखका ईंधन मिलता रहे तो वह कभी बुझती नहीं है । दुनियामें जितनी भी असम्भव बातें हैं वे चाहे सम्भव हो जायें, पर लोभकी अग्नि, लोभके विषय धन सम्पदा आदिक ये मिलते रहें और कोई सोचे कि इतना मिल जाय, जुड़ जाय, फिर मैं लोभ न करूँगा, आरामसे खूब धर्मसाधना करूँगा तो ऐसा सोचना उसके लिए स्वप्न जैसी बात है कि धन सम्पदा भी सामने बनी रहे, पास बनी रहे और तद्विषयक उसके लोभ कषाय न जगे, यह कैसे हो सकता ? चाहे जो चीज स्थायी है वह अस्थायी बन जाय, जिसमें जो स्वभाव है चाहे वह अपना स्वभाव छोड़ दे, सूर्य चाहे गर्मी छोड़कर शीतल हो जाय, पर लोभरूपी अग्नि यह कभी शीतल (ठंडी) नहीं हो सकती । एक कविने कहा है कि भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः, तपो न तप्त वयमेव तप्ता । कालो न यतो वयमेव याताः, तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः । मैंने भोगोंको नहीं भोगा । बल्कि मैं ही भोगोंसे भुग गया । अब भरपेट भोजन कर लिया तो अफरा हो गया, पेट पकड़े बैठे हैं, कष्ट मान रहे हैं तो इसमें खुद ही तो भुग गए, भोजनका उसमें क्या बिगड़ा ? इसी प्रकारकी बात सभी भोगोंकी है । भोग नहीं भुगे, किन्तु मैं ही भुग गया तप नहीं तपा, किन्तु हम ही तप गए । जहाँ अज्ञानभाव है, ज्ञानप्रकाश नहीं है वह कितना ही तप करे तो तप तो नहीं तपा, किन्तु वह मनुष्य ही तप गया । काला हो गया, जीर्ण हो गया, हड्डियाँ निकल आयीं, ये सारी परिस्थितियाँ बन गईं । और समय नहीं व्यतीत हुआ, हम ही व्यतीत हो गए । समय तो आ ही रहा है, वह कभी नष्ट न होगा, अनन्तकाल तक रहेगा, मगर हम ही व्यतीत हो गए, वृद्धावस्थाकी सारी बातें आयीं और कुछ समय बाद रोगादिक होकर मरे या न भी रोगादिक हों तो भी जब आयु समाप्त होती है तो बैठे-बैठे यों ही चले जाते हैं । कुछ समय ही नहीं लगता, लोग आश्चर्य करके रह जाते, कि कल तक तो वह दुकानमें बैठता था आज सुबह भी मेरेसे बातें कर रहा था और अब एकदम चल बसा । तो काल नहीं व्यतीत हुआ, किन्तु हम ही व्यतीत हो गए । तृष्णा जीर्ण नहीं होती, किन्तु हम ही जीर्ण हो गए ।

लोभाग्निमें दाहकतापरिहारकी अशक्यता—भैया, धर्मपालनके लिए कभी ऐसा नहीं सोचा जाता कि पहले इतना धन बढ़ा लें, इतनी जायदाद जोड़ लें बादमें सब कुछ छोड़कर फिर धर्म करूँगा । तो धर्म करना तो स्वभावदृष्टि है, और यहाँ खूब जोड़-जोड़कर धन रख लिया और उसमें ही मन लगा है तो उसमें ही मन लगा रहेगा । स्वभावदृष्टि कहाँसे बनेगी ?

श्रौर जिसको परवाह नहीं श्रौर धन भी मिले तो भी स्वभावदृष्टि रहेगी। उसकी रुचि घरमें, धनमें, भोग प्रसंगोंमें न रहेगी। किसी भी इष्टके समागममें उसे न हर्ष होगा श्रौर न विछोह में विषाद। वे सर्व कुछ बाह्य हैं यह ही उसकी नजरमें रहा, इसलिए वह विरक्त माना गया। तो तृष्णा श्रग्नि ऐसी है कि किसी पदार्थमें व्यामोह हो, तृष्णा हो श्रौर उसका इंधन जुड़ता रहे तो यह हो सकता क्या कि वह तृष्णाश्रग्नि शान्त हो जाय। चाहे सूर्य श्रपने ग्रीष्म स्वभाव को छोड़कर शीतल हो जाय, पर यह तृष्णारूपी श्रग्नि विषयरूपी इंधनके पानेपर कभी शान्त नहीं हो सकती। चन्द्रमा चाहे श्रपनी शीतलताको त्याग दे, देखिये—चन्द्रमामें स्वयं ऐसा गुण है कि वह मूलमें भी ठंडा श्रौर उसका निमित्त पाकर जहाँ-जहाँ जो-जो चीज प्रकाशित हो रही है वह भी ठंडी, जिसे सीधा यों कह दें कि चन्द्रमाकी किरणें ठंडी होती हैं। सो चंद्र चाहे शीतलता छोड़ दे, लोभाग्नि दाहकताको नहीं छोड़ सकती।

वस्तुस्वरूपपर कुछ प्रकाश व लोभपरिहारका उपदेश—श्रब वस्तुस्वरूप देखिये—भाई लगता जरूर है कि इस चंद्रमामें से किरणें फूट रहीं, मगर चंद्रमाकी कोई भी चीज चन्द्रमाके प्रदेशोंसे बाहर नहीं जा सकती। वस्तुस्वरूप देखिये—चन्द्रमामें या सूर्यमें बाहर निकलने वाली किरणें नहीं हुश्रा करतीं। हीरा रत्न वगैरा जो जो भी चमकीले पदार्थ हैं उनमें बाहर जाने वाली किरणें नहीं हुश्रा करतीं। किसी भी पदार्थकी कुछ भी चीज उस पदार्थके प्रदेशसे बाहर नहीं होती, तब फिर देखते तो खूब हैं कि ये किरणें हैं श्रौर ग्रन्थोंमें भी लिखा है कि सूर्यकी इतनी किरणें हैं, चन्द्रकी इतनी किरणें हैं तब फिर कैसे कह रहे कि किरणें नहीं हैं ? तो भाई उन किरणोंका श्रर्थ यह है कि श्रपनी जो श्राँखोंकी दृष्टि है सो जब ये श्राँखें किसी चमकदार पदार्थको निरखती हैं तो श्राँखोंमें ही एक ऐसी कला है कि उसके द्वार देखनेपर प्रकाशक पदार्थनिमित्तक जो श्राकाशगत सूक्ष्म स्कन्ध प्रकाशित है उनकी पंक्तियाँ दृश्य बन जाती हैं, प्रकाशमान पदार्थको देखनेमें इतनी पंक्तियाँ बन जाती हैं एक बात, दूसरी बात यह है कि श्राकाशमें बहुतसे सूक्ष्म स्कंध पड़े हुये हैं सो जैसे सूर्य चन्द्रका सान्निध्य पाकर यहाँके पदार्थ प्रकाशमान हो जाते हैं, यह प्रकाश चन्द्रका नहीं, सूर्यका नहीं, बिजली का भी नहीं, सूर्य, चंद्र, बिजली श्रादि ये सब श्रपनी-श्रपनी जगहपर हैं, उनकी जितनी बोडी है बस उतने ही में हैं, मगर वे ऐसे प्रकाशमान पदार्थ हैं कि उनका सन्निधान मिलने पर ये सब पदार्थ प्रकाशरूप हो जाते हैं। श्रब देखिये—यह निमित्तनैमित्तिक सम्बंध बड़ा श्रबाधित है, उसका निराकरण नहीं किया जा सकता। वहाँ तो कर्ताकर्मभाव नहीं है, बस इस दृष्टि की विजय तो बन सकती है, मगर कोई सही बातका निराकरण करे तो भले ही थोड़ेसे ही बहकाया जा सके, पर हृदय निराकर्ताश्रोंका भी सच समझता है। श्रब जो यथार्थ बात है

उसे निरखिये। वहाँ निमित्तनैमित्तिक भी बराबर है और कर्ता कर्म भाव किसीका किसी दूसरेमें रंच नहीं है, ऐसा ही योग है कि अमुकका सन्निधान पानेपर यह पदार्थ इस रूप परिणम जाता है। तो जैसे सूर्य चन्द्रका सन्निधान पाकर ये भींत, पृथ्वी, मकान आदिक प्रकाशमान हो गए, इसी प्रकार यहाँ भी पड़े हुए सूक्ष्म स्कंध प्रकाशमान हो जाते हैं। अब आँखोंसे जब देखते हैं तो आँखोंके देखनेकी विधि ही यह है कि प्रकाशमान पदार्थको देखनेके समय पंक्ति बन जाती हैं और उन पंक्तियोंका नाम किरण है। तो जैसे प्रकाश सूर्यका निमित्त पाकर आया है ऐसे ही गर्मी भी सूर्यका सन्निधान पाकर जो पदार्थ गर्म हुए हैं उन ही की परिणतिसे वे गर्म हुए हैं। तो वह ऐसा निमित्त है कि पदार्थके गरम होनेमें निमित्त बन गया इसको सब जानते हैं कि यह इस जातिका निमित्त है कि इसका योग होनेपर यह पक जायगा, यह गल जायगा, यह सड़ जायगा। सबका अलग अलग निमित्त योग बराबर व्यवस्थित है। निमित्त कुछ न हो, अटपट हो जाय कार्य, ऐसा नहीं होता। जो सामने खड़ा हो उसे निमित्त मान लो ऐसा अगर निमित्त हो तो प्रतिनियत व्यवस्था कहाँ रही और वह विज्ञान पद्धति कहाँ रही ? सो सब प्रतिनियत व्यवस्था है ? लेकिन कर्तृकर्मभाव नहीं है। अमुकका योग होनेपर अमुक पदार्थ किस रूप परिणाम जाता है, उसकी योग्यता और अनुकूल निमित्तका सन्निधान यह कहलाता है निमित्तनैमित्तिक योग। सो चाहे चन्द्रमा भी शीतलताको त्याग दे, गरम बन जाय, ऐसी असम्भव बात भी सम्भव हो जाय, लेकिन लोभ कभी शान्ति उत्पन्न नहीं कर सकता। जिसके चित्तमें तृष्णाकी दाह आ गयी उसके तो वह दाह रहेगी, वहाँ कभी शान्ति नहीं आ सकती। इस कारण लोभको अपना तीव्र बैरी जानें और यह भावना भरें कि मेरे हृदयमें लोभ विकार न आ सके और मैं अपने अविकार सहज ज्ञानस्वभावमें ही तृप्त रहूं, ये ही क्षण मेरेको इष्ट हैं।

विषयेन्धनोंसे तृष्णाग्निकी तृप्ति असंभव—लोभकषाय इस जीवको कितना प्रेरती है उसके विषयमें हजारों जीभ हों तो भी बताया नहीं जा सकता। अनुभव सबको है कि जब लोभ कषाय चित्तमें होता है तो कितना परेशान होना पड़ता है ? आचार्यदेव कहते हैं कि आकाश चाहे स्तब्ध हो जाय, कोई पिण्डरूप बन जाय, रूपी हो जाय, मगर तृष्णारूपी अग्नि अपने दाहपरिणमनको छोड़ दे याने लोभी पुरुषके गुणोंको भस्म कर दे और उसे व्याकुल कर दे, इस स्वभावको लोभ अग्नि छोड़ दे यह कभी नहीं हो सकता। कदाचित् समुद्र नदियोंसे तृप्त होकर अपनी मर्यादा छोड़ दे, होता नहीं ऐसा, जैसे कहने लगते कि चाहे पूरब का सूर्य पश्चिममें उगने लगे, ऐसा कहकर एक दृढ़ता बतायी जाती है। नदियाँ सभी समुद्रमें मिलती हैं, पर समुद्रसे नदी कोई नहीं निकलती। तो मालूम होता कि यह समुद्र नदियोंसे तृप्त ही नहीं होता कितनी ही नदियां पड़ जायें समुद्रमें, पर समुद्र मानो यह न कह सकेगा

कि बस खूब नदियाँ आ गईं, अब मेरेमें समाती नहीं तो चाहे नदियोंसे समुद्र तृप्त हो जाय और अपनी मर्यादा छोड़ दे अर्थात् समुद्रसे पानी बहने लगे, इतनी असम्भव बात चाहे होने लगे, पर लोभरूपी अग्नि कभी शाँतिदायक नहीं हो सकती। पवनका स्वभाव है बहते रहना। कोई हवा एक जगह स्थिर होकर रही क्या ? हाँ कोई पहियेमें भर दे वह बात अलग है, क्योंकि चारों तरफ उसके आवरण है, हवा कहाँ जायगी ? अगर खुली जगहमें हवा एक जगह रुक जाय, ऐसा तो नहीं होता या तो हवा है ही नहीं और है तो वह बहती हुई ही है। एक जगह खड़ी हुई, बैठी हुई हवा नहीं हो सकती। सो चाहे हवा अपने बहनेका स्वभाव बंद कर दे, बहना बंद कर दे, पर लोभ अग्नि कभी अशान्तिदायकताको नहीं छोड़ सकता है। जहाँ लोभ है वहाँ अशान्ति होगी ही।

व्यवहृत पाप व अशान्तिका जनक पापस्वरूप लोभ—लोभ पापका बाप बखाना। बापके मायने जनक। पापको उत्पन्न करने वाला कौन ? लोभ कषाय। कदाचित् अग्नि जलानेका काम बंद करके शान्त होकर बैठ जाय, जो कि अत्यन्त असम्भव है। अग्नि होती जाज्वल्यमान और उसपर कागज कूड़ा कुछ भी डालें, उसको जला देती है। शान्त होकर बैठ जानेकी बात अत्यन्त असम्भव है, पर कह रहे कि चाहे असम्भव बात भी सम्भव हो जाय, पर लोभ अग्नि कभी शान्तिदायक नहीं बन सकती। यह दुर्लभ मानवजीवन गुजार दिया लोभ और मोहमें ही रहकर, पाया क्या ? सब खोया ही खोया है। दूसरे पदार्थसे मोह किया, उसका फल क्या मिलता है ? प्रत्येक मनुष्यको देख लो, पछतावा मिलता है। कोई भी जोड़ा हो, चाहे पिता-पुत्रका ले लो या पति-पत्नीका ले लो, यह समागम सदा बना रहे, ऐसा हो सकता क्या ? मृत्यु सबकी है। अब मृत्यु होनेपर कोई पहले मरेगा, कोई बादमें मरेगा। तो जो पहले मर गया वह उतना टोटेमें नहीं रहता जितना कि जिन्दा रहने वाला टोटेमें रहा, क्योंकि जो मर गया सो चला गया, नये शरीरमें पहुंच गया, नया उपयोग बन गया, नई बात हो गई और जो घरमें बच गया, जिन्दा है वह उस मरेकी याद करके, सोच-सोच करके बहुत दिनों तक दुःखी रहता है। तो कौन रहा टोटेमें मरने वाला या जिन्दा रहने वाला ? जिन्दा रहने वाला। तो मतलब यह है कि मृत्यु सबकी होती है, जो मोह करेगा उसके फलमें अन्तमें पछतावा ही हाथ लगता है।

मोहका दुष्परिणाम—गुरुजी एक घटना बतलाते थे कि बम्बईका कोई एक बड़ा ऊँचा गणितका प्रोफेसर था। उसे अपनी स्त्रीमें बड़ा मोह था। जब स्त्री घरसे कहीं बाहर जाती थी तो वह उस स्त्रीके ऊपर छाता लगाकर साथ जाया करता था, इतना मोह था उस पर। ऐसा तो आजकल भी कोई नहीं करता। तो उस स्त्रीने उस प्रोफेसरसे कहा कि देखो

हमसे इतना अधिक मोह न रखो। नहीं तो हमारे मर जाने पर तुम पागल बन जावोगे। आखिर हुआ भी वैसा ही। वह स्त्री मर गयी तो वह प्रोफेसर उसके पीछे पागल बन गया। वह एक दिन बनारसके भदैनी घाटकी एक धर्मशालामें ठहरा हुआ था। अकेला ही था। वहीं पर हमारे गुरु गणेशप्रसाद जी व धर्ममाता चिरोंजाबाई जी भी ठहरी हुई थीं। सो एक बार सहसा ही आवाज आयी—अरे तुम अभी उठोगी नहीं क्या, सवेरा हो गया है, मंदिर नहीं जावोगी क्या ? खाना नहीं बनाओगी क्या ?···इस प्रकारकी आवाज सुनकर बाई जी ने सोचा कि यहाँ उस एक प्रोफेसरके अलावा दूसरा कोई ठहरा नहीं है, यह कह किससे रहा ? यह जाननेके लिए उस प्रोफेसरको अपने पास बुलाया और पूछा कि अभी तुम किससे बातें कर रहे थे ? तो उस प्रोफेसरने उस अपनी स्त्रीकी फोटो निकालकर दिखायी और सारी घटना बतायी कि इस तरहसे हमारा दिमाग बिगड़ गया। तो देखिये मोह करनेसे नफा कुछ नहीं, उल्टा बरबादी ही है। मतलब कुछ नहीं, लेना-देना कुछ नहीं, भिन्न सत्ता है, न कभी कुछ मेरा हुआ, न हो सकता है, न हो सकेगा। सो यह बाहरी पदार्थ तो मानो यह कह रहा है कि तुम मुझसे मोह न करो, मैं भिन्न हूं, परपदार्थ भिन्न हैं और यहाँ मोही कह रहे कि मान न मान मैं तेरा महिमान। ये चेतन अचेतन सब पदार्थ रोज घटना द्वारा शिक्षा देते रहते हैं कि हम तुम्हारे कुछ नहीं हैं, पर यह मोही यह कहता है कि तुम मुझे मानो या न मानो, हमारे तो तुम महिमान हो, बड़े हो, सर्वस्व हो। तो मोहमें ऐसी स्थिति बिगड़ती है कि इसको संसारमें रुलकर दुःखी ही होना पड़ता। सबसे बड़ी विपत्ति है जीवपर तो यह है कि अज्ञान और मोहभाव इसपर लदा हुआ है। दूसरी कोई विपत्ति नहीं। बाहरी पदार्थ जुड़ गए या कम हो गए यह कोई विपत्ति नहीं। इतने कम हो गए तो हो गए, अमुक जगह हो गए तो हो गए, यह कोई विपत्ति नहीं। जो आत्मामें मोह और लोभके परिणाम बन रहे हैं ये विपत्ति हैं। यह भार है अपने ऊपर। सो इस छंदमें यह बताया गया है कि किसी समय असम्भव बात भी सम्भव हो जाय तो हो जाय, पर लोभसे शान्ति सुख मिल नहीं सकता।

लब्धेंधनज्वलनवत्क्षणतोपि वृद्धिं लाभेन लोभदहनः समुपैति जंतोः।
विद्यागमव्रततपः शमसंयमादीन् भस्मीकरोति यमिनां स पुनः प्रबुद्धः ॥६४॥

जैसे कोई अग्नि बुझने वाली हो, ऐसी स्थितिमें उसको ईंधन मिल जाय तो वह अग्नि फिरसे जवान बनकर, तीव्र बनकर बड़ेसे बड़े मकानोंको भस्म कर सकती है, इसी प्रकार कभी लोभ रूपी अग्नि कुछ बुझ सी रही हो याने झक मारकर लोभ छोड़ा जा रहा हो, हर बातमें निराशा ही निराशा पा रहा हो और बाह्य पदार्थोंकी प्राप्ति नहीं हो पाती है

तो यह अपनी लाभ कषायको भी क्षीण कर देता है। उसमें अब लोभकी जवानी नहीं बन पाती। तो ऐसी स्थितिमें जहाँ कि लाभ कषायरूपी अग्नि बुझसी रही हो उसको मिल जाय कुछ ईंधन। कुछ वैभव तो वह लोभ फिरसे बढ़कर इतना प्रबल हो जाता है कि बड़े-बड़े तपस्वियोंकी विद्या, यम नियम संयम इन सबको खतम कर देता है। द्वीपायन मुनिका लोभ कितना बुझासा ही तो था सभी कषायें बुझी थीं तब ही तो उनको तैजस ऋद्धि प्राप्त हुई थी। मिथ्यादृष्टिको तैजस ऋद्धि कहाँ प्राप्त होती? वह सम्यग्दृष्टि थे। उनके लोभकषाय तो बहुत बुझा सा ही था, मगर एक घटनामें जरा सा क्रोधका ईंधन मिला कि एकदम दहक उठा और सारी नगरीको भस्म कर दिया। खुद भी भस्म हो गया। तैजस ऋद्धि वालेके क्रोधमें बायें कंधेसे बिलावकी तरह बुरे आकारका तैजस पुतला निकलता है सो वह ६ या १२ योजन तक फैलकर जो कुछ है सबको भस्म कर डालता है। ऐसी ही लोभकी बात है। लोभ कषाय कुछ बुझसा रहा हो और ऐसे समयमें विषयसाधनोंका ईंधन मिल जाय तो फिर यह लोभ कषाय फिरसे तगड़ा बन जाता है, और सारे गुणोंको भस्म कर देता है। कषायें तो सभी अग्निकी तरह हैं। क्रोधको भी अग्नि कहा, मानको भी अग्नि कहा, मायाको भी अग्नि कहा और अब लोभको भी अग्नि कह रहे। और ऐसी तीव्र अग्नि हैं ये सभी कषायें कि इस दिखने वाली अग्निसे भयंकर हैं। मान भी गुणोंको भस्म करता, मायासे भी सब गुण भस्म हो जाते हैं और लोभसे भी सब गुण भस्म हो जाते हैं। लोभसे उल्टा चलें तो भला। लोभका उल्टा शब्द है भलो। अगर लोभसे उल्टा चलें तो भला होगा। इससे इस लोभ कषायका परिहार करना चाहिए।

उदारता एवं सत्कृतिसे पुण्यकी वृद्धि—इस सम्बंधमें एक किम्बदन्ती है कि एक बार ब्रह्माजी किसीको करोड़पति सेठके घर पैदा होनेके लिए भेज रहे थे और उसके भाग्य में लिख रहे थे—काला घोड़ा और ५ रुपया। उधरसे निकले कोई साधु महाराज और पूछ बैठे कि ब्रह्माजी, आप क्या कर रहे हैं? तो ब्रह्माजी बोले—हम इस जीवको एक करोड़पति सेठके घर पैदा होनेके लिए भेज रहे हैं और इसका भाग्य लिख रहे हैं। तो साधु बोला—इसके भाग्यमें आपने क्या लिखा?····काला घोड़ा और ५ रुपये।····अरे अरे यह तो आप उसके साथ अन्याय कर रहे। इससे तो अच्छा है कि उसे किसी दरिद्रके घर भेज दो।···· नहीं नहीं हमने तो जो इसके भाग्यमें लिखना था सो लिख दिया।····अच्छा तो आपका इस रेखाको हम मेटकर ही रहेंगे। (देखिये यह अन्य मत वाले लोगोंका कथानक है। मात्र प्रयोजनकी बात इससे लेना) अब वह बालक पैदा हो गया उस धनिक सेठके घर। उसके पैदा होते ही सेठका धन कम होने लगा। ज्यों-ज्यों वह बालक बड़ा होता गया त्यों-त्यों सेठका

सारा धन क्षीण होता गया। अन्तमें उस लड़केके पास रह गया वही काला घोड़ा और ५ रुपये। वहाँ वह साधु पहुंचा और बोला—बेटा, तुम मेरा कहना मानोगे?....हाँ हाँ अवश्य मानेंगे। कहो क्या आज्ञा है?...तुम अपना घोड़ा बेच दो और तुम्हारे पास जो ५ रुपये हैं उन सहित सबकी भोजन-सामग्री (शक्कर, तेल, दाल, चावल, आटा वगैरा) मंगा लो और नगरके सभी लोगोंको खूब भोजन कराओ। अब उस लड़केने वैसा ही किया। बाजार गया, १००) में घोड़ा बेच दिया, अब उसके पास हो गए १०५) सो १०५ रु० की भोजन-सामग्री मंगाकर सभी लोगोंको खूब खिलाया। अब उसके पास घोड़ा और ५ रु० तो रहे नहीं सो ब्रह्माजी ने सोचा कि हमने इसके भाग्यमें काला घोड़ा और ५ रुपये लिख रखा है सो तुरन्त भेजना चाहिए। यह सोचकर दूसरे दिन फिर उस लड़केके पास काला घोड़ा और ५ रुपये हाजिर हो गए। दूसरे दिन भी उस साधुने वैसा ही कार्य कराया। यही काम बीसों दिन चलता रहा। अब रोज-रोज कहाँसे ब्रह्मा जी काला घोड़ा लायें? ५ रुपये तो जब चाहे टपका दें, पर काले घोड़े वाली समस्या उनके सामने भारी आ गई। आखिर परेशान होकर ब्रह्मा जी को उस लड़केकी वह रेखा मेटनी पड़ी और उसके भाग्यमें वैसा ही लिखना पड़ा जैसा कि उसके पिताका भाग्य था। यह किंवदन्ती शिक्षाके लिये दुहराई है।

पुण्यविपाकसे पुनः समागमोंकी घटनायें—भैया! लोभ करनेसे फायदा क्या? इस लोभमे उल्टा चलें तो भला होगा। आज जो पुण्योदयसे धन प्राप्त हुआ है उसको योग्य कार्यों में खर्च करें तो उससे कहीं धन कम नहीं होता। अगर पुण्यका उदय है तो धन तो धा-धाकर आयगा। बड़े-बड़े राजा महाराजावोंके कथानक सुननेको मिलते हैं कि वे सब कुछ छोड़कर चले गए, पर उनके पुण्यका उदय होनेसे फिर ज्योंके त्यों धनिक बन गए। यहींकी बात देख लो—जब हिन्दुस्तान और पाकिस्तानमें बंटवारे पर आंतरिक युद्ध शुरू हो गया तो कितने ही लोग सब कुछ छोड़कर मात्र एक तौलिया पहनकर भगे, पर कुछ ही दिनोंमें वे फिर ज्योंके त्यों धनिक बन गए। तो इस लोभकषायका त्याग करें। इस लोभ कषायके ही कारण बड़े-बड़े गुणसमूह भस्म हो जाते हैं।

वित्ताशया खनति भूमितलं सतृष्णो धातून गिरेर्धमति धावति भूमिपाग्रे।
देशांतराणि विनिधानि विगाहते च पुण्यं बिना न च नरो लभते स तृप्ति ॥६५॥

पुण्यके बिना इष्टलाभकी अशक्यता—यह मनुष्य धनकी आशासे पृथ्वीके तलको खोद देता है। यहाँ मिलेगा धन, घरके इस हिस्सेमें मिलेगा धन। खोदता है और कुछ प्राप्त नहीं होता। एक विचित्र बात जिसकी शोहरत है कि घरमें बहुत धन उसके पिता या बाबा गाड़कर रख गए थे और कदाचित् वह खोदता है तो कभी-कभी निकलता तो मटका है, पर

उसमें कोयला निकलता है । अब बताओ कोयला भरकर कोई गाड़ेगा क्या ? अरे गाड़ा तो था धन, मगर वहाँ कोई ऐसी ही विधि बन जाती कि वहाँसे कोयला निकलता है । इस बात का अंदाज आप एक दृष्टान्तसे कर लीजिए । आप लोगोंने अनेकों बार जादूगरोंके तमाशे देखे होंगे । उसमें क्या बात देखनेमें आती सो आप सब जानते ही हैं । बड़ा आश्चर्य हो जाता है उनका वह कार्य देखकर । मान लो उस जादूगरने पूछा किसीसे कि बोलो तुम कौनसी चीज कहाँकी मंगाना चाहते हो, हम तुरन्त हाजिर करके दिखायेंगे । यदि वह कहे कि हमें तो विदेशकी अमुक चीज मंगाकर दिखा दो तो वह जादूगर झट वही चीज मंगाकर सबके सामने हाजिर कर देता है । अब बात वहाँ क्या हुई, सो मेरे ख्यालसे तो उन्हें किसी देवकी सिद्धि होती है । सो वह देव तुरन्त अपनी कलासे वह चीज लाकर सबके सामने हाजिर कर देता है, नहीं तो उस जादूगरमें ऐसी सामर्थ्य कहाँ जो ऐसा करके दिखा दे । एक बात यहाँ समझना कि जिनकों भूत प्रेतकी सिद्धि होती है, उनका जीवन बिल्कुल बेकारसा रहता है, दूसरे वे किसीके धनको हर नहीं सकते । हाँ भले ही किसीका धन भूला हुआ हो, जिससे किसीको कुछ कष्ट न हो, ऐसे धनको भले ही वे वहाँसे निकाल सकें । तो बात यह बतला रहे कि जब किसीके पुण्यका अस्त होता है तो वही धन उसे कोयलेके रूपमें प्राप्त होता है और जिसके पुण्यका तीव्र उदय होता है उसके साथ कोई कितने ही उपाय करे, पर उसका कोई बाल-बाँका नहीं कर सकता है । देखिये—कालसम्वरके पुत्रने प्रद्युम्नको मारनेके लिए कितने ही उपाय किए, पर जहाँ जहाँ भी वह प्रद्युम्न गया वहींसे उसको अनेक विद्यायें मिलीं । तो ये सब बाहरी बातें पाप पुण्यकर्मके आधीन हैं । बुद्धिमान् पुरुष वे हैं जो इनकी चाह नहीं करते । सबका अपने-अपने भाग्यके अनुसार गुजारा चलेगा, उसकी अधिक क्या चिंता करना ?

सहजज्ञानानन्दसम्पन्न अन्तः प्रभुको भूलकर अन्य नाना प्रयत्नोंमें भी शाँतिकी असम्भवता——धनकी आशासे लोग पृथ्वी तलको खोदते हैं । कितने ही लोग धन जोड़नेके लिए पर्वतकी शिलावोंका धातुवोंका दहन करते हैं । और भी न जाने कितने ही कष्ट उठाते एक धन जोड़नेके लिए । धन संचय करनेके प्रयत्नमें रात-दिन रहते फिर भी कभी तृप्त नहीं हो पाते । कितने ही मनुष्य तो राजाके आगे-आगे दौड़ते हैं, क्योंकि धन प्राप्तिका स्थान राज्याश्रय है । आज भी यही देखा जा रहा है । भले ही कोई राजा नहीं रहा, मगर किसी तरह परमिट लेना, किसी प्रकारके अन्य कोई अधिकार पाना, उससे धनसंचयका काम करते हैं । तो धनसंचयके लिए राजाके आगे-आगे दौड़नेपर भी मिलता वही है जितना कि उसके पुण्य बंधा है उससे अधिक यह मनुष्य एक धनसंचयकी आशासे ही तो देश-विदेश भागता-फिरता है । बहुत-बहुत यत्र-तत्र भटकनेपर भी जिसके जैसा पुण्यका उदय है उसके अनुसार उसे धन प्राप्त

होता है। यहीं देख लो—एक ही माँ के दो सगे भाइयोंमें एक भाई तो कहो बड़ा राज्याधिकारी बन जाय, कड़ा धन-वैभव, यश-प्रतिष्ठा प्राप्त कर ले और एक भाई कहो दो रोटियोंके लिए भी मोहताज हो जाये। तो कितना ही प्रयत्न कर लिया जाय, पुण्यके योग बिना कही भी लाभ सम्भव नहीं। ये सब बाह्य बातें हैं, इससे अपने चित्तको ऐसा बनाना चाहिये कि इन बाह्य पदार्थोंकी क्या आकांक्षा करना? एक ज्ञानघन अन्तस्तत्त्वकी आराधनामें ही सर्व सिद्धि है। बाह्य पदार्थोंके आश्रयसे मानो ये बाह्य पदार्थ प्राप्त भी हो जायें फिर भी शान्ति तो नहीं मिल पाती, पुण्यके प्रभावसे कहो घर बैठे ही सम्पदा आये और पुण्यके अभावसे कहीं भी जाये. कितना ही श्रम करे, पर सम्पदा नहीं मिल पाती, बल्कि जो पासमें है वह भी निकल जाती। तो धनकी आशा छोड़कर पुण्यका अर्जन करना यह तो आगे सुखी होनेका मार्ग है, पर आशासे प्रयत्न करते रहना यह सुखी होनेका मार्ग नहीं है। और सही मार्ग तो पुण्य पाप दोनोंसे विलग होकर आत्मधर्मकी दृष्टि अनुभूति करना सच्चा मार्ग है।

वर्धस्व जीव जय नंद विभो चिरं त्वमित्यादिचाटुवचनानि विभाषमाणः।
दीनाननो मलिननिंदितरूपधारी लोभाकुलो वितनुते सधनस्य सेवां ॥६६॥

लोभीका तृष्णावश चाटुकारिताका व्यवहार—तृष्णाके वश होकर जीव क्या-क्या करता है, उन सब घटनाओंका दिग्दर्शन कुछ छंदोंमें चलेगा। इस छंदमें बतला रहे हैं कि यह जीव धनकी आशासे धनीके पास जाता है और दीन दुःखी होकर उनके मनको प्रसन्न करने वाले चाटुवचन बोलता हैं—जीवो, बढ़ो, जयवंत हो, आनन्दित हो। और भी अपनी-अपनी भाषामें जैसे कहा जाता—दूधन नहावो, पूतन फलो आदिक नाना चापलूसीके वचन कहकर उनकी सेवा-सुश्रुषा करते हैं। तृष्णाके परिणामकी चेष्टा बनायी जा रही है। जीव स्वयं ज्ञानानन्द सम्पन्न है, उसकी तो सुध नहीं लेता और बाहरी उपयोग करके बाह्य पदार्थों से मुझे सुख शान्ति मिलती है, ऐसी बुद्धि करता हुआ परके आधीन बना रहता है। लोभ कषाय—यह बहुत मुश्किलसे छूटने वाली कषाय है, तभी बताया है आगममें कि इसके क्रोध, मान, माया पहले छूटते हैं और लोभकषाय अंतमें नष्ट होती है। सूक्ष्म रूपसे संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ये ९वें गुणस्थानमें नष्ट हो जाते हैं। यह सूक्ष्म लोभ १०वें गुणस्थानमें चलता है, उनका अंतमें नष्ट हो पाता है। लोभका रंग निरंतर चित्तमें बना रहता है। सोया हुआ, जगता हुआ कैसी भी स्थितिमें हो, जिसके लोभकषाय है उसकी और दृष्टि वासना भीतर निरन्तर रहा करती है। सो यह जीव लोभके वश होकर दीन दुःखी होकर अनेक प्रकारके चाटु वचन बोलते हैं।

चक्षुःक्षयं प्रचुररोगशरीरबाधाश्चेतोभिघातगतिभंगममन्यमानः।
संस्कृत्य पत्रनिचयं च मषीं विमर्द्य तृष्णातुरो लिखति लेखकतामुपेतः ॥६७॥

लोभीका मषिकार्य करके दुःखभाजनपना--अब मुनीमीका भी एक व्यवसाय है वह भी लोभवश किया जाता है। पहले तो स्वयं ही मुनीम लोग काली स्याही भी बनाते थे घोट घोटकर और उसे १२ महीनेके लिए रखते थे, उससे रोकड़खाता लिखते थे। उस लेखनकार्य से नेत्रोंकी ज्योति मंद हो, शरीरमें अनेक प्रकारके रोग पैदा हों गद्दीमें बहुत समय तक बैठे रहनेसे, तो ये जो मसीके कार्य किए जाते हैं वे सब लोभवश ही तो किये जाते हैं। यहाँ क्या कार्य किए जाते हैं उन सभी कार्योंका वर्णन है। आजीविकाके जितने साधन हैं वे ६ प्रकार के बताये गए। असि—तलवार आदिकसे रक्षा करनेकी नौकरी करना, मसि—स्याहीसे लिखना याने मुनीमी करना, शिल्पी—कारीगरीके काम करना और सेवा करना, जैसा कि नाई, धोबी वगैरा करते हैं। तो आजीविकाके जितने भी कार्य हैं ये सब लोभवश ही तो करने पड़ते हैं। यद्यपि कुछ लोग संतोषी हैं और केवल अपने गुजारे मात्रका ध्यान रखते हैं, पर वह भी आखिर है तो लोभ ही। फिर अनेक लोग जो आवश्यकतासे कुछ सम्बंध नहीं रखते और चाहते हैं कि मैं सबसे अधिक धनिक बन जाऊँ, ऐसी भावनासे कार्य करते हैं, ये सब कार्य लोभवश ही तो किए जाते हैं।

विश्वंभरां विविधजंतुगणेन पूर्णां स्त्रीं गर्भिणीमिव कृपामपहाय मर्त्यः।
नानाविधोपकरणेन हलेन दीनो लोभार्दितः कृषति पापमलोकमानः ॥६८॥

लोभवशीका विविधजन्तुपूर्ण पृथ्वीका कर्षण--यह पृथ्वी विश्वम्भरा कहलाती है। नाना प्रकारके जीव-जंतु प्राणियोंसे यह भरी हुई है, सो नाना प्रकारके उपकरणोंसे, हलोंसे यह पुरुष दीन होकर, लोभसे पीड़ित होकर पापको न गिनता हुआ इस जमीनको जोतता है, खोदता है। यद्यपि कुछ न कुछ कार्य आजीविकाके लिए करना तो पड़ता ही है सो जैसा जो करना पड़ता, करे, मगर है तो पापका ही घर। यह खेती विषयक बात कही जा रही है कि कितने जंतु इस पृथ्वीमें होते हैं, फिर भी इस पृथ्वीको यह मनुष्य जोतता है, खोदता है, उसमें कितने ही जीव मर जाते हैं, ऐसा कार्य लोग लोभके वश होकर ही तो करते हैं। गर्भिणी स्त्रीके उदरमें बच्चा रहता हैं तो उस पर कृपा न करके कामवश होकर यह उसको गिरानेमें पाप नहीं समझता। कितने ही पुरुष हैं ऐसे और आजकल तो सुना है कि कुछ उस कामके लिए दफ्तर भी बने हैं जैसे कि चिकित्सालय। तो चाहे वे सरकारसे मंजूरी लेकर खुलकर बने हों या बगैर मंजूरीके मगर अनेक जगह बने हैं जहाँ कि गर्भिणी स्त्रियोंके बच्चे गिरानेका कार्य होता है। तो जैसे उन कामी जनोंका हृदय है, पाप नहीं तकते, ऐसे ही लोभी

जनोंका भी हृदय है कि जीव जंतुवोंसे भरी हुई इस पृथ्वीको जोतनेमें पाप नहीं समझते, और ऐसा करना पड़ता है। यहाँ सभी प्रकारके व्यवसायोंके सम्बंधमें संकेत दिया है कि लोभ ही एक ऐसा कारण है कि जिससे ये सब कार्य करने पड़ते हैं।

भोगोपभोगसुखतो विमुखो मनुष्यो रात्रिंदिव पठनचिंतनशक्तचित्तः।
शास्त्राण्यधीत्य विविधानि करोति लोभादध्यापनं शिशुगणस्य विवेकशून्यः ॥६९॥

लोभवशीका रात-दिनका अध्ययन अध्यापन—यह मनुष्य भोग और उपभोगको भी तिलाञ्जलि देकर मानो अपने आरामको खोकर रात-दिन पढ़नेको ही अपना ध्येय समझता है। स्कूलों कालेजोंमें जो पठन-पाठन किया जाता है वह कोई धर्मपालनके उद्देश्यसे नहीं किया जाता, किन्तु अपनी आजीविकाका काम बनानेके लिए किया जाता है। तो रात-दिन पठन-पाठनमें अपना उपयोग लगाते और अपना सारा आराम खो देते हैं कभी नाना प्रकारके शास्त्र पढ़कर कुछ ज्ञान हासिल कर लिया, पर लोभके फंदेमें फंसकर उस विद्याको पढ़ानेकी नौकरी कर लेते हैं। देखिये—पहले जमानेमें पढ़ाने लिखानेकी नौकरी नहीं हुआ करती थी। वह एक गुरु और शिष्यका सम्बंध चलता था और भावोंके कारण चलता था, पर जैसे-जैसे समय बीता, जरूरत बनी तो स्कूल कालेजोंमें पढ़ने पढ़ानेकी पद्धति चली, उसमें बुरे अच्छेकी बात नहीं कह रहे, किन्तु ये कार्य भी लोभके वश होकर ही तो करने पड़ते हैं। बड़े बड़े शास्त्र पढ़ लिए, परीक्षायें पास कर ली और चूंकि कमानेकी चिन्ता रहती है, अन्य कोई उपाय सूझता नहीं, तो द्रव्य लेकर पढ़ाना प्रारम्भ कर देते हैं. और लोभ एक ही किस्मका नहीं होता। इज्जत बचानेका भी एक लोभ होता है। सो कितने ही पंडित लोग वृद्ध होकर भी रातोंरात जगकर बहुत-बहुत अध्ययन करते हैं। बनारसकी एक घटना है। वहाँ कोई शास्त्रीजी थे। वे बहुत वृद्ध हो चुके थे। उनका नाम विद्वतामें बड़ा प्रसिद्ध था। उनके अनेक विद्वान शिष्य भी तैयार हो गए थे। यह सब कुछ होते हुए भी वे रात-दिन बहुत बहुत अध्ययन किया करते थे। एक दिन उनसे कोई पूछ बैठा कि आप इतने विद्वान होकर भी इस अवस्थामें रात-दिन पढ़ते रहनेका श्रम क्यों किया करते हैं? तो उनका जवाब मिला कि हमारी इज्जत लोगोंके बीचमें अच्छी बनी हुई है। अब मान लो कोई दूसरा व्यक्ति या कोई हमारा ही शिष्य यदि हमसे शास्त्रार्थ कर बैठे और हम उससे शास्त्रार्थमें हार जायें तब तो हमें सिवाय कुवेंमें गिरकर मरनेके और कोई चारा न रहेगा। सो हुआ भी वैसा ही। कोई उनका ही युवक शिष्य उनसे एक दिन बोल उठा कि हम तो आपसे ही शास्त्रार्थ करना चाहते हैं। आखिर हुआ शास्त्रार्थ। अब कोई कारण था या वृद्धावस्थामें कुछ स्मृति भी कम हो जाती। आखिर वह सब पंडितोंका गुरु उस विवादमें हार गया जिसके कारण वह वृद्ध

पंडित कुवेंमें गिरकर मर गया। तो लोभ धनका भी होता, इज्जतका भी होता, सांसारिक सुखोंका भी होता। यह जीव लोभवश अनेक चेष्टायें करता है।

वस्त्राणि सीव्यति तनोति विचित्रचित्रं मृत्काष्ठलोहकनकादिविधं चिनोति।
नृत्यं करोति रजकत्वमुपैति मर्त्यः किं किं न लोभवशवर्तितया विधत्ते ॥७०॥

लोभवश सीना, कड़ाई, चित्र, नृत्य, धुलाई आदि कर्मोंका करना—यह मनुष्य लोभके वश होकर कपड़े सींता है याने दर्जीका काम करता है। अब करना चाहिये या न करना चाहिये इसकी चर्चा यहाँ नहीं कर रहे, किन्तु यह कह रहे कि लोभवश होकर यह मनुष्य न जाने क्या-क्या चेष्टायें करता है। लोभके वश होकर नाना प्रकारके चित्र खींचनेका काम (फोटोग्राफरका काम) करता है, बर्तन वगैरा बनाता है। फर्नीचर कारखाने आदिक बनाता है, आभूषण तैयार करता है, लोहेके शस्त्र, बर्तन, कल-पुर्जे वगैरा तैयार करता है। देखिये—ये सब कार्य एक लोभके वश होकर ही तो किये जाते हैं। बड़ी-बड़ी सभा सोसायटियोंमें नृत्य गायन करना, अपवित्रसे अपवित्र कपड़े धोना, अब क्या-क्या काम गिनायें, सभी कामोंके करनेका कारण मिलेगा एक लोभकषाय। देखिये—आजकल कपड़े धोनेका काम सिर्फ धोबियोंके हाथ नहीं रहा। जगह-जगह ड्राईक्लीनर्स खुल गए जिनमें अच्छे-अच्छे लोग भी ये काम कर रहे, तो एक लोभके कारण ही तो कर रहे ना? ऐसे कौन करेगा? तो लोभके कारण कोई योग्य अयोग्य कार्य भी नहीं गिनता। इस लोभकषायका कितना बड़ा साम्राज्य छाया है इस जगतमें यह बात इन कुछ छंदोंमें बताई जा रही है।

लोकस्य मुग्धधिषणस्य विवंचनानि कुर्वन्नरो विविधमानविशेषकृत्या।
संसारसागरमपारमवीक्षमाणो वाणिज्यमत्र विदधाति विवृद्धलोभः ॥७१॥

लोभी पुरुषके वञ्चनापूर्ण वाणिज्यका परिश्रम—इस छंदमें वाणिज्य (व्यापार) की बात कही गई है। लोभवश सब कुछ करना पड़ता है। जिन-जिन चेष्टावोंको यह मनुष्य करता है उनका वर्णन यहाँ चल रहा है। लोभके वश होकर यह मनुष्य देश-विदेश पहुंचकर, बड़े-बड़े कष्ट उठाकर, बड़े मिष्ट वचन बोलकर, नाना प्रकारके हाव-भाव दिखाकर द्रव्य कमानेका प्रयत्न करता है। यह वाणिज्य ऐसा ही होता जिसमें अनेक प्रकारके विकल्प किए जाते हैं। तभी तो इसका नाम रखा है दुकान। दुकानके दो अर्थ यहाँ समझिये—एक तो दुकानका अर्थ है—दो कान वाला काम याने एक तो ग्राहकका कान और एक बेचने वालेका काम। इन दो के व्यापारको दुकान कहते हैं, दूसरा अर्थ है दुका न, याने अपने मालको छिपाकर (दुकाकर) रख न, तभी तो दुकानदार लोग अपने बेचे जाने वाले मालको ग्राहकोंके सामने खोलकर बड़ी अच्छी हालतसे रखते। यदि मालको कोई दुकानदार छिपाकर रखे तो

उससे कौन माल खरीदे ? तो दुकानका मतलब हुआ कि दो कानोसे जहाँ मतलब चले, ग्राहक और बेचने वाला उसका नाम है दुकान । अब मनुष्योंका सम्बंध हुए बिना वाणिज्य तो नहीं किया जा सकता । सो उस वाणिज्यमें भले मीठे वचन बोलकर उसका आकर्षण करना और फिर उससे लाभ लेना यह वाणिज्यमें होता है । तो यह जीव लोभवश होकर वाणिज्यका कार्य करता है ।

> अध्येति नृत्यति लुनाति मिनोति नौति क्रीणाति हंति वपते चिनुते विभेति ।
> मुष्णाति गायति धिनोति विभर्ति भित्ते लोभेन सीव्यति पणायति याचते च ॥७२॥

लोभसे नाना चेष्टावोंका श्रम—यह मनुष्य लोभसे द्रव्य कमानेकी इच्छाको बढ़ाता है । कितने ही लोग आजकल जो कालेजोंमें बायलोजी (जीवविज्ञान) पढ़ते हैं, जिसमें मेढक वगैरा कितने ही जीव चीरे जाते हैं, वे बताते हैं कि हम लोग इस जीवविज्ञानको पढ़कर परोपकार करेंगे, कितने ही प्राणियोंका उपकार करेंगे, पर उनकी यह बात सही नहीं है । उपकारकी भावना वहाँ नहीं है, वहाँ भावना होती है धन कमानेकी । यदि परोपकारकी भावना होती तो सीखते हुएमें जो कितने ही जीव मारे जाते, वह काम न करते । तो वह तो उनकी संकल्पी हिंसा है, उसे हिंसासे दूर नहीं किया जा सकता । हाँ लोग एक धर्मकी आड़ लेकर इस तरहसे बात करते हैं कि हम परोपकार करेंगे । सो उनकी वह बात मिथ्या है । तो लोभके वश होकर ही तो लोग इस प्रकारकी विद्यायें पढ़नेका कार्य करते हैं । देखिये एक निर्लज्जसा होकर जो नृत्य करनेका काम बहुतसे लोग करते हैं, बड़े हाव-भाव दिखाकर लोगोंमें आकर्षण पैदा करते हैं, वह कार्य भी लोभकषायके बिना कोई नहीं करता । यह मनुष्य लोभके वश होकर घास लकड़ी आदि अनेक चीजोंको काटता है, उनको काटकर वाणिज्यका व्यवसाय करता है । राजा महाराजावोंकी स्तुति करनेका काम भी तो लोभवश ही किया जाता । पहले जमानेमें राजाके पास भाट लोग जाकर राजाकी स्तुति किया करते थे उस स्तुतिमें उस राजाके अनेक पीढ़ीके लोगोंका नाम ले लेकर वे भाट लोग उस राजाका गुणानुवाद किया करते थे । तो इस प्रकारके कार्योंको लोभके कारण ही तो किया जाता है । लोभके वश होकर ही मालका क्रय-विक्रय करनेको चेष्टायें की जाती हैं । लोभके वश होकर ही यह मनुष्य कितने ही जीवोंकी हत्या कर देता है । लोभके वश ही यह मनुष्य बीज बोता है, फूल चुनता है ।

नाना विचित्र चेष्टावोंके बीज लोभकषायकी विडम्बनाका प्रदर्शन—देखिये—ये सब कार्य तो बताये गए हैं । इनको सुनकर अगर कोई कह बैठे कि ये सब कार्य न करने चाहिये क्या ? तो यहाँ करने न करनेकी बात नहीं कही जा रही, करना चाहिये या नहीं, इसका

प्रसंग अलग है, वह विषय ही दूसरा है । यहाँ तो यह बताया जा रहा कि इन सब प्रकारकी चेष्टावोंमें एक लोभ कषाय ही कारण है । यह जीव लोभसे ही भय खाता है और जोड़ता है, गाना गाता है । देखिये—आजकल पंडितोंको बुलाया जाय दसलक्षणके दिनोंमें तो कहो कम खर्चमें निपट जाय और किसी गायकको, संगीतज्ञको बुलाया जाय तो उसका बहुत बड़ा खर्च बेठता है । राग रागनीकी चीज लोगोंको अधिक सुहाती है । एक उत्सवमें कोई विद्वान् पंडित बुलवाया गया और साथ ही एक नर्तकी भी । सिर्फ एक दो दिनका ही कुल प्रोग्राम था । उस विद्वान् पंडितका नाम था मनीराम और उस नर्तकीका नाम था कंचनिया । खैर उत्सव में दोनोंके प्रोग्राम हुए, जब उनकी विदाई की जाने लगी तो दोनोंको एक ही साथ विदाई दी गई । उस विदाईमें नर्तकीको तो ३०० रु० दिए गए और उस विद्वान् पंडितको ३० रु० दिए गए । तो उस समय उस विद्वान् पंडितने आशीर्वाद देते समय लोगोंसे कहा एक दोहा पढ़कर—"फूटी आँख विवेककी, काह करे जगदीश । कंचनियाको तीन सौ, मनीरामको तीस ।।" तो गायन और धार्मिक भजन गाकर द्रव्य कमाना, यह भी लोभवश होता है, और इसी लोभके कारण कर्ज लेना, दूसरोंका भरण-पोषण करना, जुवा खेलना, भीख माँगना आदि सारे कार्य किए जाते हैं । कई घटनायें ऐसी घटीं कि किसी भिखारीके मरनेके बाद उसकी झोंपड़ीमें रखे कथरी गूदड़ीमें भरे, सिले सिलाये सैंकड़ों मोहरें निकलीं । हजारोंका धन निकला, उसका वे कुछ उपयोग न कर सके । जिन्दगीभर भीख माँगी और अपने लिए भी कुछ खर्च न कर सके और अंतमें यों ही छोड़कर चले गए । तो यह सब लोभवश ही तो हुआ । इटावाकी एक घटना है कि वहाँ कोई एक ब्रह्मचारी था । वह कोई पढ़ा लिखा तो था नहीं, अकेला था, अपने ही हाथसे खाना बनाता, खाता था । वह कहींसे कुछ माँग लावे, कहींसे कुछ । लोगोंके देखनेमें वह बडी गरीबीमें अपना गुजारा करता था । एक दिन वह अचानक ही गुजर गया । तो उस समय देखा गया कि वह जो बंडी पहने था उसमें १०-१२ हजार रुपयोंके नोट निकाले । अब देखिये वह उन रुपयोंका अपने जीवनमें भी कुछ उपयोग न कर सका । लोगोंसे भीख जैसे माँगकर अपना गुजारा करता था । आखिर यों ही अन्तमें छोड़कर चला गया । तो इसमें लोभ कषाय ही तो कारण था । यद्यपि उसके उन रुपयोंसे धर्मशाला वालोंने दो कमरे बनवा दिए, पर उसके लिए तो कुछ काम न आये । तो लोभवश यह प्राणी न जाने क्या क्या काम नहीं करता । यहाँ तक कि यह भिक्षा तक भी माँगता है । तो ये सब लोभकषायके ही परिणाम हैं । अब जब गृहस्थ हैं तो आवश्यकता है, करना सब पड़ता है, मगर यह सोचना चाहिए कि ऐसा करते रहना ही तो हमारा ध्येय न होवे । इस जीवनमें यह ही करूँ, भव-भवमें वही करूँ, यह तो कोई कर्तव्य नहीं है । मैं तो कषायरहित

विकाररहित ज्ञाताद्रष्टा रहने वाला चैतन्यस्वरूप मात्र तत्त्व हूं। निज दृष्टिके प्रतापसे मुक्त होऊँ तो न संसार रहेगा और न यह सब झंझट रहेगा, ऐसी दृष्टि और प्रतीति चित्तमें रहनी चाहिए।

कुंतासिशक्तिभरतोमरतद्वलादिनानाविधायुधभयंकरमुग्रयोधं।
संग्राममध्यमधितिष्ठति लोभयुक्तः स्वं जीवितं तृणसमं विगणय्य जीवः ॥७३॥

लोभवश मरणको तृणसम गिनकर भयंकर संग्राममें पतन—लोभके कारण यह मनुष्य न जाने क्या-क्या कार्य करता है, यह विवरण चल रहा है। लोग सेनामें भर्ती होते हैं, क्या काम करनेके लिए कि कहीं युद्ध करना हो तो भयंकर युद्धमें भी वह जाकर युद्ध करे। कहीं हथियारोंसे दूसरोंसे लड़ना शौककी बात तो है नहीं, जो अपनी इच्छासे संग्राम करता हो। जो इच्छासे संग्राम करते हैं वे मालिक लोग होते सो प्रायः युद्ध करते नहीं, किंतु कराते हैं तो जो योद्धा हैं वे किसी लोभवश ही तो संग्राम करने जाते हैं। जहाँ नाना प्रकार के हथियार पुराने हथियार जैसे भाला, तलवार, बाण आदिक नये हथियार जैसे बम पटकना, पैटन टैंकमें बैठना, गोली चलाना आदि नये प्रकारकी बातें हैं। इन सबके बीच जो युद्ध करने जाता है तो हाथपर प्राण धरकर ही तो जाता है। जो युद्धमें जाता वह पहले विचार लेता कि प्राणों का अब क्या सोचना? तो अपने प्राणोंको जीवनको तृणके समान जानकर वैराग्यसे नहीं जानता तृण समान, किन्तु उस लोभके सामने अपने जीवनको भी तृणकी तरह कर लेता है और बड़े संग्रामोंमें वह युद्ध करता है। हर एक मनुष्य करता है कुछ न कुछ, इस बात पर विचार नहीं किया जा रहा, किन्तु यह सब हो रहा लोभकषायवश जो आत्माका स्वरूप नहीं, अपने स्वभावके विरुद्ध चल रहा है।

अत्यंतभीमवनजीवगणेन पूर्णं दुर्गं वनं भवभृतां मनसाप्यगम्यं।
चौराकुलं विशति लोभवशेन मर्त्यो नो धर्मकर्म विदधाति कदाचिदज्ञः ॥७४॥

लोभवश भयंकर वनोंमें प्रवेश व आवास—यह लोभी पुरुष भयानक जंगलमें भी रहा, मगर चोर डाकू तो प्रायः ऐसे वनोंका ही आश्रय लेते हैं। तो वनमें रहना मोही रागी रहकर यह तो एक कठिन कष्टकी बात है, मगर लोभके वश होकर मनुष्य भयानक जीव जंतुवों द्वारा व्याप्त बन जंगलमें रहता है। ऐसे दुर्गम स्थानमें चला जाता है, यह तृष्णावान जहाँ अपने प्राणोंको भी हथेलीपर रखकर व्यवहार करता है, वह धर्म करता हुआ सभीको भूल जाता है। अपने गुजारेके लिए पुण्योदयके अनुसार थोड़ेसे प्रयत्नसे सहज जो हो उस ही में अपनी व्यवस्था बनाकर जीवनका गुजारा चलाना और धर्मपालनमें अपना समय लगाना यह तो व्यवहारधर्ममें शामिल हो जाता है, यह भी कर्तव्य है। जब गृहस्थ है तो उसे उपदेश किया है कि वह न्यायसे धन कमाये और उस ही में अपनी व्यवस्था बनाये और धर्मपालन

करे, पर जो तृष्णा अपने चित्तमें लगाये हुए है कि मुझे इतना धन इकट्ठा क्यों न हुआ, इतना वैभव कर लूं, इस प्रकारका लोभ जिनके जगा है उनकी बात कही जा रही कि अपने लोभ की पूर्तिके लिये ये मनुष्य न जाने कहाँ-कहाँ श्रम करते हैं।

जीवान्निहंति विविधं वितथं ब्रवीति स्तेयं तनोति भजते वनितां परस्य।
गृह्णाति दुःखजननं धनमुग्रदोषं लोभग्रहस्य वशवर्तितया मनुष्यः ॥७५॥

लोभवश नाना जीवोंका हनन—जो लोभरूपी पिशाचके वशमें हैं वे मनुष्य इस लोभ के कारण नाना जीवोंकी हिंसा करते हैं। कसाईखाने खोलना, मछलियाँ मारना, मेढक चीर कर विद्या सीखना आदिक सभी बातें लोभके वश होकर की जाती हैं। सो ये मनुष्य लोभ-पिशाचके वश होकर नाना विधियोंसे जीवोंकी हिंसा करते हैं। ऐसे कारखाने बनाते कि जिनमें बहुतसे जीवोंकी हिंसा हो। जैसे ईंटोंका भट्टा लगानेका काम है, इसमें कितने ही जीवों की हिंसा होती है। कितने ही जीव उसकी आगमें भस्म हो जाते हैं। जैनशासनके अनुसार जितने रोजिगारकी आज्ञा है उसे अगर देखा जाय तो आज तो बड़ा कठिन मामला पड़ेगा क्या करें, फिर भी उनमें भी छंटनी की जा सकती है। एक बहुत बड़े दोषके व्यापार एक कम दोषके व्यापार, उनमें भी छाँटें अगर तो महान दोषके व्यापार। जयपुरमें कोई २५ वर्ष पहले हमारा एक चातुर्मास हुआ, तो वहाँ एक ऐसा व्यक्ति देखा कि जो बड़ा समझदार दिखता था, स्वाध्याय भी विशेष करता था, रईस घरका था, पर वह मिलिटरीको माँस सप्लाई करनेका ठेका लिए हुए था। अब उसके प्रति उस प्रकारकी बात सुनकर हम दंग रह गए। यद्यपि वह कहता था कि हम खुद माँस छूते नहीं हैं, उसे देखते भी नहीं हैं, सब बाहर ही बाहर काम चलता है, मगर है तो वह आखिर घोर हिंसाका ही व्यापार।

लोभवश हिंसायुक्त व्यापारोंका कलन—आजकल तो ऐसे लोग बहुत हो गए जो हिंसात्मक व्यापार करनेमें रंच भी नहीं संकोच करते। जूते बनानेकी कम्पनियाँ बेचनेकी कम्पनियाँ तो अच्छे-अच्छे लोग खोलने लगे। बहुत सूक्ष्मदृष्टिसे देखें तो सर्राफेके काममें भी बड़ा मेल मिलावट किया जा रहा, उसमें क्या कम पाप किया जा रहा। सरकारी नियम कानून भी ऐसे विचित्र-विचित्र बनते कि जिससे सारी जनता परेशानी अनुभव करती, आखिर किस तरहसे उस परेशानीसे बचाव किया जाय, कैसे परिवारका पालन-पोषण किया जाय, इस कारण भी बड़े-बड़े अन्यायके काम किये जा रहे। जो कुछ भी किया जा रहा है वह सब तृष्णावश ही तो किया जा रहा है।

केवल अगर गुजारेका ही सवाल हो तब तो सारी समस्या झट हल हो जाय। लोग सोचते हैं कि हमारा गुजारा नहीं चल रहा। आमदनी कितनी ? हजार रुपये महीनेकी।

अरे तो देख लो १००–१५० रुपये मासिक आय वालोंका भी गुजारा चल रहा कि नहीं ? ऐसे लोग हैं नहीं क्या ? जो भी परिस्थिति आये उस ही में गुजारा करनेकी कला इस जीवमें पड़ी हुई है, और यदि धर्मबुद्धि नहीं है, तृष्णामें बुद्धि है तो जिसके १० हजार रुपया महीने की आमदनी है वह भी यही महसूस करता कि मेरा तो गुजारा ही नहीं चल रहा। अभी तो बहुत कम आमदनी है। तो विधि यह है कि पुण्योदयसे अगर आता है तो आने दो खूब, आखिर चक्रवर्तीके पास भी तो खूब धन आता है, मगर तृष्णा अग्नि भीतरमें ऐसी जल रही है कि जिससे यह जीव सुखी शान्त नहीं हो पाता। तो लोभवश ही तो लोग जीवहिंसा करते हैं। बहुतसे लोग रेशमके कपड़ेका व्यापार करते हैं सो देख लो वह कितना हिंसात्मक कार्य है। रेशमके कीड़ोंको मारकर उनके अन्दरका रेशा निकालकर उससे कपड़े बनते हैं। अब कोई कहे कि हम तो बस बेचते भर हैं, बनाते तो नहीं। तो भाई बेचनेमें बनाने और उनका उपयोग करनेकी अनुमोदना तो हो हो गई। और फिर कोई यह कहे कि हम न बेचेंगे तो कोई दूसरे लोग बेचेंगे, आखिर बिकेंगे तो हैं ही, तो भाई जो बेचेगा उसे उसके सम्बंधका पाप लगेगा, तुम तो उस पापसे बच जावोगे। तो लोभके वश होकर न जाने कैसे-कैसे व्यवसाय किए जा रहे।

लोभवश मिथ्यावाद—लोभपिशाचके वश होकर ही तो यह मनुष्य झूठ बोलता है। झूठ बोलना तो लोगोंके लिए बिल्कुल आसान बन गया है। उसमें कुछ कष्ट तो उठाना नहीं पड़ता। अपने मुखमें अपनी जीभ है जैसा चाहे लटका दी, बल्कि झूठ बोलनेमें अपनी एक चतुराई समझते, उसे एक कला मानते, मगर झूठ बोलनेका जो परिणाम किया वह हिंसाका ही तो परिणाम है। देखिये—यद्यपि पाप ५ प्रकारके कहे गए, पर मूलमें एक ही प्रकार का है। वे सब पाप हिंसाके समर्थनकी ही बात कहते हैं। झूठ बोलना भी हिंसा, चोरी करना भी हिंसा कुशील सेवन करना भी हिंसा और परिग्रह संचय करना भी हिंसा, और हिंसा तो हिंसा है ही। तो इन पाँचों प्रकारके पापोंमें हिंसा बसी हुई है और हिंसा होनेके कारण ही ये पाप कहलाते हैं। स्वहिंसा और परहिंसा। यदि खोटे भाव बने तो स्वहिंसा तो हो ही गई, इसलिए पाप है। तो यह जीव लोभकषायके वश होकर झूठ भी बोलता है। पुराणोंमें बताया गया है कि पांडवोंमें उनका ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर धर्मराज युधिष्ठिरके नामसे प्रसिद्ध हुआ। सत्य बोलनेमें उसकी बड़ी प्रसिद्धि थी। एक बार क्या घटना घटी कि कौरव पाण्डवोंके युद्धमें कोई अश्वत्थामा नामका हाथी मर गया, और अश्वत्थामा नाम किसी एक सेनापतिका भी था। उस समय एक ऐसी स्थिति थी कि लोगोंमें बड़ी व्याकुलता थी कि पता नहीं अब इस युद्धका क्या परिणाम होगा। तो कुछ लोग युधिष्ठिरसे यह कहलवानेके लिए

गये कि तुम अपने मुखसे एक बार बोल दो कि सेनापति अश्वत्थामा मर गया। तुम्हारे इतना बोल देनेसे सारी सेनाका बल घट जायगा, लोग कायर बनकर भाग जायें, हमारी विजय हो जायगी। तो उस समय युधिष्ठिरने सोचा कि इस झूठ बातको मैं अपने मुखसे कैसे बोल सकता, पर वहां कुछ परिस्थिति ऐसी बनी कि बोलना ही पड़ा। तो उन शब्दोंमें न बोलकर इस तरह बोले—अश्वत्थामा हता···अर्थात् यह नहीं जानता कि हाथी है या सेनापति, पर अश्वत्थामा मर गया। देखिये—इतनीसी बात बोल देनेके कारण आज भी इतिहासमें झूठ बोलनेका कलंक चला आ रहा है। तो यह जीव लोभके वश होकर असत्य भी बोलता। चोरी करनेका नाम तो साक्षात् लोभको बात है ही। किसीका धन हर लिया अथवा कोई वचनचातुर्यसे दूसरेका माल हड़प लिया, यह सब लोभकषायके वश होकर ही तो किया जा रहा।

लोभवश चौर्यवृत्ति—चोरी करने वाले लोगोंको देखा ही होगा वे कितना दुःखी रहते। मारे पीटे जाते, कितना ही उनको चिन्तित रहना पड़ता। एक घटना है कि एक बार तीन चार चोर चोरी करने जा रहे थे, उन्हें रास्तेमें एक नया व्यक्ति मिल गया। उससे कहा कि भाई हम लोग चोर हैं, तुम भी हमारे साथ हो लो। तो वह बोला—भाई हम चोरी करना नहीं जानते।····अच्छा तो कुछ बात नहीं, हम जैसा कहें वैसा करते रहना, साथ बने रहना। ····ठीक है। चल दिया चोरी करने। एक घरमें घुस गए। बहुतसा माल इकट्ठा किया इतनेमें घरका मालिक जग गया तो जो चतुर चोर थे वे तो घरके मालिकके जगनेपर तुरन्त भाग गए, उन्होंने पहलेसे हो देख लिया था कि मौका पड़नेपर किधरसे भाग सकेंगे। अब जो नया चोर था वह कहीं न भाग सका। घरके अन्दर ही रह गया, इतनेमें चारों तरफसे लोगोंने घरको घेर लिया। अब जल्दी-जल्दीमें उस नये चोरने क्या किया कि एक कोठरीमें जो लकड़ी की कड़ी ऊपर छतमें लगी होती हैं उनमें चढ़कर छिप गया। आखिर लोग घरके अन्दर घुस आये। उस कमरेमें भी घुसे जिसमें ऊपर वह नया चोर छिपा था। अब सभी लोग घरके मालिकसे अनेक बातें पूछ रहे थे—किधरसे आये, क्या-क्या ले गए, कितने थे, कैसे थे किधर से भागे, यों बीसों लोगोंने बीसों तरहकी बात पूछा—तो वह घरका मालिक हैरान होकर बोला—भाई हम कुछ नहीं जानते, ऊपर वाला जाने। यहाँ ऊपर वालेका मतलब भगवानसे था, मगर ऊपर छिपे हुए चोरने स्वयं कल्पनायें बनाकर समझा कि हमें कह रहा, सो वह बोल उठा—अरे ऊपर वाला ही क्यों जाने? वे जो चार चोर और भाग गए वे क्या कुछ न जानें? लो इसकी आवाज सुनकर लोगोंने उसे पकड़ लिया, मारा पीटा गया। तो चोरों की यही हालत होती है। इस चोरीके काममें तो कितने ही लोगोंके प्राण तक हर लिए जाते

हैं। वे चोरीके कार्य लोभवश ही तो किए जाते हैं।

लोभवश कुशील एवं परिग्रह पापका योजन—कुशील सम्बन्धी पाप भी लोभवश ही किए जाते। उनमें और किस्मका लोभ है, विषय भोगका लोभ समझ लो। परिग्रह संचय करना भी लोभकषायके वश ही तो किया जाता। चारुदत्तकी कथामें बताया है कि चारुदत्त पहले बड़ा सदाचारी था। एक बार उसके चाचा रुद्रदत्तने उसे विषयभोग सम्बंधी कथा सुनायी और एक उपायसे उस एक वेश्याके घर पहुंचा दिया। उपाय क्या किया कि एक वेश्याओंकी गलीमें हाथी छुड़वा दिया और उसी गलीसे चारुदत्तको ले गया, हाथीके भयसे चारुदत्त एक वेश्याके घरमें घुस गया। वहाँ रुद्रदत्तने वेश्याकी लड़कीके साथ चारुदत्तको चौपड़ खेलनेमें लगवा दिया। चारुदत्तने उस चौपड़ खेलनेमें अपना बड़ा धन लुटा दिया। देखिये—यह एक बहुत बड़ी कथा है। यहाँ संक्षेपमें सुनो—आखिर चारुदत्त अत्यन्त निर्धन हो गया, फिर उसे धन कमानेके लिए समुद्र पार विदेश जाना पड़ा। वहाँ धनके लोभके कारण न जाने क्या-क्या कष्ट उठाने पड़े। वह विषय एक अलग है। उसे यहाँ नहीं सुनाना है, यहाँ मूल बात यह लेना है कि एक इस धनके लोभमें आकर इस जीवको बड़े-बड़े कष्ट उठाना पड़ता है। और फिर न जाने क्या-क्या पापकार्य इस धनके लोभमें आकर कर डालता है। वहाँ न्याय अन्यायका कुछ विवेक नहीं रहता। विवेक सब खत्म हो जाता है।

उद्यन्महानिलवशोत्थविचित्रवीचिविक्षिप्तनक्रमकरादिनितांतभीतिं ।
अंभोधिमध्यमुपयाति विवृद्धवेलं लोभाकुलो मरणदोषमन्यमानः ॥७६॥

लोभाकुल पुरुषोंका समुद्रमें अवगाहन—लोभसे आकुल प्राणी अपने मरणके दोषको भी न मानता हुआ विकट भयानक समुद्रमें प्रवेश करता है। समुद्रको रत्नाकर कहा गया है। उसमें बहुत रत्न पाये जाते हैं। तो रत्न पानेके लिए उसमें डुबकी लगाते है। वह है एक मरण जैसी स्थिति। न जाने कब कैसी भंवर आ जाय, लहर आ जाय कि कहीं ऊपर ही न उठ सके। अभी समुद्रमें उठे तूफानमें देख लो कितना क्षेत्र ध्वस्त हो गया। शायद आधा प्रान्त ही ध्वस्त हो गया। तो ऐसे विकट भयानक समुद्रमें यह प्राणी लोभवश प्रवेश करता है। कैसा है वह समुद्र कि प्रचण्ड पवनके आघातसे जिसमें बड़ी तरंगें उठ रही हैं। तरंगें २५-३० फिट तककी ऊँची या इससे भी अधिक ऊँची समुद्रमें उठती हैं, अब इतनी ऊंची लहरोंके चपेटमें अगर कोई आ जाय बस वह तो उस लहरके साथ ही बह जायगा। बच नहीं सकता। तो ऐसी भयानक तरंगोंसे व्याप्त है वह समुद्र, जिसमें बड़े-बड़े मगरमच्छ आदिक जंतु भरे पड़े हैं। जो मनुष्योंको यों ही खड़ा लील जाते हैं। मगरका मुख, कंठ व सारा शरीर कुछ ऐसे ही ढंगका बना होता है कि वह यों ही सीधा मनुष्योंको निगल जाता

है। तो ऐसे बड़े मगरमच्छ विकराल जंतुवोंसे भरा हुआ है यह समुद्र फिर भी लोभसे आकुल होकर ये मनुष्य उसमें प्रवेश करते हैं। ऐसे समुद्रोंमें प्रवेश करते समय वे अपने प्रिय प्राणों तकके भी नष्ट हो जानेका भय नहीं मानते।

असार भिन्न पृथ्वी समुद्रोंमें लोभीका साकुल भ्रमण—आजकल लोग इस पृथ्वीको नारंगीकी तरह गोल बताते हैं। जब उनके सामने यह प्रश्न आता है कि जब गोल है तो पानीका क्षेत्र अधिक है, तो जो नीचे पानी है वह थमेगा कैसे ? वह तो गिर जायगा। तो एक अक्ल लड़ाकर उनका उत्तर होता है कि इस पृथ्वीमें आकर्षण शक्ति है जिससे गोल पृथ्वीके नीचे भी बस्ती है और आकर्षण शक्तिके कारण वे सब चिपके रहते हैं। अब देखिये—वह आकर्षणशक्ति है या पतनशक्ति है, याने जो वजनदार चीज है उसका नीचे जाने का स्वभाव है। पृथ्वी यद्यपि इस आर्यखण्डमें मलमा उठ जानेके कारण वह गोल जैसे शक्ल की बन गई जरासे हिस्सेमें मगर पूरा गोल नहीं है और बड़े विस्तारकी जमीन है। तो छोटे गोलमें और बड़े विस्तार वाले गोलमें बहुत अन्तर होता है। तो जो अत्यन्त नीचेका हिस्सा है वह तो शून्य है, बाकी अगल-बगल ये सब हिस्से समतल जैसे लगते हैं। यहाँ भी जलका हिस्सा अधिक मालूम देता है वह आजके भूगोलमें मानी हुई पृथ्वीमें और वैसे भी देखो तो जितना बड़ा आखिरी समुद्र है स्वयंभूरमण समुद्र उतनी जगहमें असंख्याते द्वीप समुद्र उसके बराबर भी नहीं है, कुछ कम ही हैं। तो जलका समूह तो अधिक है ही, पर वह सब समान भूमिपर है और उसको बोलते हैं रत्नाकर, रत्नोंका आकर। समुद्रमें रत्न पाये जाते। उसमें ऐसी सीपें होती हैं कि किसी एक खास स्वाति नक्षत्रके समयमें बूंदें गिर जायें मेघकी तो वह बूंद मोतीका रूप धारण कर लेती हैं। तो ऐसे उसमें बहुतसे रत्न पाये जाते। उनके लोभसे यह जीव ऐसे भयंकर समुद्रमें प्रवेश करता और अपने प्राणों तकके भी खो जानेका भय नहीं करता, और लोभकषायसे मिलता क्या है ? अन्तमें सब छूटेगा, और जो सारे जीवन लीलायें की हैं उसका संस्कार बँधा, पाप बँधा, उसका फल आगे आयगा, इसलिए सब पुण्योदय पर छोड़े, जो आना है सो आयगा। कर्तव्य है थोड़ा पुरुषार्थका, मगर तृष्णावश न करना। जो हो उसीमें ही उसका गुजारा सम्भव है, ऐसी अपनी दृष्टि रखनी चाहिये।

निःशेषलोकवनदाहविधौ समर्थं लोभानलं निखिलतापकरं ज्वलंतं।
ज्ञानांबुवाहजनितेन विवेकिजीवाः संतोषदिव्यसलिलेन शमं नयंति ।।७७।।

लोभदावानलकी ज्ञानमेघसे निःसृत शान्ति सन्तोष सलिलसे ही शमनकी शक्यता—यह लोभरूपी अग्नि समस्त संसाररूपी वनको जला देनेमें समर्थ है। बाह्यपदार्थोंमें दृष्टि गई उसमें अपनेपनका अनुभव किया तो यह आत्मा जला ही हुआ है, क्योंकि शान्ति संतोष वहाँ

है ही नहीं। तो यह लोभरूपी अग्नि समस्त संसाररूपी वनको जला देनेमें समर्थ है और विकट संतापको देने वाला है। लोभ केवल धनका ही नहीं होता। इज्जतका लोभ, भोगोपभोगके सुखोंका लोभ, नामवरीका लोभ, दुनियामें मेरी महिमा बढ़े आदिक सारे लोभ हैं, जिसके कारण यह जीव संतप्त रहता है, तो जीवके संतापके कारणोंके मुख्य कारण है लोभाग्नि। बस जाज्वल्यमान लोभाग्निको कैसे बुझाया जा सकता है उसका कोई उपाय है क्या? ऐसी जिज्ञासा विवेकी पुरुषके हृदयमें होती है। अनादिकालसे इस ही परदृष्टिमें उलझे, इस ही परपदार्थके उपयोगमें यह सना रहा और दुःख पाता रहा। बात दो टूक है, सर्व पदार्थ स्वतंत्र सत् हैं, अपनेमें अपना ही परिणमन कर रहे हैं। दूसरेका हममें कोई स्वामित्व नहीं, पर इस बातको जब भूल गए तब इस निमित्तनैमित्तिककी चक्कीमें कसे जा रहे हैं और यही अनादिसे होता चला आया है। तो जिसको विवेक जगा, उसकी अब यह चाह है कि मैं इस लोभरूपी अग्निको शान्त करूँ। उसका उपयोग क्या है? ज्ञानरूपी मेघसे शान्ति और संतोषका जल बरसा दे तो लोभरूपी अग्नि शान्त हो जायगी। जैसे बड़े भारी वनमें तीव्र अग्नि लगी है तो उसको बुझानेमें समर्थ न तो नगर फायर गाड़ियाँ (दमकले) हैं, न चारों तरफके देहाती जन पानी ला-लाकर उसको बुझानेमें समर्थ हैं। उसका उपाय है कि खूब तेज मेघ बरस जायें तो वह वनकी अग्नि शान्त हो सकती है। तो लोभाग्नि जो इतना संताप कर रही है, गुणोंको भस्म कर रही है उसको बुझानेमें समर्थ तत्त्वज्ञान रूपी मेघसे शान्ति और संतोषका जल बरस जाय।

द्रव्याणि पुण्यरहितस्य न संति लोभात्संत्यस्य चेन्न तु भवंत्यचलानि तानि।
संति स्थिराणि यदि तस्य न सौख्यदानि स्यात्वेति शुद्धधिषणो न तनोति लोभं ।७८।

पुण्यहीनको लोभसे भी द्रव्यप्राप्तिका अभाव—कितना ही लोभ किया जाय तो भी पुण्यरहित है तो उसके द्रव्य थोड़े ही आ जायगा। और यदि किसी छल-कपट आदिकसे आ भी जाय तो वह स्थिर नहीं रहता। प्रायः करके यह देखा गया कि कोई लड़के वाला दहेजमें अधिक धन ठहराकर ले ले तो उसके पास वह धन अधिक दिन ठहर नहीं पाता। इस बातका अनुभव तो आप सब भी खूब कर रहे होंगे। वह क्यों नहीं रहता कि बिना कमाये, बिना श्रम किए, बिना न्याय नीतिके लूटमार जैसा करके मिल गया है सो वह ठहर नहीं पाता। तो इसी तरह आजीविका आदिकमें या किसी ढंगमें इस तरहका धन आ भी जाय तो वह स्थिर नहीं रह पाता। कुछ दिन स्थिर रह जाय तो भी सुखदायी नहीं होता, ऐसा विवेकी जन समझते हैं, इस कारण वे लोभ नहीं करते।

लोभकी विडम्बना—एक पुरुषको नारियलकी जरूरत थी सो वह पासके बाजारमें

गया, पूछा—नारियल कितनेमें दोगे ?…८ आनेमें ।…४ आनेका नहीं दोगे ?…नहीं । यदि चार आनेका लेना हो मद्रास चले जावो । वहाँ जाकर पूछा—नारियल कितनेमें दोगे ? …४ आनेका ।…दो आनेका नहीं दोगे ।… नहीं ।…दो आनेका लेना हो तो बम्बई चले जावो । बम्बई जाकर पूछा—नारियल कितनेमें दोगे ?…दो आनेका ।…एक आनेका नहीं दोगे ?…अरे एक आना भी क्यों खर्च करते ? वे देखो पासके जंगलमें नारियलके पेड़ खड़े हैं जितने चाहे तोड़ लावो । अब वह जंगल जाकर एक नारियलके पेड़पर चढ़ गया । चढ़ने को तो चढ़ गया, पर ज्यों ही डाल पकड़कर नारियल तोड़ना चाहा त्यों ही उसके पैर फिसल गए और वह उसी पेड़पर लटक गया । बहुत घबड़ाया कि अब न जाने कैसे प्राण बचेंगे ? इतनेमें वहाँसे निकला एक हाथी वाला । उससे कहा—भाई हमें उतार लो, हम तुम्हें ५००) देंगे । सो उसने जब हाथीपर खड़ा होकर उसे पकड़ना चाहा उतारनेके लिए तो वह था उससे एक हाथ दूर, सो उचककर उसे पकड़ लिया, इतनेमें हाथी वहाँसे खिसक गया । अब दोनों लटक गए । नीचे वाला ऊपर वालेसे कहे—भैया, डालो छोड़ नहीं देना, हम तुम्हें ५००) देंगे । इतनेमें वहाँसे निकला एक ऊँट वाला, उससे वे दोनों बोले—भैया, हम दोनोंको उतार लो, दोनों ही तुम्हें ५००-५०० रु० देंगे । सो ऊंट वाला जब ऊँट पर खड़ा होकर उसे पकड़ना चाहा तो वह भी कोई एक हाथ अधिक ऊँचा था सो उचककर पकड़ लिया, इतनेमें ऊँट भी खिसक गया । अब तीन व्यक्ति लटक गए, वे तीनों बहुत घबड़ा रहे थे । इतनेमें निकला एक घोड़े वाला, उससे वे तीनों बोले—भाई हम तीनोंको उतार लो, हम लोग तुम्हें ५००-५०० रु० देंगे । सो वह जब उतारनेके लिए खड़ा हुआ और उचका तो वह भी लटक गया । अब चारों ही एक दूसरेसे कह रहे थे—भैया ऊपरसे छाड़ नहीं देना, नहीं तो हम गिरकर मर जायेंगे, हम तुम्हें ५००) देंगे । अब क्या हुआ सो नहीं कह रहे, उतर ही आये होंगे, कुछ चोट भी लगी होगी । यहाँ बात यह समझना कि लोभ करनेका यही परिणाम होता है । थोड़ेका लोभ करके बड़ा नुक्सान तक सहना पड़ जाता है । तो ऐसा लोभ कहीं धन कमानेका उपाय नहीं है । जो न्यायसे प्राप्त धन है उसीमें संतोष मानें, आनन्दसे रहें और आत्माके धर्मका पालन करें, यही एक गृहस्थोंमें कल्याण पद्धति है ।

विपुल स्पष्ट तत्त्वज्ञानके बलसे ही संसारविपत्तिसे हटनेकी संभवता—यह संसार एक बहुत बड़े जुवेके फड़के समान है । कहाँ तक कौन अपनेको सम्हाले ? दूसरोंको जब लौकिक बातोंमें बढ़ता हुआ देखता है धनमें, इज्जतमें, तो यह भी आखिर लौकिक बातोंको चाहने लगता है । सो जैसे जुवेका फड़ हो और वहाँ जितने आदमी उस फड़पर खेलमें शामिल हों तो उनको वहाँसे हटना बड़ा कठिन पड़ता है । हार गए तो भी नहीं हट पाते, जीत

गए तो भी नहीं हट पाते। जीत जाने पर यदि कोई उठना चाहे तो बाकी लोग यही कह बैठते कि देखो कितना मतलबी निकला, जीत गया तो चल दिया, यों उसका उठना मुश्किल हो जाता और यदि हार गया, कुछ पैसे बाकी बच गए, सोचा कि चलो जो बचे सो ही ठीक है अब चलना चाहिए, तो वहाँ बैठे हुए लोग यही कह बैठते बस हो गए, इतनी ही दम थी ....सो उसको वहाँसे उठना नहीं हो पाता। तो जैसे जुवाके फड़में बैठकर उठना कठिन हो जाता ऐसे ही इस समाजके बीच, घर गृहस्थीके बीच फंसकर इससे निकलना कठिन हो जाता। इससे निकलनेके लिए बहुत बड़े ज्ञानबलकी जरूरत है। जिसको भीतरमें ज्ञानप्रकाश एकदम स्पष्ट है कि प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न अपने अपने स्वरूपमें स्थित हैं, उनसे मेरेमें कुछ नहीं आता। इस प्रकारका ज्ञानप्रकाश हो तब गृहस्थीसे निकलना हो सकता। मान लो न भी निकलना हो पाये तो भी निर्मोह होकर तो रह सकता। तो बुद्धिमान पुरुष न्याय प्राप्त धनमें ही संतुष्ट रहा करता है।

अलौकिक आत्मीय आनन्दसे ही सम्यक्त्वपरिचय कर्मनिर्जरण व सांसारिक सुख-विरक्ति—ज्ञानी पुरुषने यह जाना ना कि आत्मस्वभावमें दृष्टि करूँ, साधना करूँ तो यह सबसे बड़ा काम है, यही सच्ची कमाई है, अन्य कुछ नहीं है यह उसके चित्तमें आया है जिसके बलसे संसारसे उपेक्षा करता है। जो सुख मिल रहा है उससे उत्तम आनन्द अगर मिले तब तो इस सुखको छोड़ा जा सकता। वैसे कहनेसे नहीं छूटता, पर इससे अधिक आनंद का अनुभव मिले किसी बातमें तो फिर उसके छोड़नेमें देर नहीं लगती। यदि खानेको कोई बढ़िया चीज मिल जाय इच्छुकको तो घटिया चीजको छोड़नेमें उसे इन्कार नहीं रहता। तो संसारके जो ये पंचेन्द्रियके विषयोंके सुख हैं इनसे विलक्षण, इनसे उत्तम आनन्द मिलता है आत्मस्वभावको अपनानेसे, उसीमें ही अभेदबुद्धि रखनेसे। इस आत्मस्वभावको अपनानेसे जो अलौकिक आनन्द जगता है वह संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्ति लाता है। कर्म भी आनन्दसे कटते हैं, कष्टसे नहीं कटते। वह कौनसा आनन्द है? वह आत्मीय अनुभवका आनन्द है। और जो तपश्चरण वगैरा किए जाते हैं वे सब साधन हैं। उन कठिन तपश्चरणोंमें भी मुनि आनन्द पा रहा है भीतरमें तो उसके कर्म कट रहे हैं, और यदि वह भीतरमें आनन्द नहीं पा रहा है तो कितना ही कठिन तपश्चरण कर ले तो भी उससे कर्म नहीं कटते। तो विवेकी पुरुष जब तक गृहस्थीमें रह रहा तब तक न्यायप्राप्त धनमें संतोष मानकर आनन्दमें रहता है और धर्मपालनमें जागरूक रहता है।

चक्रेशकेशवहलायुधभूतितोऽपि संतोषमुक्तमनुजस्य न तृप्तिरस्ति।
तृप्तिं बिना न सुखमित्यवगम्य सम्यग्लोभग्रहस्य वशिनो न भवंति धीराः ॥७६॥

असंतोषमें बड़ी विभूतिसे भी तृप्तिकी असंभवता—जिन पुरुषोंको संतोष नहीं है उन पुरुषोंके चक्रवर्ती, नारायण, बलदेव जैसी बड़ी विभूतियोंसे भी तृप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि किसी असंतोषीसे पूछा जाय कि तुमको कितना वैभव मिल जाय तो तुम शान्त हो जावोगे, खूब सोच लो और सोचकर बताओ, जो चाहोगे सो तुम्हें मिल जायगा। तब तो वह बता ही न पायगा, जितना सोचेगा उससे आगेकी फिर चाह करेगा। कोई हद नहीं होती। अच्छा तो उसे तीन लोकका वैभव मिल जाय तो भी वह संतुष्ट हो जायगा क्या ? अरे वहाँ भी यह सोचेगा कि तीन लोकसे भी अधिक वैभव हो तो वह भी हमें चाहिए। असंतोषीके कोई सीमा नहीं होती। एक बार एक गरीब विप्र (ब्राह्मण) राजाके पास पहुंचा और बोला—राजन्, मेरी कन्या सयानी हो चुकी है, उसका विवाह करने हेतु मुझे कुछ धन चाहिए, मैं निर्धन हूँ। तो राजाने कहा—अच्छा कल सुबह माँगना, जो मांगोगे सो मिल जायगा। अब वह ब्राह्मण खुश होकर घर आया। जब घरमें वह रातके समय खाटपर लेटा तो उसके विकल्पोंका ताँता बनना शुरू हो गया—मैं क्या माँगू राजासे, कितना माँगूं, कितनेसे मेरा काम चल जायगा। अच्छा १००) मांग लूंगा, १००) में लड़कीका विवाह हो जायगा, (उन दिनों १०० रु० में विवाह हो जाया करते थे)। मगर १००) ही क्यों माँगूं, जब राजाने देना ही स्वीकार कर लिया है तो हजार रुपये मांग लूंगा, जिससे फिर हमें कोई कष्ट न रहे। पर हजार रुपये तो हमारे पड़ोसी सेठके पास हैं उसको भी तो कोई खास सुख नहीं है, मैं तो लाख रुपये मांगूंगा, पर लाख रुपयेसे भी क्या होगा, मैं तो आधा राज्य ही मांग लूंगा ताकि जिन्दगीमें फिर कभी कोई कष्ट न रहे। तो इसी विकल्पजालमें पड़कर वह विप्र सारी रात सोया नहीं, उसे नींद ही नहीं आयी विकल्पजालके आगे, आखिर वह यही निर्णय न कर पाया कि मैं क्या मांगू राजासे ? जब सवेरा हुआ और राजाने पूछा—बोलो विप्र तुम्हें क्या चाहिए और कितना चाहिए ? तो वह विप्र बोला—महाराज जब मैंने आपसे कुछ लिया नहीं, सिर्फ लेना चाहा तब तो सारी रात नींद नहीं आयी और यदि आपसे कुछ ले लिया तो न जाने क्या होगा, इसलिए मुझे कुछ न चाहिए। तो असंतोषीकी कोई सीमा नहीं होती कि कितना क्या चाहिए ?

तृष्णामें दुर्दशा—एक कथानक है कि किसी सेठका पड़ोसी एक बढ़ई था। सो बढ़ई तो था बिल्कुल गरीब, कोई दो-चार रुपये रोज कमा पाता था और उसीको खर्च कर लिया करता था, पर रोज-रोज खाता था अच्छा-अच्छा ही खाना, क्योंकि जोड़नेकी कुछ फिक्र न थी। और उधर सेठ था बड़ा धनिक, पर जोड़नेकी फिक्र होनेसे रोज-रोज सीधा सादा भोजन करता था। एक दिन सेठानीने सेठसे कहा—सेठ जी देखो अपन लोगोंसे अच्छा तो बढ़ई है,

क्योंकि अपन लोगोंकी अपेक्षा उसके घर रोज-रोज खूब अच्छा-अच्छा खाना-पीना चलता है। तो सेठ बोला——अरे तुम नहीं जानती, वह बढ़ई अभी ९९ के चक्करमें पड़ा नहीं, इसलिए गुलछर्रे मार रहा है। अब सेठानी रोज-रोज यही बात कहे तो एक दिन सेठके मनमें आया कि चलो ९९ रु० न सही, एक बार ९९ रु० फेंक देनेसे जिन्दगीभरकी सेठानीके साथकी लड़ाई तो मिटेगी, यह सोचकर एक रात सेठने उस बढ़ईके घरके आँगनमें ९९ रु० की थैली फेंक दी। जब सवेरा हुआ और बढ़ईने वह थैली पायी तो बड़ा खुश हुआ, सोचा कि भगवान ने खुश होकर हमारे घर धन भेजा, पर जब गिनने बैठा तो जहाँ १०-२०-५० गिनता हुआ ९९ तक पहुंचा तो उसकी जीभ रुक गई और सोचने लगा——अरे भगवानने हमारे ऊपर कृपा तो बहुत की, पर एक रुपया काट दिया। यदि एक रुपया और होता तो मैं पूरा पूरा शतपति (१०० रु० वाला) कहलाता। (कुछ सोचकर) खैर कुछ बात नहीं, आजके दिन कमाईमें से सब न खर्च करके एक रुपया बचा लूँगा तब १००) पूरे हो जायेंगे। (देखिये उसी समयसे लग गया ९९ का चक्कर) पहले ही दिन प्रति दिनकी अपेक्षा १) कमकी भोजन-सामग्री बनी। दूसरी रात उस बढ़ईके विकल्प बढ़ गए, वह खाटपर पड़ा हुआ विचार रहा था कि अरे इन १००) से क्या होगा, इतनेमें क्या सुख है? हजार रुपये होने चाहियें तब सुख मिलेगा, पर हजार तो हमारे पड़ोसी सेठके पास भी हैं वह भी तो सुखी नहीं दिखता, लाख होने चाहिएँ। खैर, वह तो अब पड़ गया पूरा पूरा ९९के चक्करमें प्रतिदिन रूखा सूखा खाये, खाली रोटियाँ बन जातीं और पड़ोसियोंके यहाँसे मट्ठा माँग लाता और मट्ठा रोटी खाकर काम चलाता और धन जोड़नेका काम प्रतिदिन चलता रहता था। कुछ दिन बाद सेठने सेठानीसे कहा——अब देख लो बढ़ईकी हालत। सो जब सेठानीने बढ़ईके घर जाकर देखा तो वह हालत देखकर बड़े आश्चर्यमें पड़ गई और सेठसे पूछा——तुमने कौनसा जादू कर दिया जिससे बढ़ईकी यह हालत हो गई? तो सेठ बोला——इसको मैंने ९९ के चक्करमें डाल दिया है। तो बात यहाँ यह कह रहे कि जब तक संतोष नहीं होता तब तक कितना ही कुछ मिल जाय, पर शान्ति नहीं मिलती। इससे इस लोभ कषायको छोड़कर संतोष वृत्तिसे रहें। विवेकी पुरुष कभी भी लोभके फंदेमें नहीं आते।

दुःखानि यानि नरकेष्वतिदुःसहानि तिर्यक्षु यानि मनुजेष्वमरेषु यानि।
सर्वाणि तानि मनुजस्य भवंति लोभादित्याकलय्य विनिहंति तमत्र धन्यः ॥८०॥

लोभवश नरकादि गतियोंमें दुर्दशा——नरकोंमें जितने भी अति दुःसह दुःख होते हैं वे सब लोभके कारण होते हैं। लोभवश अनेक अनर्थ पहले कुटुम्बी जनोंके पीछे किये, पर वे ही कुटुम्बी जन नरकोंमें पहुंचनेपर उसका साथ नहीं देते। (देखिये पार्श्वपुराणमें इसका बहुत

चित्रण किया है। जब वह नारकी नरकमें पहुंचता तो क्या सोचता है—हाय मेरा अब कोई सहाय नहीं हो रहा है। योगवश यदि वे ही कुटुम्बी जन नरकमें एक दूसरेके आमने-सामने पड़ जाये तो भी सहायता करना तो दूर रहा, परस्परमें एक दूसरेपर हमला करके उसके तिल-तिल बराबर खण्ड कर डालते हैं हैं। हाँ तो बात यह चल रही कि जितने भी नरकोंके असह्य दुःख यह जीव भोगता है वह एक लोभके ही कारण तो भोगता है। तिर्यंचोंमें, मनुष्यों में, देवोंमें जितने भो कष्ट हैं वे सब लोभसे ही तो होते हैं। ऐसा विचार करके भव्य पुरुष लोभको नष्ट करते हैं। और जो लोभको नष्ट कर सके वे ही पुरुष धन्य हैं। बड़ी मुसीबत है मोही जीवोंकी। छोड़ते बनता नहीं, भोगते बनता नहीं। बहुत-बहुत कमाकर रख लिया, अब मरण कालमें जायगा साथ धेला नहीं। वह जान रहा कि सबका सब यहीं पड़ा रह जायगा, पर मोहवश उसको दिलसे छोड़ नहीं पाता। तो जिसको मोह है, अज्ञान है, जिसने बाह्यसम्पत्तिको ही अपना सब कुछ समझा है उसको मरण कालमें बड़ा संक्लेश होता है जिसके फलमें वह आगे भी बड़ी दुर्दशा प्राप्त करता है।

लोभी जगत द्वारा सर्व स्थितियोंमें विडम्बना जानकर लोभपरिहार करनेका कर्तव्य—एक सेठजी थे, कोई ५ लाखके धनिक थे। चार उनके लड़के थे, उन चारोंको एक-लाखका धन बांट दिया और एक लाखका धन अपने लिए रख लिया था। सो उसने क्या किया था कि जिस कमरेमें वह रहता था उसी कमरेकी आलमारियोंमें, आलोंमें उस एक लाख रुपयेके धनको रखकर बंद करके उसको सुरक्षित कर दिया था इस बातको उसके लड़के लोग भी जानते थे। अचानक ही वह सेठ बीमार हो गया और ऐसा बीमार हुआ कि उसका प्राणान्तसा होने लगा, बोल भी बंद हो गया, ऐसी स्थिति देखकर पंच लोग उस सेठके पास पहुंचे और बोले—सेठ जी अब आप अन्तिम समयमें धर्मार्थ जो करना चाहो सो कर लो मायने जो कुछ दान पुण्य करना हो सो कर जावो, तो उस समय सेठके यही भाव हुए कि मैंने जो इस भींतमें लाख रुपयेका धन गाड़ रखा है वह धर्मार्थ दान कर दूं, सो बोल तो सकता नहीं था, क्योंकि बोल बंद हो चुका था, पर उस भींतकी ओर बार-बार इशारा कर रहा था। उसका अभिप्राय तो यह था कि इस भींतमें जो धन गड़ा है वह सब धर्मार्थ दान है, पर पंच लोग उसका कुछ अर्थ नहीं समझ पा रहे थे और उसके लड़के लोग सब बात समझ रहे थे कि पिताजी क्या कह रहे हैं। आखिर पंच लोग सेठके लड़कोंसे पूछ बैठे कि सेठजी इशारेसे क्या कह रहे? तो लड़के लोग बोले—पिताजी यह कह रहे हैं कि मेरे पास जितना जो कुछ धन था वह इन भींतोंकी चिनाईमें खर्च कर दिया, अब मेरे पास दान-पुण्य करनेको कुछ धन रहा नहीं। अब देखिये—लड़कोंकी ऐसो बात सुनकर सेठके दिलमें कितनी

बड़ी चोट पहुंच रही होगी, पर क्या करे, बोल सकनेसे लाचार था। सो ऐसी कठिन स्थिति होती है लोभ दशामें। धर्मार्थ धन खर्च करनेके परिणाम कदाचित् हो भी जायें तो भी नहीं लगा पाता। ये सब बातें लोभवश होती हैं ऐसा विवेकी जन समझते हैं, इसलिए वे लोभकषायका परिहार करते हैं। जितने भी पाप होते हैं उन सबका जनक है लोभकषाय। आज छोटेसे लेकर बड़े-बड़े राज्याधिकारियों तक जितने लोग दुःखी नजर आ रहे उन सबका कारण है लोभ कषाय। इस लोभकषायसे निवृत्त होनेमें ही अपनी भलाई है। इस ३४३ घनराजू प्रमाण लोकके न कुछ बराबर जरासे हिस्सेमें कुछ लोगोंके बीच अपनी इज्जतकी चाह करके क्यों व्यर्थमें फिजूलकी बातोंमें लोभ किया जा रहा है और अपने आपको इस संसारमें जन्म मरण करते रहनेका पात्र बनाया जा रहा है। इन बाहरी व्यर्थकी बातोंसे अपने चित्तको हटावें, एक अपनेको अपनेमें देखें और एक इस ही की धुन बन जाय कि मुझे तो अपने आपको विशुद्ध करना है, संसारको क्या निरखना? ऐसा महान् कार्य कर जाने वाला पुरुष धन्य है।

लोभं विधाय विधिना बहुधापि पुंसः संचिन्वतः क्षयमनित्यतया प्रयाति।
द्रव्याण्यवश्यमिति चेतसि संनिरूप्य लोभं त्यजंति सुधियो धुतमोहनीयाः ॥८१॥

लोभवश संचित किये हुए द्रव्यका भी अनित्यपना होनेसे अवश्यंभावी नाश—यह मनुष्य लोभके वश होकर नाना उपायोंसे धनका उपार्जन करता है, फिर भी द्रव्य तो अनित्य है ही, इस कारण अवश्य ही एक न एक दिन नष्ट हो जाता है। इस कारण मोहके फंदेसे बचनेकी इच्छा रखने वाले लोग सदा लोभसे दूर ही रहनेका प्रयत्न करते हैं। अपने जीवनमें देखो क्या-क्या बातें गुजरीं, कैसी-कैसी स्थितियोंके प्रति लोभ किया? बच्चे थे तो इन बच्चोंको ही देख लो किस-किस जगहमें किस-किस बातमें लोभ बना रहता है। यही बात हम आप सबकी थी। बड़े हुए, जवान हुए तो लोभकी, तृष्णाकी, मोहकी पद्धति दूसरी बन गई। बड़े हुए, धन कमाया, पद्धतियाँ बदल गईं। लोभके विषय बदलते जाते हैं, बूढ़े हो जाते तब और कुछ दिखने लगता। तो सारा जीवन विकारके आश्रयमें हो गया, स्वभावका आश्रय इस जीवने कब किया, कितना किया, यह परीक्षा करनी चाहिये। यह सारा जगत् मायास्वरूप है। इस मायामय जगत्को ग्रहण करनेका, पकड़नेका कोई भला फल नहीं प्राप्त होता, उल्टा पाप बंध है। संसारमें भ्रमण है, अपने आपके स्वरूपको देखिये तो केवल एक चैतन्यमात्र अमूर्त सबसे निराला, इसका क्या मतलब है अन्य पदार्थोंसे? वस्तुस्वरूप ही ऐसा है कि किसीको किसीसे कुछ मिलता नहीं है, सब अपने स्वरूपमें परिणमते हैं, तो एकका दूसरा कुछ लगा क्या? अपने आपके बारेमें विचारें, जिस भवमें उस भवके पड़ोसी, कुटुम्बी जन,

मित्र जन उनमें प्रीति की, पर आज उससे कुछ फायदा मालूम पड़ रहा है क्या ? तो इस भवमें भी कुछ वर्षोंकी बात है, अनुराग चल रहा है, मगर मरण करनेपर इसकी भी कोई प्रीति अगले भवमें पहुंचेगी क्या ? कुछ नहीं।

अति निकट देहका भी विनाश देखकर सर्व नश्वर भिन्न पदार्थोंसे ममता हटाकर सहज पवित्र ध्रुव चैतन्य महाप्रभुका शरण लेनेका अनुरोध—देह भी इसका कुछ नहीं है, देह जड़ पौद्गलिक और कहाँ अमूर्त आत्मतत्त्व। इसका कुछ भी बाहर नहीं, लेकिन अज्ञान ऐसा छाया है कि इन मायामय मनुष्योंको निरखकर ऐसी बात बन गई कि इसको उस माया की प्रीति नहीं छूटती। भीतर प्रकाश तो हो सही कि मैं सबसे निराला अत्यन्त भिन्न सत् हूं। इस दृष्टिका अभ्यास हो तो यह फर्क सामने आयगा कि कोई कुछ कहे, उसका अपनेपर बुरा प्रभाव न होगा। इस मायामय बढ़े हुए भौतिक जनोंको, प्रतिष्ठित जनोंको देखकर धन की या प्रतिष्ठाकी इनकी आकांक्षा न बनेगी। केवल एक ही धुन रहेगी कि मैं अपने स्वरूप को जानूं और स्वरूपमें मग्न रहकर अपने क्षण सफल करूं। जिसको लोभरहित चैतन्यमात्र आत्मस्वरूपका परिचय नहीं है वह अपनी ओरसे अंधा रहता है और बाहर ही बाहर उसका सब कुछ निर्णय बना रहता है इससे मेरा महत्त्व है, इससे मेरी प्रतिष्ठा है। तो लोभवश यह जीव भव-भवमें दुःख प्राप्त करता है। समस्त दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये सहज पवित्र ध्रुव चैतन्यमहाप्रभुकी उपासना रूप शरण ग्रहण करें।

पिबंतु बाह्यधनधान्यपुरःसरार्थाः संवर्धिताः प्रचुरलोभवशेन पुंसा।
कायोऽपि नश्यति निजोयमिति प्रचिंत्य लोभारिमुग्रमुपहंति विरुद्धतत्त्वं ॥८२॥

कायकी नश्वरता भिन्नता जानकर धन धान्यादि बाह्य पदार्थोंकी विनश्वरताका स्पष्ट निश्चय कर लोभपरिहार करनेका कर्तव्य—बाह्य धन-धान्यादिक जितने पदार्थ हैं ये कितना ही लोभसे बढ़ाये गए हों, लेकिन हैं तो पृथक् ही और नष्ट हो जाने वाले। इनके नष्ट हो जानेका आश्चर्य क्या ? जब एकमेकसा लगने वाला यह शरीर भी नष्ट हो जाता है तब अन्य बातोंके नष्ट होनेमें क्या आश्चर्य करना ? देह क्या है ? आहारवर्गणा जातिके पुद्गल पिण्डोंका समूह है, पर यह समूह इस तरह नहीं बन गया। जीवका सम्पर्क है, उस निमित्त योगमें इस प्रकार शरीरकी रचना हुई। कभी यह काय था, कभी देह बना, अब यह शरीर कहलाता। वृद्ध लोगोंके देहका नाम है शरीर, जवान लोगोंके देहका नाम है देह और बच्चों के देहका नाम है काय। यद्यपि ये सभी शरीरके नाम हैं, लेकिन काय उसे कहते हैं जहाँ परमाणुवोंका संचय हो, देह उसे कहते जहाँ संचित परमाणु बहुलतया एकत्रित ठहरे रहें और शरीर उसे कहते हैं जो जीर्ण-शीर्ण हो जाय। तो शरीर क्या है ? परमाणुओंका आना

ग्रौर जाना। यह जहाँ हो रहा है वहीं तो यह शरीर है, ग्रौर स्पष्ट विचार कर लें। जैसे दूसरा जीव जब शरीर छोड़कर चला गया तो उस शरीरसे ममतारहित होकर उसे मरघटमें ले जाकर जला देते हैं। तो शरीर ग्रौर चेतन जब भिन्न हैं तब ही तो यह बात बनी। जिस शरीरसे प्रीति कर रहे उस शरीरका कुछ नक्शा ग्रागे तो खींच लें कि यह शरीर ऐसा पड़ा रहेगा। सभी लोग ग्रपने-ग्रपने शरीरका नक्शा खींच लीजिए। जब मैं इस शरीरसे विदा होऊँगा तो पड़ोसके लोग मिल-जुलकर इस शरीरको उठाकर मरघटमें ले जाकर ग्राग लगा-कर भस्म कर देंगे। तो इस भस्म किए जाने वाले शरीरसे ममता क्या करना ? हां गुजारा कर रहे हैं जीवनका, पर यह शरीर ग्रपना तो नहीं है। तो जहाँ शरीर भी ग्रपना नहीं यह भी स्थिर नहीं रहता। तो बाहरी धन धान्यादिक पदार्थोंकी तो बात ही क्या कहना ? नष्ट होते हैं, भिन्न हैं, कभी स्थिर रह नहीं सकते। तो इन समागमोंकी विनश्वरता जानकर भीतर में लोभका परित्याग करना चाहिए।

अविनश्वर ग्रभिन्न अन्तस्तत्त्वसे विनश्वर भिन्न पदार्थोंके सही निर्णयमें ही लाभ— लोभीको लोग कब समझ पाते कि इसके पास भी धन है। जब कि उसका धन लुट जाय या फिर उसके मरनेके बाद लोग समझ पाते कि देखो इसके पास इतना धन था, पर यह उसका कुछ सदुपयोग न कर सका। न खुदके काम वह धन ग्राया न दूसरोंके उपकारमें लग सका। लोभी पुरुषके बारेमें एक कविने ग्रलंकार रूपमें कहा है कि 'कृपरोन समो दाता न भूतो न भविष्यति' कंजूसके बराबर न कोई दानी हुग्रा, न है ग्रौर न होगा। कैसे ? सो सुनो—न तो वह उस धनका कुछ भी हिस्सा ग्रपने लिए खर्च करता, बड़ी कंजूसी करके खूब धन जोड़ता रहता, उसमें से कुछ भी हिस्सा दूसरोंके लिए भी नहीं खर्च करता, ग्रन्तमें सब कुछ इकट्ठा दूसरोंके लिए छोड़कर मरण करके चला जाता। (देखिये इसमें कृपण व्यक्तिका उप-हास है न कि प्रशंसा) तो ग्रपने बारेमें यह विचारें कि चित्तमें यह बात ग्रायी ग्रथवा नहीं कि ये सब पदार्थ मेरे स्वरूपसे ग्रत्यन्त भिन्न हैं। ग्रगर यह बात चित्तमें नहीं ग्रायी तब तो व्यामोह कहलाया। उसे तो कोई मार्ग नहीं मिल सकता। वह तो जीवनभर दुःखी रहता ग्रौर मरणके समय दुःखी रहता। तो द्रव्य, गुण, पर्यायके यथार्थ स्वरूपकी समझ करके यह निर्णय तो करना ही चाहिए कि मैं ग्रमूर्त ग्रात्मा हूं। मेरी शक्तियां सब ग्रमूर्त हैं, उसकी जा परिणतियां हैं वे ज्ञान दर्शन ग्रादिक रूप हैं। इनसे बाहर मेरा कुछ नहीं है। वास्तविक स्वरूप मेरा यह है। भले ही कर्मविपाकवश कल्पनायें जग रही हैं ग्रौर कुछ परिस्थिति खराब चल रही है, फिर भी मेरा वास्तविक स्वरूप तो यह है। मैं ग्रपने वास्तविक स्वरूपको देखूं, बाहरमें जिसका जो होता हो सो हो, ऐसा भीतरमें प्रकाश ग्राये बिना जिंदगी निकल जायगी,

वृद्धावस्था आ जायगी, मरण काल आ जायगा, मगर वह कभी शान्ति और संतोषका अनुभव नहीं कर सकता। तो लोभ कषायका त्याग करके संतोष धारण करना यह मनुष्यका कर्तव्य है। अब इन्द्रिय वशीकरण नामका अधिकार कहते हैं।

स्वेच्छाविहारसुखतो निवसन्नगानां भक्षद्वने किशलयानि मनोहराणि।
आरोहणाकुंशविनोदनबंधनादि दंतीत्वगिंद्रियवशः समुपैति दुःखं ॥८३॥

अज्ञानमें जीवोंका इन्द्रियसुखोंकी ओर आकर्षण—इस संसारी जीवको इस शरीर रूपी हालमें प्रकट ५ खिड़कियाँ मिल गईं, जिनके द्वारसे यह कुछ जान पाता है। जैसे कोई होल हो, उसके बीच पुरुष हो और उसमें ५ खिड़कियाँ हैं तो उन खिड़कियोंसे ही बाहरकी बात वह जान पायगा कि क्या है तो ऐसे ही इस देह गृहमें स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये ५ खिड़कियाँ मिली हैं। इनके द्वारा यह जीव कुछ जान पाता है सो यह कलंक है, यदि यह घर मिट जाय, ये खिड़कियाँ नष्ट हो जायें, केवल आत्माराम रहे तो यह तो सर्व प्रदेशोंसे इस समस्त लोकालोकको तीनों कालकी बातोंको जानेगा। सो लोग इस कलंकपर ही गर्व करते हैं। मेरा शरीर बढ़िया है, मेरी इन्द्रियाँ ठीक हैं, मैं इतना जानता हूं। यों अपनी चतुराई पर गर्व करते हैं। और है यह सब कलंक। आत्मा तो सिद्ध भगवानके समान अमूर्त चैतन्यस्वरूप है। और स्वभाव देखिये—स्वभावमें ही समानता है सिद्धकी। पर्यायमें समानता नहीं है सिद्धकी। स्वभाव जैसा सिद्धप्रभुका है वैसा ही मेरा है। कोई अन्तर नहीं। जिस उपायसे प्रभुने आत्मदृष्टि करके कर्मबंधनोंसे अतीत दशा पायी है उसी उपायसे हम आप भी कर्मबंधनसे छुटकारा पाकर परमात्म अवस्था प्राप्त कर सकते हैं। इस जगत्का कोई अणु भी रमणीक नहीं है कि जिसमें मन बहलाया जाय, जिसमें रमण किया जाय ऐसा जगतमें कुछ भी नहीं है। लोग कर्मबन्धनबद्ध हैं। आत्मस्वरूपका बोध है नहीं तो ये स्पर्शन आदिक इन्द्रियोंका सुख चाहते हैं। कैसी प्रकृति है कि ये इन्द्रिय सुखोंसे विराम नहीं लेना चाहते।

स्पर्शन इन्द्रियके विषयके मोहमें स्वतंत्र विहारी मौजी वनहस्तीकी विडम्बना—इन इन्द्रियोंमें सबसे अधिक कठिन प्रबल स्पर्शन इन्द्रिय है। जो इस जिह्वाकी बड़ी शिकायत चलती कि यह जिह्वा इस जीवको बहुत परेशान करती है, इसको भिन्न-भिन्न प्रकारके व्यञ्जन खिलाये जायें, फिर भी कभी तृप्त नहीं होती, और बहुतसा समय खराब हो जाता उन विभिन्न प्रकारके व्यञ्जनोंके बनानेमें····पर उससे भी अधिक समय बरबाद होता स्पर्शनइन्द्रियसे सम्बंधित गपोड़ोंमें। और यह स्पर्शनइन्द्रिय संसारके सभी प्राणियोंमें पायी जाती है, बाकी अन्य इन्द्रियाँ सभी जीवोंके नहीं पायी जाती। तो स्पर्शन इन्द्रियके विषय हैं—बाहरमें तो है ठंड गर्मी आदिकका सुहाना, पर आन्तरिक विषय है विषयप्रसंग, काम सेवन, मैथुन, इनके

वश होकर एक हाथीका दृष्टान्त है कि वह हाथी जो जंगलमें मनमाना मन बहलाता हुआ घूमता है और कमलके कोमल पत्तोंको तोड़-तोड़कर खाता है, बड़ी मौजसे रहता है, अब उसको पकड़ने वाले शिकारी लोग क्या करते हैं कि कोई १५-२० फिटका लम्बा चौड़ा व ८-१० फुटका गहरा गड्ढा खोदते हैं, उसपर बाँसकी पतली पंचें बिछाकर पृथ्वी जैसे रंग वाले कागज उसपर डालकर पाट देते हैं। और उस बाँसकी पंचोंकी झूठी हथिनी बनाते हैं। उस हथिनीसे करीब ५० हाथ दूरीपर उस हथिनीकी ओर दौड़कर आता हुआ दूसरा हाथी बनाते हैं, बस इतना भर काम शिकारी लोग करते हैं। अब उस जंगलका हाथी उस हथिनी को देखकर उसके प्रति राग करता है, स्पर्शन इन्द्रियके लोभमें आकर उसके प्रति आकर्षित होता है, साथ ही उस दूसरे हाथीको देखकर उसके प्रति द्वेषभाव उत्पन्न हो जाता है, सो मैं पहले उस हथिनीके पास पहुंचूं इस भावनासे वह बड़ी तेजीसे उस हथिनीके पास पहुंचता है, परिणाम क्या होता है कि इस हथिनीके पास पहुंचते ही उस गड्ढेमें गिर जाता है। बादमें कई दिन उसे भूखा-प्यासा रखकर जब कि वह एकदम शिथिल हो जाता है तब एक मार्ग बनाकर, अंकुश लेकर उस हाथीको वे शिकारी लोग अपने वशमें कर लेते हैं। फिर उस हाथीपर सवारी करते हैं, बोझा ढोते हैं, उसपर अंकुशके कितने ही प्रहार करते रहते हैं। तो देखिये वनमें स्वतंत्र विहार करने वाला वह हाथी एक स्पर्शनइन्द्रियके वशीभूत होकर कितने ही दुःख पाता है। ऐसा ही दुःख अन्य पशु पक्षी मनुष्य आदिक सभी पाते हैं। तो अब इस स्पर्शनइन्द्रियजन्य सुखसे विराम लेना चाहिए। इन इन्द्रिय सुखोंकी असारता अपनी दृष्टिमें रखें और वास्तविक बात समझें ताकि उन इन्द्रियसुखोंमें आसक्त न हो और अपने सहज आत्मस्वरूप उस सहज ज्ञानानन्दमय अंतस्तत्त्वका अनुभव बनाये जिसमें अलौकिक आनन्द प्रकट होता है।

तिष्ठञ्जलेऽतिविमले विपुलं यथेच्छं सौख्येन भीतिरहितो रममाणचित्तः।
गृद्धो रसेषु रसनेन्द्रियतोऽतिकष्टं निष्कारणं मरणमेति षडीक्षणोऽत्र ॥८४॥

रसनेन्द्रियविषयके व्यामोहमें मछलीका प्राणघात—रसनाइन्द्रियके वश होकर मछली ढीमरके द्वारा जलमें डाली हुई उस बंशीमें कंठ फंसाकर अपने प्राण गंवा देती है। मछली तालाबके साफ स्वच्छ जलमें मनमाने किलोल किया करती थी, जैसा चाहे उलटती-पलटती थी, खूब आनन्दसे जलमें रहती थी, उसे कोई भय ही नहीं। उसका चित्त उस जल में खूब रम रहा था, ऐसी वह मछली जब रसनाइन्द्रियके वशमें हुई और मांसपिण्डके लोभसे लोहेके फंदेमें अपना कंठ फंसा लेती है तो बस वह तड़प-तड़पकर मरणको प्राप्त हो जाती है और मांसलोलुपी लोगोंके भोजनकी सामग्री बन जाती है। वैसे मछलीको लोगोंने सगुन माना

है। कहीं-कहीं तो अक्षय तृतीयाके दिन ढीमर लोग कुछ जलमें मछली रखकर घर घर दिखाने जाते और लोग उन्हें कुछ उस दिखानेके एवजमें द्रव्य देते। और आपके सोलह स्वप्नों में भी मछली दिखनेकी बात आयी है। मछली एक दयापात्र प्राणी है वह किसीका कुछ बिगाड़ नहीं करती। मगर शिकारी लोग थोड़ेसे मांस पिण्डका लोभ दिखाकर बड़ी निर्दयता से उस मछलीके प्राण हर लेते हैं।

रसनेन्द्रियविषयव्यामोहमें आबाल वृद्ध सबकी विडम्बना—भैया! यह तो मछली की बात है। सभी प्राणियोंमें यही बात देख लो। आप सब भी अब तो बड़े हो गए, पर जब बच्चे थे तो क्या करते थे? अगर आपके हाथसे मान लो कोई जलेबी छुड़ा लेता था तो आप जमीनमें लोट लोटकर खूब रो रोकर घर भर देते थे। तो छोटे छोटे बच्चोंको भी यह रसनाइन्द्रिय सताती है। फिर बड़े बूढ़े लोगोंका तो कहना ही क्या? एक इस रसनाइन्द्रिय के लोभके कारण नाना प्रकारके व्यञ्जन बनाये जाते हैं। हमें तो ऐसा लगता कि अन्य देशों से भी अधिक व्यञ्जन सामग्रियाँ आपके इस भारत देशमें बनती हैं। एक एक चीजकी सैंकड़ों किस्मकी चीज ले लो, ऐसे ही सभी चीजोंकी सैंकड़ों तरहकी चीजें इस भारत देशमें बनती हैं। तो ये सब एक इस रसनाइन्द्रियके वशीभूत होनेके कारण ही तो बनती हैं। इन मनुष्यों का कितना ही समय व्यर्थ जाता है एक इस रसनाइन्द्रिय सम्बंधी व्यर्थकी बातोंमें। इसके अतिरिक्त अन्य बातोंसे भी व्यर्थ समय जाता। अगर इन मनुष्योंको अन्य कोई बड़ा काम न करनेको पड़ा हो दूकान धंधा आदिकका तो यों ही बैठे बैठे उनका चित्त कितने ही तरहके भोजन बनाने खानेमें लगा रहेगा।

रसनेन्द्रियविषयव्यामोहमूलक हठकी विडम्बनाका एक दृष्टान्त—कोई एक मास्टर मास्टरनी थे। एक दिन इतवार पड़ गया, छुट्टीका दिन था हो सो दोनोंमें सलाह हुई कि आज तो कोई नई चीज बनाकर खानी चाहिये, क्योंकि रोज रोज वही वही खाना कम अच्छा लगता। अन्य दिनोंमें कोई नई चीज बनानेका मोका भी नहीं मिलता। आखिर कौनसी नई चीज बनाई जाय, सो सलाह हुई कि आज तो मंगौड़ी बननी चाहिए। ठीक है अब मास्टर ने मंगौड़ीसे सम्बंधित सारी सामग्री बाजारसे खरीदकर घर पहुंचा दिया और मास्टरनीने बड़ी विधिसे मंगौड़ी बनायी। वे कुल मंगौड़ी बनी गिनतीमें २१ (इक्कीस)। दोनों जब खाने बैठे तो मास्टरको १० मंगौड़ी परोस दियो और अपने लिए ११ रख ली। तो मास्टर बोले— ११ तो हम खायेंगे, क्योंकि हमारा परिश्रम अधिक रहा, मास्टरनीने कहा—नहीं नहीं, परिश्रम हमारा अधिक रहा, हम ११ खायेंगी। तो दोनोंमें यह तय हुआ कि अच्छा दोनों ही मोन लेकर बैठ जायें, जो पहले बोल देगा उसे १० ही खानी पड़ेंगी।....ठीक है। अब वे

दोनों घरमें अन्दरकी साँकल लगाकर मौन बैठ गए। दोनों ही इस हठमें थे कि ११ तो हम खायेंगे। इस हठमें दिन-रात दोनों ही व्यतीत हो गए। आखिर दोनों भूखे तो थे ही, पर हठ दोनोंकी तेज थी। जब तेज भूख बढ़ी तो दोनों ही लेट गए। यहाँ तक कि दो तीन दिन व्यतीत हो गए, पर दोनोंने अपनी हठ न छोड़ी। उधर जब विद्यार्थियोंने देखा कि मास्टर मास्टरनी दोनों ही दो-तीन दिनसे स्कूल नहीं आ रहे तो उसकी चर्चा फैली। लोग उनके द्वार पर गए, किवाड़ फाड़कर घरके अन्दर घुसे तो क्या देखा कि दोनों मरे जैसे पड़े थे। लोगोंने यही समझा कि ये दोनों मर गए, अब इन्हें श्मशान पहुंचायें। पर दो अर्थी बनानेकी क्या जरूरत? एक ही अर्थीमें दोनोंको रखकर पहुंचा दिया जाय। आखिर दोनोंको ही अर्थीमें रखकर बाँधकर श्मशानमें पहुंचा दिया। वहाँ उनको जलानेके लिए चिता बनी, उस अर्थीको खोलकर दोनोंको एक ही चितामें एक साथ लिटा दिया और चितामें आग लगाने ही वाले थे कि इतनेमें उस मास्टरनीको दया आयी कि देखो व्यर्थ ही एक इस हठके कारण हम दोनोंके प्राण जा रहे, स्त्रियोंका हृदय तो कोमल होता ही है सो वह अपनी हठ छोड़कर बोल उठी—अच्छा तुम ११ खा लेना, हम १० ही खा लेंगी। अब उस दिन जलाने वाले लोग भी कुल २१ (इक्कीस) ही गए थे, सो उस मास्टरनीकी आवाज सुनकर सभी गिनने लगे कि अपन सब कितने हैं? तो देखा कि २१ हैं। सो यह समझे कि यह चुड़ैल (भूतनी) तो हम लोगोंमें से १० को खानेको बोल रही और इस भूतको ११ खानेको कह रही, सो वे सभी के सभी डरकर वहाँसे भग गए। बादमें वे मास्टर मास्टरनी भी घर गए। तो बात यहाँ यह समझना कि एक इस रसनाइन्द्रियके लोभमें आकर ये प्राणी न जाने कितने-कितने कष्ट सह लेते हैं। यदि इन कष्टोंसे बचना है तो इन विषयोंसे प्रीति न करें और अपने वास्तविक स्वरूपको निरखकर अलौकिक आनन्द प्राप्त करें।

नानातरुप्रसवसौरभवासितांगो घ्राणेंद्रियेण मधुपो यमराजधिष्ण्यं।
गच्छत्यशुद्धमतिरत्र गतो विशक्ति गंधेषु पद्मसदनं समवाप्य दीनः ॥८५॥

घ्राणेन्द्रियविषयवशीभूत भ्रमरका प्राणघात—संसारके प्राणी इन्द्रियके विषयोंके वश होकर अपना प्राणघात तक कर डालते हैं, यह बात इस प्रकरणमें कही जा रही है। जीवका स्वरूप तो केवल ज्ञाताद्रष्टा रहनेका है। केवल जाने, देखे। आत्मस्वभावसे केवल प्रतिभासमात्र है। यह मैं अकेला स्वयं आनन्दस्वरूप हूं। इसमें न विषयकी वेदना है, न साँसारिक कोई कष्ट है। इसका स्वरूप कष्टरहित है, किन्तु जिसको अपने स्वरूपकी सुध नहीं, किसी कारण अपना अलौकिक आनन्द पा सकता नहीं तो वह विषयसुखोंकी ओर ही आकर्षित होगा। घ्राणेन्द्रियके वश होकर बहुत प्रसिद्ध बात है कि भ्रमर कमलके पत्तोंके भीतर

दबा दबा अपने प्राण खो देता है। भ्रमर अनेक पुष्पोंके पराग लेकर जीता है। जिसके सारे अंग सुगंधित रहते हैं वह भ्रमर शामके समय किसी फूले हुए कमलके बीच बैठ जाता है और कमलकी सुगंधमें मस्त हो जाता है। कमलका ऐसा ही स्वरूप है कि रात्रिमें कमल बंद हो जाता है, कमल बंद हो गया भंवरा उसीमें ही बंद पड़ा है उस भंवरेमें इतनी शक्ति है कि किसी काठमें लग जाय, तो उसे भी छेदकर निकल जाता है, मगर विषयोंके लोभमें वह कमलके पत्तोंको नहीं छेद रहा और उसी कमलमें उसकी घुटन हो जाती है। श्वास खत्म हो जाती और मरा हुआ पाया जाता अथवा कोई रात्रिको हाथी आये और यों ही फूलके साथ उसे चबा जाये। तो देखिये घ्राणेन्द्रियके वश होकर ये भ्रमर अपने प्राण खो देते हैं। यहाँ मनुष्योंमें भी देखिये—घ्राणेन्द्रियके लिए इत्र लेना, फूल लेना, ये कोई खास जरूरी है क्या? स्वच्छ पवन है, उससे ही जीवन चलता है, मगर विषयोंका लोभ ऐसा लगा है कि कोटपर इत्र लगायेंगे, कानमें इत्र खोसेंगे, नाकमें लगायेंगे, फूलोंके सुगंधित गजरा माला पहनेंगे, क्योंकि फाल्तूके विषयोंका व्यामोह होता है। फल यह होता है कि उसकी बाह्यमें ही दृष्टि रहती है। आत्माका जो सहज स्वरूप है केवल चैतन्यमात्र उस रूप अपनेको बना सके यह उसके बुद्धि नहीं बनती। यह बहुत बड़ी विपत्ति है जो मैं अपने आपके स्वरूपको न जान पाऊँ और बाहरी-बाहरी पदार्थोंमें ही रमण करूँ।

सज्जातिपुष्पकलिकेयमितीव मत्वा दीपार्चिषं हतमतिः शलभः पतित्वा।
रूपावलोकनमना रमणीयरूपे मुग्धोऽवलोकनवशेन यमास्यमेति ॥८६॥

चक्षुरिन्द्रियविषयवशीभूत पतंगेका प्राणघात—चक्षुइन्द्रियके वशमें होकर यह प्राणी न जाने कितनी ही विडंबनायें पाता है। मनुष्योंमें ही देख लो, ऐसे-ऐसे गरीब लोग जो रिक्शा चलाकर उदरपूर्ति करते हैं उनको भी सिनेमा देखे बिना चैन नहीं पड़ती। घरमें चाहे कैसा ही गुजारा करना पड़े, मगर चक्षुइन्द्रियके विषयोंके तीव्र लोभी हैं। जो स्त्री पुरुष परस्परमें एक दूसरेके रूपको निरखनेमें व्याकुल रहते हैं उनका वह फोकटका काम है। उससे उन्हें लाभ कुछ नहीं मिलता, केवल समय ही बरबाद होता है। चक्षुइन्द्रियके वश होकर पतिंगे दीपकके लौ पर गिर जाते हैं और अपना सर्वस्व समर्पित कर देते हैं। बताओ विषय व्यामोहका इससे बड़ा क्या उदाहरण होगा? पतिंगा दीपकमें पड़ेगा तो मरेगा, मगर दीपकके प्रकाशका रूप उसे इतना सुहाता है कि वह दीपकपर गिर जाता है। जो अपने प्राणोंके विनाशका कारण है उसके तो निकट ही न जाना चाहिए और प्रायः करके सभी कीड़े और वे ही पतिंगे अन्य कोई कारण ऐसा आये कि जिसमें प्राणघातकी सम्भावना है, तो वहाँ कभी न जायेंगे, मगर दीपकका राग ऐसा लगा है कि जहाँ जलता दीपक दिखा वहाँ अपना सर्वस्व

समर्पित कर देते हैं। उनके अज्ञान है, वे दीपककी शिखाको मानो बड़ी ऊँची जातिके पुष्प की कली समझते हैं। भ्रम भी है उनके, क्योंकि पतिंगे पुष्पोंपर मंडराया करते हैं। दीपककी लौ को भी कोई पुष्पकली समझ रखा, उसको रमणीक रूप समझ रखा तो मानो उसको देखनेकी इच्छासे वे उसमें बैठते हैं और बैठते ही भस्म हो जाते हैं, अपने प्राण खो देते हैं। इतिहासमें मनुष्योंकी भी बहुतसी विडम्बनायें पढ़नेको मिलती हैं पुराणोंमें। कोई राजपुत्र किसी कन्यापर या किसी सेठवधूके रूपपर मोहित हो गया, भोजनपान छोड़ दिया, लोग मनाने लगे, न जाने क्या-क्या विडम्बनायें हुईं..., तो चक्षुइन्द्रियका विषय जिनके लगा है और आत्माके स्वरूपकी सुध नहीं है उन जीवोंको बहुत बड़ी विपत्ति है वे अपने उपयोगको सर्वत्र लगाकर निरन्तर दुःखी रहा करते हैं।

दूर्वांकुराशनसमृद्धवपुः कुरंगः क्रीडन् ये वनेषु हरिणीभिरसौ विलासैः।
अत्यंतगेपरवदत्तमनाः वराकः श्रोत्रेंद्रियेण समवर्तिमुखं प्रयाति ॥८७॥

कर्णेन्द्रियविषयवशीभूत मृग एवं सर्पोंका वशीकरण—कर्णेन्द्रियके विषयोंके लोभमें हिरण, हिरणी, सर्प आदिक शिकारियोंके चंगुलमें फंस जाते हैं। शिकारी लोग क्या करते हैं कि कोई बीन आदिक बाजोंका मधुर संगीत बजाते हैं और उस संगीतको सुननेके लिए हिरण हिरणी, सर्प आदिक पास आ जाते हैं, विषयोंका आकर्षण ऐसा है कि वे अगल-बगलका भय कुछ नहीं देखते और उस विषयपर ही अपने आपको सौंप देते हैं। तो अच्छे संगीतकी ध्वनि सुनकर हिरण, हिरणी, सर्प आदिक पास आये तो वे इतनो मस्त हो जाते कि सब कुछ भूल जाते और शिकारियोंके द्वारा पकड़ लिए जाते हैं, शिकारियोंके वशमें हो जाते हैं। मनुष्यों को भी देख लो, जिनको राग रागनीका शौक लगा है वे अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ खोकर, समय भी खोकर उन्हीं विषयोंमें लग जाते हैं। फल क्या मिलता ? समय व्यर्थ गया, उपयोग खराब हुआ और आत्माकी सुधसे दूर हो गए। तो कर्णेन्द्रियके विषयोंके वश होकर ये संसारी प्राणी अपने प्राण तक गंवा देते हैं और अपने जीवनको बरबाद कर देते हैं।

एकैकमक्षविषयं भजताममीषां संपद्यते यदि कृतांतगृहातिथित्वं।
पंचाक्षगोचररतस्य किमस्ति वाच्यमक्षार्थमित्यमलधीरधियस्त्यजंति ॥८८॥

पंचेन्द्रियविषयवशीभूत मनुष्योंकी दुर्दशा—अभी उक्त छंदोंमें एक-एक इन्द्रियोंके वश हुए संसारी प्राणियोंकी दुर्दशा बतायी है, वे अपने प्राण तक खो बैठे। अब जो पंचेन्द्रियके विषयोंमें लीन हैं ऐसे मनुष्योंकी स्थिति देखिये—ये किस विषयसे विरक्त हैं, स्पर्शनइन्द्रियके विषयोंमें अत्यन्त व्यामुग्ध हैं, रसका भी लोभ है। फाल्तू होनेपर यह घ्राणेन्द्रियके विषयोंमें भी लगता, चक्षुइन्द्रियका भी लोभ, कर्णेन्द्रियमें भी व्यामुग्ध और मनके विषयका तो अतीव

व्यामुग्ध है। जो सम्पर्क मिला है इनके बीच हमारी बड़ाई होनी चाहिए, इनमें हमारा नाम प्रधान रहना चाहिये या मेरा सम्मान रहे, अन्य लोग मेरे विनयमें रहें, यों न जाने किस-किस प्रकारकी मनकी विडम्बनायें चलती हैं जो कि एक मूढ़ता भरी हैं। यह मनका विषय है। तो यह मनुष्य पञ्चेन्द्रियके विषयोंका लोभी और मनके विषयोंका लोभी है, तो ये अवश्य ही नष्ट भ्रष्ट हो रहे हैं, सारा जीवन किरकिरा हो रहा है। बड़ों-बड़ोंपर दृष्टि डाल लो जो ऊँचे कहलाते। धनमें कहो, इज्जतमें कहो, राज्याधिकारमें कहो, वे अब भी निरन्तर अशान्त और कदाचित् उनका पतन हो जाय, पद छूट जाय तो वहाँ और भी अशान्ति। सर्वत्र अशान्त हो रहे ये मनुष्य, उसका कारण यह है कि अपना असली सहज एकत्व विभक्त जो चैतन्य प्रतिभास मात्र स्वरूप है उसमें अनुभव नहीं बनाया कि मैं यह हूं। यह जगत माया है, ऐसा उनके निर्णय नहीं हो पाया, इस कारण दुःखी होते हैं। यदि इस दृश्यमान सर्व जगतको, अपने शरीरको, अपने वर्तमान परिणामोंको, इन सभीको मायारूप जानने लगें और यह जानें कि इस मायाका स्रोत तो एक अद्वैत ब्रह्मस्वरूप सहज परमात्मतत्त्व है, वहींसे तो यह सब प्रकट होता है। इसी बातको दृष्टिमें रखकर तो सृष्टिकर्ताकी बुद्धि हो गई, अपनी सारी सृष्टियों का स्रोत तो यह चैतन्यस्वरूप है। उस स्रोतकी सुध नहीं है और मायामें लग रहे हैं तो उनको सर्वत्र अशान्ति रहती है, जिसे जीवनमें शान्ति चाहिए उसे विषयोंसे विरक्त रहना कर्तव्य है।

दंतींद्रदंतदलनैकविधौ समर्थाः संत्यश्च रौद्रमृगराजवधे प्रवीणाः।
आशीविषोरगवशीकरणेपि दक्षाः पंचाक्षनिर्जयपरास्तु न संति मर्त्याः ॥८६॥

हस्तिराज एवं सिंहोंके वधमें शूर वीर पुरुषोंकी भी विषयविजयमें असमर्थता—ऐसे मनुष्य बहुत मिलेंगे वीर जो बड़े-बड़े हस्तियोंके दंतको तोड़ देनेमें समर्थ हैं, मगर वे मनुष्य पंचेन्द्रियके विषयोंपर विजय प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हैं। इतना बल पाया कि हस्तियों की अक्लको ठिकाने लगा दें, पर अपने आपके अक्लको ठिकाने नहीं लगा सकते। ये इन्द्रिय-विषय, इनकी धुन, इनका राग जिन पुरुषोंके लगा है वे कायर हैं और कभी भी वे शान्तिका अनुभव नहीं कर सकते। ऐसे-ऐसे भी वीर पुरुष मिलेंगे जो क्रूर सिंहके वध करनेमें भी प्रवीण हैं, सिंहसे कुश्ती भी लड़ेंगे, उसका मुख चीर दें, उसकी भुजाओंको चीर दें, इतनी भी शक्ति रखने वाले वीर पुरुष हैं, मगर वे पञ्चेन्द्रियके विषयोंपर विजय प्राप्त कर लें यह उनसे नहीं बन पाता। अब इससे जानें कि इन्द्रियके विषयोंका जीत लेना कितनी बड़ी वीरताका कार्य है। हम आप सबको मोक्षमार्गमें प्रगतिके लिए बहुतसी अभी अधूरी बातें हैं जिनको पार करना है। उन सबके पूर्ण होनेका उपाय तो एक ही है—निर्विषय, निर्विकार, निज सहज

चैतन्यस्वभावमें मैं यह हूँ ऐसा अनुभव रखना यह एक ऐसी औषधि है कि इसके बलपर यह सर्व संकटोंसे दूर हो सकता है। तो अपने लिए कितना कार्य पड़ा है धर्मपालनके लिए अभी हम कितनो दूर हैं यहां भी जानें, उस दूरीको हटायें और अपने आपके भगवानके निकट आयें। जिन्होंने पञ्चेन्द्रियके विषयोंपर विजय किया उनसे स्वानुभूतिका आनन्द मिल जाता है।

विषैले सर्पराजोंको बन्धनमें करने वाले पुरुषोंके भी विषयविजयकी अक्षमता—ऐसे बड़े-बड़े वीर पुरुष हो गए जो बड़े कठिन विषैले सर्पोंको भी वशमें करनेमें दक्ष हैं। जो सर्प एक बार भी डस ले तो मृत्यु हो जाय, ऐसे भयंकर हैं, उन सर्पोंको वश करनेकी सामर्थ्य है मनुष्योंमें और करते हैं, किन्तु पंचेन्द्रियके विषयोंपर विजय पानेमें समर्थ नहीं हो रहे। देखिये धर्मपालनके लिए मूल प्रेरणा अपने आपके अन्दरसे होनी चाहिये। बैठे हैं, पड़े हैं, रोगमें भी हैं, पर ऐसा अपने आपके स्वरूपका विचार करना चाहें तो किया जा सकता है। मैं क्या हूं? यह बाह्य जगत् सब माया है। इस मायासे मुझे कुछ लाभ न मिलेगा। इसमें जितना ही उपयोगको फंसाया जायगा उतनी ही अड़चनें बढ़ती जायेंगी। प्रायः सभीने अनुभव किया। कोई २० साल पहले सोचता होगा कि इतना कार्य हो जाय, फिर मेरेको कोई उलझन न रहेगी और धर्मदृष्टिमें ही फिर सारा समय लगाऊँगा, पर होता क्या कि जब उतना कार्य पूर्ण हो जाता तो उलझन और भी बढ़ जाती है, छुटकारा नहीं मिल पाता। तो यह माया ऐसी चीज है कि जिसमें फंसनेपर विवेक सब दूर हो जाता है, तिसपर भी उपाय तो एक ही है। जैसे कोई चींटी भींतपर चढ़ती है तो वह कुछ दूर चढ़ने पर गिर जाती है, फिर चढ़ती है, फिर गिर जाती है, यों कितने ही बार चढ़ती और गिरती है, फिर भी चढ़ना नहीं छोड़ती। आखिर एक समय वह आता है कि वह चींटी ऊपर चढ़ ही जाती है, ऐसे ही हम आप बार-बार चिगते हैं इन विषयसाधनोंमें उपयोग देकर तिसपर भी कर्तव्य क्या है? क्या यह जानकर कि जब चिग जाते हैं तो अब प्रभुका क्या सहारा करें? ऐसा हो ही जाता है, ऐसा कोई विचार करे तो वह तो गया अपने कामसे।

सर्व धार्मिक कर्तव्योंका प्रयोजन स्वभावदृष्टि—कितनी भी स्थितियां बुरी आयें, पर कर्तव्य एक ही है कि अपने अविकार चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि करना कि मैं तो यह हूं वास्तवमें, और हूं वास्तवमें निमित्तनैमित्तिकके परिचयकी बड़ी कृपा है, जिसके बलसे स्पष्ट जंचता है कि मैं तो इस स्वभाव वाला हूं, विकारको वे निमित्तके खातेमें बोल देते हैं। ये मेरे स्वरूप नहीं हैं, ये निमित्त पाकर हुए हैं। तो ऐसा योग है, हो जाता है, मगर मेरे स्वरूपकी चीज तो नहीं। मैं स्वरूपसे अविकार हूं, ऐसा दृढ़ निर्णीत हो जाता है। तो कर्तव्य यह है कि

स्वाध्यायसे, सत्संगसे, तत्त्वचर्चासे, ध्यानसे, एकान्तसे, मननसे अपने आपको अपने स्वरूपमें निहारनेका अभ्यास बढ़ाना चाहिये। यह ही अन्तः प्रकाश हमको मददगार बनेगा कि इन विषयोंके त्यागसे सुगमता होगी और आसानीसे त्याग सकेंगे। तो इस दुर्लभ मानवजीवनको पाकर विलक्षण काम करनेकी ठानिये। जो कार्य पशु-पक्षी भी करते हैं उन कामोंको दोहराने की उमंग न रखें। बाल-बच्चोंसे मोह तो ये पशु-पक्षी भी करते हैं। कोई उनका बच्चा गुजर जाय तो वे भी रोते हैं, कई-कई दिनको खाना-पीना भी छोड़ देते हैं। यहाँ अगर मनुष्य होकर वही काम किया तो उनमें और मनुष्योंमें फिर फर्क क्या रहा ? पेट पशु-पक्षी भी भरते और रात-दिन उसीकी धुन रखते। अगर वैसा ही काम मनुष्योंने किया तो फिर पशु पक्षियों में और मनुष्योंमें अन्तर क्या रहा ? तो पशु पक्षियोंकी भाँति निरन्तर खाने-पीनेका ही प्रोग्राम रखनेकी धुन न होनी चाहिए। सभी विषयोंमें यह ही बात है। इन विषयोंसे विरक्त होकर अपने वास्तविक स्वरूपकी ओर दृष्टि रखनी चाहिए कि मैं तो यह हूं, मेरा बाहरमें कुछ भी नहीं है। न कोई चेतन पदार्थ मेरा है न अचेतन, देह भी मेरा नहीं। तो ऐसे अन्तरंग निर्णयके साथ इन विषयोंका परिहार करना योग्य है।

संसारसागरनिरूपणदत्तचित्ताः संतो वदंति मधुरी विषयोपसेवा।
आदौ विपाकसमये कटुकां तितांतं किंपाकपाकफलभुक्तिमिवानेमाजां ॥६०॥

विषयोपभोगका परिणाम अति कटु—जो पुरुष संसारकी वास्तविक अवस्थाका निरूपण करने वाले हैं वे खूब बतलाते हैं कि ये विषयभोग इन्द्रायन फलके समान देखनेमें बड़े सुन्दर और खानेमें बड़े मीठे (मधुर) विदित होते हैं, परन्तु अन्तमें महान् कटुक फल देने वाले हैं। जिस पुरुषको जितना समागम मिला, जितनी सुविधा मिली उसके अनुसार वे भोग भोगनेको बड़ा सस्ता समझते हैं। कुछ भी दुर्विचार बनाना उनके लिए बहुत सस्ता लगता है, मगर ये भोग जो सुविधा पानेपर सड़े सस्ते लग रहे इनमें उलझनेका परिणाम बड़ा कटुक फल देगा। संसारमें जो जीव दिख रहे हैं यह किस बातका फल है ? बस विषयोंमें आसक्त होनेका फल है। विषयोंमें वे आसक्त क्यों रहे कि उनको अपने आत्माकी सुध न थी। कुछ न कुछ जानना और सुख मानना यह जीवकी प्रकृतिमें पड़ा हुआ है। अब सही ज्ञान नहीं जगता तो विपरीत ज्ञानमें ही लग रहे हैं और उनको आत्मीय आनन्द नहीं मिलता है तो वे विषयोंके आनन्दमें रहते हैं, किन्तु सुख और ज्ञान यह जीवकी प्रकृति है। तो जब खुदके स्वरूपका परिचय नहीं, जो आनन्दका अनुभव नहीं कर पाता वह बाह्यमें लगेगा ही। तो ये विषयसुख बड़े अनर्थकारी हैं। जिस कालमें ये विषयसुख भोगे जाते हैं उस कालमें आत्माकी कोई सुध रहती है क्या ? एक खानेपर ही घटा लो। बड़ी धर्मकी बातें करें, बड़ी चर्चामें

रहें, और जब खानेका समय होता है और खाते हैं तो कुछ भी खावें, मगर खाते समय किसीको आत्माकी सुध भी रहती है क्या ? आत्माका नाम भी वह चित्तमें ले पाता है क्या ? तो खाना तो एक जरूरी काम है । उसमें जब यह विडम्बना है तो जो जरूरी विषय नहीं है उन विषयोंके भोगकी प्रीतिमें तो बड़ी बिडम्बनायें भरी हैं । सो वास्तविकता यही है कि ये भोग भले ही देखनेमें, सुननेमें, भोगनेमें प्रिय लगें, लेकिन इनमें चूंकि उपयोग फँसा तो उसका फल अन्तमें बहुत कटुक मिलता है । सारा जीवन विषयोंमें गया और सहज परमात्म तत्त्वकी दृष्टिका अभ्यास न बन सके तो उसका फल क्या होगा ? अगला भव भी ऐसा ही मिलेगा जहाँ शान्तिका प्रसंग नहीं है । दो बातें सामने हैं—एक विषयसुखोंके भोगनेका झूठा मौज और एक आत्माको निरन्तर ज्ञानमात्र चिन्तन करनेपर यही उपयोग जब लगा रहता है उस समय आया हुआ अलौकिक आनन्द । इन दो में श्रेष्ठ आत्मीय आनन्द है । इसे पानेके लिए विषय सुखके साधनोंका परिहार करें और स्वाध्याय आदिक द्वारा अपने आपके स्वरूपमें अपने को निरखनेका अभ्यास बनायें ।

तावन्नरो भवति तत्त्वविदस्तदोषो मानी मनोरमगुणो मननीयवाक्यः ।
शूरः समस्तजनतायहितः कुलीनो यावद्धर्षीक विषयेषु न सक्तिमेति ।।६१।।

विषयोंमें आसक्ति न होने तक ही तत्त्वज्ञता—उपदेशमें जो कुछ सुनना चाहिए वह इस विधिसे सुनना चाहिये कि यह बात मेरी है, मेरे लिए कही जा रही है और मुझपर ये सब बातें बीतती हैं, ऐसी बात ध्यानमें रखकर सुनना चाहिये । देखिये—हम आप सब जीव हैं, जिसका स्वरूप है ज्ञान और आनन्द, यह स्वभाव है । जैसे दिखने वाले ये पुद्गल पदार्थ हैं तो उनका रूप, रस आदिक स्वभाव है, ऐसे ही आत्माका क्या स्वभाव है ? ज्ञान और आनन्दस्वभावसे यह अलौकिक अद्भुत परम आनन्दका अनुभव करता है, ऐसा हमारा आपका स्वभाव है, पर आज क्या हालत हो रही है ? जिस ज्ञानकी चर्चा कर रहे हैं कि इसका स्वभाव है तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थोंको जानना, मगर जान कितना रहा है ? आनंद स्वभाव ऐसा है कि जिसमें रंच भी आकुलता न आये, क्षोभ न हो, लहर न हो और एकदम एक रससे लगातार कोई ढंगका अलौकिक आह्लाद बने, पर यह बात कहाँ मिल रही है ? तो वह ज्ञान अलौकिक निधि जो नहीं मिल रही है इसका कारण है मोह । मोह होनेसे अज्ञान बसा है । अपने आत्माके स्वरूपकी सुध नहीं रहती है, और चूंकि जानना और आनंद अनुभव करना यह है इसकी प्रकृतिमें बात, सो इस समय हम इन इन्द्रियोंके द्वारा ही तो जानते हैं और इन्द्रियोंके द्वारा ही सुख भोगते हैं । बस इतनासा प्रलोभन कर्मोंने दे रखा है । अब जो इस प्रलोभनमें आते हैं उनपर कर्म हावी रहते हैं, और जो इस प्रलोभनमें नहीं आते

वे कर्मोंका क्षय करके परमात्मपद प्राप्त करते हैं।

व्यक्त एकत्वविभक्त होनेके लक्ष्यकी प्रथमावश्यकता—*भैया ! भले प्रकार विचारें* कि आपको आगे किस तरह रहना है और आपको क्या होना है ? ऐसी अपने बारेमें कुछ बात तो सोचिये। क्या पशु पक्षी, लट, केंचुवा, कीड़ा-मकोड़ा आदि बनकर रहना है ? इसके लिए तो आप झट मना कर देंगे कि ऐसा नहीं रहना है तो क्या बनकर रहना है ? क्या कहींका राजा या कोई ऊँचा पदाधिकारी बनकर रहना है ? उसमें भी कहाँ आनन्द बसा है ? राजावोंको तो प्रजाके साधारण लोगोंसे भी अधिक क्लेश है। लोगोंको दिखता है ऐसा कि ये बड़े मौजमें होंगे, किन्तु उनको तो बड़ी आकुलता है, और आजके राज्याधिकारियोंको ही देख लो, जब अधिकार है तब आकुलता है जब चुनावमें हार गए तब आकुलता। तो दो दिनकी चाँदनी फेर अंधेरी रात, यह दशा है जीवोंकी। अब एक निर्णय करके तो बताओ कि भविष्यमें क्या बनना चाहते हो। देव बनना चाहते क्या ? अरे उन ठलुवा देवोंको बड़ा कष्ट है, मनुष्योंसे अधिक कष्ट है, क्योंकि उन्हें न कमानेकी फिक्र, न भूख प्यास मिटानेकी फिक्र, कभी हजारों वर्षोंमें कुछ भूख लगी तो उनके ही कंठसे अमृत झड़ जाता है जैसे कि हम आपका थूक झड़ जाता, बस तृप्त हो जाते। तो उन देवोंको सागरों पर्यन्त ठलुवा रहना पड़ता है। अब जो ठलुवा रहे, कुछ काम-धंधा न रहे उसको कितने ही विकल्प उठते हैं सो तो आप सब लोग जानते ही हो। सो वे ठलुवा रहनेके कारण एक दूसरेके वैभवको व प्रतिष्ठाको अपनेसे अधिक देखकर मन ही मन कुढ़ते रहते हैं। तो देवगतिमें भी बड़े दुःख हैं। सभी गतियोंमें ही कष्ट ही कष्ट हैं। अब अपने आपके बारेमें सोचिये कि हमें क्या बनना है जिससे कि ये कष्ट दूर हों ? हाँ तो उत्तर आयगा कि हमको सिद्ध भगवान बनना है, जिसके बाद न जन्म लेना पड़े, न जीवनके कष्ट भोगने पड़ें।

व्यक्त एकत्वविभक्त होनेके लिये एकत्वविभक्त अन्तस्तत्त्वकी भावना व तदनुरूप आचरणके पौरुषका आवश्यक कर्तव्य—भैया, यह तो सोचिये सिद्ध बनने लायक आज कुछ करामात कर रहे क्या, यह भी तो ध्यानमें लाइये। क्या यों सोचनेसे मिल जायगी सिद्ध अवस्था ? सिद्धके मायने क्या हैं ? जहाँ शरीर नहीं, कर्म नहीं, विकार नहीं, केवल आत्मा ही आत्मा रह गया उसे कहते हैं सिद्ध। तो केवल आत्मा ही आत्मा रह जाय, यह तो चाहते हैं, मगर करामात मोहकी बना रखी कि यह भी मेरा वह भी मेरा। ये बच्चे मेरे, यह धन वैभव मेरा, यह मकान मेरा, यह प्रतिष्ठा मेरी। तो इन मायामय चीजोंको इसने मान लिया कि ये मेरी हैं। क्या इस करामातसे सिद्ध भगवान बननेकी बात बन सकती है ? जब तक सत्य ज्ञान न जगे चित्तमें तब तक कल्याणका उपाय बन नहीं सकता। मैं आत्मा हूँ, अपने

स्वरूपसे हूँ, ज्ञानानन्दमय हूं, निरन्तर परिणमता रहता हूँ। मेरा सब कुछ मुझमें है, मेरा बाहर कहीं कुछ नहीं है, बाहरका कुछ भी मेरा नहीं है। यह बात जिसे बिल्कुल साफ विदित हो तो वह पुरुष इस व्यामोहको छोड़ सकेगा। इस जीवको मोह करना बड़ा सस्ता लग रहा। झट दृष्टि दी कि मोह करने लगा। आँखसे देखा तो हृदय मौजसे भर गया। यह जिन्दगी जो बितायी जा रही है सो मालूम है कि एक क्षणके मोहमें ७० कोड़ाकोड़ी सागर तकके मोहनीयकर्म बँध जाते हैं। जरासी देरको कल्पित मौज माना और अनगिनते वर्षों तकके लिए इस संसारके बंधनमें बंध गए। तो कुछ अपने आपपर करुणा करके अपने हितके लिए थोड़ा सोचिये—जैसी करतूत कर रहे हैं भीतरकी, बाहरकी बात नहीं कह रहे, जब तक घरमें रहते हैं तब तक अच्छा बोलना पड़ेगा, प्रेमसे रहना पड़ेगा, नहीं तो न घरमें ठीक ठीक रह पायेंगे, न गुजारा चलेगा, पर वास्तविक बात सोचें, वह तो आपके हाथकी बात है। उसे तो कोई छीनता नहीं। आपका आत्मा है। आप अपने मनके राजा है। आप अपने में सब कुछ सोच सकते, उसमें कोई बाधा डालने वाला नहीं है। तो इस बातको सोचिये और भीतरके सारे व्यामोहको छोड़ दीजिये, और नहीं छोड़ते तो छूट तो जायगा। सब कोई यह बात जान रहे। तो ऐसा छूटनेसे क्या लाभ मिलेगा? संक्लेश होगा, भविष्यमें दुर्गति होगी। तो तत्त्वज्ञान करके इस रही सही जिन्दगीमें व्यामोह न बढ़ायें और अपनी इन्द्रियका भी व्यामोह न हो।

इन्द्रियज ज्ञान और सुखमें आसक्त होने वालोंकी दुर्दशा—इन इन्द्रियों द्वारा जो जाना जाता है इस मन द्वारा उसपर चतुराईका घमंड न करें। मैं ऐसा जानता हूं, मैं ऐसा फंसाता हूं लोगोंको, मैं सब तरहकी बात समझता हूँ, इस प्रकारसे अपनी चतुराईपर गर्व न करें। वह तो विडम्बना है। कहाँ तो आत्माका अनन्त ज्ञानस्वभाव और कहाँ इन्द्रिय द्वारा थोड़ा जो ज्ञान हो रहा, पराधीन ज्ञान हो रहा, परोक्ष ज्ञान हो रहा, साधारण ज्ञान है और वह भी पूरा स्पष्ट नहीं, उस ज्ञानपर गर्व किया जा रहा है। उस चतुराईपर गर्व करनेका फल भयंकर है। उसे दोष मानें और इन्द्रिय और मनसे परे जो ज्ञान है अपने आप उस अपने आत्मस्वरूपको देखे, बस उस ही में तृप्त रहे, अन्य कुछ मुझे न चाहिए। ऐसे ही इन्द्रिय द्वारा जो सुख प्राप्त होता है वह कल्पित है, दुःखसे भरा है। उसका फल भी कष्ट है। अतः इन्द्रिय विषयोंके सुखमें मुग्ध न हों, यह लालसा न रखें कि मुझे ऐसा ही विषय चाहिए, ऐसा ही खाना चाहिए, मुझे ऐसे ही मौजके साधन चाहिएँ। तो यह मनुष्य तब तक तत्त्वज्ञानी रहता है जब तक इन्द्रियके विषयोंमें आसक्त नहीं होता, और जब तक यह निरपेक्ष रहता है तब तक ही संतुष्ट रहता है। जब तक इन्द्रिय और मनके विषयोंमें यह आसक्त नहीं

अज्ञानी बनना पड़ा। ज्ञानके साधनोंमें उमंग रखिये तत्त्वज्ञानके प्रसारकी रुचि रखिये, धर्मके लिए जितना जो कुछ किया जा रहा है यदि उसके फलमें तत्त्वज्ञानकी बात नहीं सकते तो इसे यों समझिये—जैसे कोई बनियेका लड़का यों ही बैठा हुआ बाटोंको तराजूमें धर-धरकर उन्हें ही आपसमें तौलता, पर फायदा उससे कुछ नहीं, व्यर्थ श्रम किया और सारा समय व्यर्थ खोया। तो ऐसे ही समझो कि जिसे अपने आत्मासे सहज स्वरूपका बोध नहीं हुआ और वह कर रहा है अनेक धार्मिक क्रियाकाण्ड, फिर भी उसके लिए वे क्रियाकाण्ड कार्यकारी नहीं हैं। बल्कि उनमें पड़कर अपना समय व श्रम खोता है। अपनी रुचि होनी चाहिए तत्त्वज्ञान करनेके लिए। इसके लिए सत्संग और स्वाध्याय इन दो बातोंका मुख्य ध्यान रखें।

इन्द्रियविषयोंके परिहारकी वृत्तिके परीक्षणका कर्तव्य—अब आप लोग ही बताओ आपका रात-दिनके २४ घंटेमें कितना समय जाता है तत्त्वज्ञानके काममें और कितना समय जाता है व्यर्थके कामोंमें? इसका निर्णय तो आप स्वयं दे सकते। अरे रात-दिनके २४ घंटे में अधिक नहीं तो कमसे कम १ घंटेका समय तो तत्त्वज्ञानके लिए देना ही चाहिए। २४ घंटेमें एक बार या दो बार अधिकसे अधिक जितना समय लगा सकें उतना तत्त्वज्ञानके काम में लगायें, तत्त्वज्ञानवर्द्धक शास्त्रोंका अध्ययन करें। उससे एक तो तत्काल ही शांति मिलेगी, चित्तमें व्यग्रता न रहेगी। आजकल प्रायः करके घरमें, समाजके देशमें जो परस्परमें विवाद होता है उसका मूल कारण है अयोग्य वचनव्यवहार (मिथ्यावाणी) तो तत्त्वज्ञान पर हम आपकी दृष्टि रहे जिससे सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव करते रहें, ऐसी धुन यदि बन सकती तो वहाँ अपना वचनव्यवहार भी बड़ा उत्तम बनेगा। उससे खुदका भी भला है और दूसरोंका भी। एक यह ही बात अपने चित्तमें रहे कि मुझे तो अपने आत्माके सही स्वरूपको निरखना है। मान लो कोई दुनिया भरके सब काम करता फिरे और एक खुदके स्वरूपका परिचय भर न पाया तो समझो कि उसके वे सब बाहरी काम व्यर्थ गए। देखिये—अपने आत्माका ज्ञान पानेमें कुछ कष्ट नहीं है, क्योंकि ज्ञानस्वरूप तो यह आत्मा है ही। जैसे आकाश है ना, एक प्रदेशी है ना, ठीक इसी प्रकार आकाशकी तरह यह आत्मा भी है। पर आकाश एक है और विस्तृत है। यहाँ आत्मा अनेक है और एक-एक आत्माका अपने आपमें अनुभव चलता है। जिन संयोगोंमें हम आप रह रहे हैं बताओ ये पूर्वभवमें कोई साथ देंगे क्या? अरे ये कोई साथ न देंगे, फिर इनमें मोह किस बातका? नहीं रहते साथ, पर हाँ घरमें रहते हैं सो राग करना आवश्यक हो गया, पर सही ज्ञान रखते हुए यदि घरमें रहे तब तो लाभ है अन्यथा अपनी बरबादी ही है।

इन्द्रियविषयविडम्बनाका मनुष्योंमें आधिक्य—ये इन्द्रियके विषय इस मनुष्यको

होता। जो मनुष्य इन्द्रिय विषयोंमें आसक्त हैं वे निष्पाप हो नहीं सकते, विवेकी भी नहीं रह सकते। यह घमंड तब तक ही बगरा सकता जब तक इन्द्रियविषयोंमें आसक्त न हो। यद्यपि घमंड बुरी चीज है, मगर घमंड जैसा गौरव भी तब ही कर सकता है जब विषयोंमें आसक्त न हो। यह मनुष्य इतना विचारशील तब तक ही रह सकता है जब तक कि इन्द्रिय विषयोमें आसक्त नहीं है। इन्द्रियके विषय ५ हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण। स्पर्श, स्वाद, गंध लेना, रूप देखना, शब्द सुनना और नाम चाहना, ये सारे विषय हैं। ये विषय जिसको न रुचें वही पुरुष वास्तविक गुणी रह सकता है, नहीं तो कायर हो जाय। तो हम आपको विवेकसहित इतना तो करना ही चाहिये कि इन्द्रियविषयोंमें आसक्ति न रखें। हो रहा है, ज्ञाता द्रष्टा रहें, यह बात भी तब बन पायगी जब आपके चित्तमें यह बात बस जाय कि संसारकी कोईसी भी दशा भली नहीं है। यह पुरुष सम्मानके योग्य और बड़े कुलके व्यापक बर्ताव रखने वाला, न्यायपर अडिग तब तक ही रहता है जब तक कि विषयों का लोभ नहीं होता।

मर्त्यं हृषीकविषया यदमी त्यजंति नाश्चर्यमेतदिह किंचिदनित्यतातः।
एतत्तु चित्रमनिशं यदमीषु मूढो मुक्तोपि मुंचति मतिं न विवेकशून्यः ॥६२॥

खुद ही पुरुषको छोड़ जाने वाले विषयोंको न छोड़नेके आग्रहकी मूर्खता—ये इंद्रिय के विषय, ये बाहरी सभी पदार्थ इस मनुष्यको छोड़कर चले जायेंगे, छोड़ देंगे, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। पदार्थका स्वरूप ही ऐसा है कि प्रत्येक पदार्थ विनाशीक है अर्थात् किसी एक ही पर्यायमें कोई पदार्थ हमेशा नहीं रह पाता। स्थितियाँ बदलती रहती है। तो ये सभी पदार्थ इस मनुष्यको छोड़ देंगे। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं, कोई नई बात नहीं, हाँ आश्चर्यकी बात यह है कि यह मनुष्य जीते जी इन्हें [illegible]ना नहीं चाहता। बल्कि विषयोंके द्वारा छोड़ा गया यह मनुष्य तिरस्कृत होकर, विवेकरहित होकर बार-बार उनका ही सेवन करता है और यह इस नियमको भूल जाता है। ये विषयभूत पदार्थ अनित्य हैं। ये मेरेको हितकारी नहीं हैं। अपने भीतर रहने वाला परमात्मस्वरूप इसकी नजरमें रहे तो समझो कि इसने इस दुर्लभ मनुष्यभवको पाकर कोई ऊँचा काम किया और यदि एक यह काम न कर सके तो फिर आप कुछ भी कर जायें, उसका कोई महत्त्व नहीं। यदि तत्त्वज्ञान न बने, ज्ञानसंस्कार न मिले तो कुछ भी चीज आगे साथ जाने वाली नहीं है। इस कारण तत्त्वज्ञानके प्रति रुचि रखनी चाहिए। जिन लोगोंको ज्ञान नहीं जग पा रहा, जिसे कहते हैं कि निपट मूर्खता छायी है, जिनको कुछ समझ नहीं बन पा रही है उन्होंने क्या किया था पूर्व भवोंमें ? उन्होंने अपने ज्ञानके साधनोंको बिगाड़ा था, उसका फल है कि अगले भवमें

छोड़कर नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि यह तो स्वभाव ही है सब पदार्थों का। हाँ आश्चर्य तो इस बातपर है कि ज्ञानानन्दस्वरूप होकर भी यह जीव इन विषयोंको छोड़नेकी चाह नहीं करता। और कभी कर्मोदयवश आये और जबरदस्ती छूट गए तो फिर उन्हींका उद्यम करते हैं। जो इसका बड़ा तिरस्कार करते, फिर भी विषयोंको छोड़ नहीं पाता यह मोही। यह बात आप सबने खूब सुन ही रखा होगा कि एक-एक इन्द्रियके वश होकर ये प्राणी अपने प्राण गंवा देते हैं। हाथी, मछली, भंवरा, पतिंगे, सर्प, हिरण आदिक के दृष्टान्त बड़े प्रसिद्ध हैं। अब यहाँ मनुष्योंमें देख लो ये कौनसे विषयमें कम रहना चाहते ? सभी विषयोंको ये मनुष्य बड़ी आसक्तिसे, बड़ी कलावोंसे भोगना चाहते हैं। एक खाने पीनेका ही विषय ले लो—न जाने कितने-कितने प्रकारके व्यञ्जन बनाकर कितनी ही कलाबोंसे यह मनुष्य खाता है। बड़ी एक शौक शानसे इस रसनाइन्द्रियसे सम्बंधित भोग भोगते हैं। अरे खाना क्या है ? एक जीनेके लिए पेट भरना है ? दो रोटी और दो वस्त्र, इनके सिवाय और कुछ काम आता है क्या आपके ? अर्थात् पेट भर लिया, कपड़े पहिन लिये इसके अतिरिक्त और क्या करता है मनुष्य। व्यर्थ ही इस मायामय संसारमें मायामयी पुरुषोंको अपना माया मयी नाम जतानेका भाव रखकर इतना परेशानीमें पड़ रहा है यह मनुष्य।

दुर्लभ समागमके सदुपयोगका अनुरोध—जैनशासनके अनुसार बिलकुल सीधी रीति है। यह कर्तव्य है कि प्रतिदिन ५·६ घंटे आजीविकाके कार्योंमें लगायें उतने समयमें कुछ न कुछ तो आय होगी ही। उदयानुसार जो आय हुई उस ही में गुजारा करनेकी कला बन जाय बाकी सारा समय भगवद्भक्तिमें, निज सहज परमात्मतत्त्वकी चर्चामें, उपासनामें, तत्त्व ज्ञानमें लगायें। जैनशासनके अनुसार बताये हुए मार्गपर चलें तो कहीं कोई झंझट नहीं। मगर जो तृष्णा बढ़ा रखी है उससे ये मनुष्य जलते-भुनते रहते हैं और विषयसाधनोंको जोड़ते हैं, अपनी तृष्णायें बढ़ाते रहते हैं, किन्तु जितना जीवन शेष है उतनेमें अब अपना मुख इन व्यर्थकी बातोंसे मोड़ लें। भाग्यके अनुसार जो होता हो सो हो, सबका भाग्य सबके साथ है। किसकी क्या विशेष चिन्ता करना ? किसके लिए सारी जिन्दगीभर अपनेको उलझन में डाला जा रहा है। हाँ अपने कर्तव्यके अनुसार जो कुछ बन सकता सो करें। सुगमतासे जो बात बन सके उसमें गुजारा करके संतुष्ट रहें। अपना जो खाली समय है उसको व्यर्थ न गंवायें। मंदिरमें आकर बैठना, शास्त्रस्वाध्याय करना, सत्संगमें अधिकाधिक रहना, इन बातों का विशेष ध्यान रखें। यदि अपना खाली समय व्यर्थकी गप्प-सप्पमें बिताया तो उससे लाभ क्या ? वह तो अपने जीवनके अमूल्य क्षण व्यर्थ खोना है। तो अब अपने जीवनका एक नया मोड़ लेना चाहिए। आजीविकासे सम्बंधित ४·६ घंटे जब तक काम करें तब तक तो वह

काम करें बाकी रात-दिनके सारे समयको व्यर्थकी बातोंमें गप्प-सप्पमें पड़कर न खोयें। अपने खाली समयका सदुपयोग करें। खाली समयका सदुपयोग यही है कि स्वाध्याय करें, सत्संग में बैठें जिससे संसार, शरीर भोगोंसे विरक्त रहनेकी प्रेरणा मिले, और अपने आत्माके ज्ञानान्दस्वरूपके अनुभव करनेका लाभ मिले, यह काम करना इस दुर्लभ मानव-जीवनमें अपना प्रमुख कर्तव्य है।

आदित्यचंद्रहरिशंकरवासवाद्या। शक्ता न जेतुमतिदु:खकराणि यानि।
तानींद्रियाणि बलवंति सुदुर्जयानि ये निर्जयंति भुवने बलिनस्त एव ॥६३॥

चन्द्र सूर्य इन्द्र प्रतीन्द्रसे भी इन्द्रियविषयविजयकी अशक्यता—इस संसारमें बलिष्टसे भी बलिष्ट प्राणी इन दु:खकारी विषयोंको नहीं जीत सकते। जैसे सूर्य तो वास्तवमें क्या है? जो दिखता है गोल गोल यह तो है सूर्यका विमान और इस सूर्य विमानका जो अधिपति है वह है सूर्य नामका देवता। यह गोल गोल दिखने वाला सूर्य देवता नहीं है यह तो पृथ्वी है और प्रकाशमय पृथ्वी है, उस पृथ्वीपर उसकी रचना है, महल हैं, चैत्यालय भी हैं। उसका जो अधिपति है वह कहलाता है सूर्यदेवता। सो सूर्यदेवताने भी इन्द्रियविषयोंको नहीं जीत पाया याने उसके भी देवांगनायें और रानियाँ होती हैं। ज्योतिषी देव कहलाता है वह, और वह अपनी देवियों और अग्र देवियोंमें आसक्त रहता है। यह तो है एक सैद्धान्तिक बात, मगर लोकरूढ़िमें यह बात प्रसिद्ध कर रखी है कि पांडवोंकी माता कुन्तीके कुमार अवस्थामें सूर्यके संसर्गसे गर्भ रह गया और उससे कर्ण नामका पुत्र हुआ, यह एक लौकिक रूढ़िमें किंवदंती है। ऐसा होता नहीं है, पर जिन्होंने माना है वे इसके जिम्मेदार हैं, वे ही बता सकते कि ऐसा क्यों कहा, पर सूर्य देवता प्रतीन्द्र कहलाता है, वह अपनी अग्र देवियोंमें और अनेक हजारों देवियोंमें वह रमण करता है वह भी इन्द्रियविषयोंको जीतनेमें असमर्थ रहता है। चन्द्रमाकी बात यह है कि जो आकाशमें दिखता है गोल गोल वह चन्द्र देवता नहीं है। वह तो चन्द्रविमान है। पृथ्वीकायिक है, प्रकाशमय है उसका जो अधिपति है वह चंद्र देवता है। वह ज्योतिषियोंका इन्द्र कहलाता है। इसकी भी कितनी ही अग्र देवियां और हजारों देवियाँ हैं जिनमें यह भी अपने विषयोंमें रमण करता रहा है। अब किम्वदन्तीमें लोग न जाने क्या कहते हैं, पर सैद्धान्तिक बात यह है कि वह चन्द्र इन्द्र भी अपनी देवियोंमें रमण करता है और वह विषयभोगों पर विजय नहीं प्राप्त कर सका।

चन्द्र सूर्य इन्द्र प्रतीन्द्रकी महिमा बढ़नेका कारण—देखो ये सूर्य चन्द्र दोनों कोई भगवान नहीं हैं, ये तो भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी ये जो तीन भवनत्रिक देव बताये गए हैं उनमें से ज्योतिषी देवोंके इन्द्र हैं, पर इनकी मान्यता जगत्में क्यों बढ़ी, उसका कारण

यह है कि यह जो पृथ्वीकायिक विमान है इसके होनेसे मनुष्योंका, जीवोंका उपकार बहुत हो रहा है। अभी लगातार १०-५ दिन बदरिया छा जाय, और एक दो दिन सूर्य बिल्कुल न दिखाई दे तो फिर देख लो क्या हालत हो जाती है। और लोगोंकी ही क्या, जानवरोंको, पेड़ोंकी, वनस्पतियोंकी क्या हालत हो जाती है ? तो इससे उपकार बहुत है, खेती भी अच्छी बने, सूर्यकी किरणें न निकलें तो अंकुर नहीं हरियाते। इससे बीज भी अच्छे पुष्ट बनते, लोगोंके शरीर भी स्वस्थ रहते, तो चूंकि इनसे उपकार बहुत है, तो कोई जमाना ऐसा था कि जिससे अपना उपकार मालूम हुआ, उसीको ही लोग भगवान मान लेते थे। और चन्द्र, सूर्य तो ज्योतिषियोंके इन्द्र हैं, उनके ऋद्धियाँ हैं, वैभव हैं, पर आप बतलावो बड़, पीपल आदिके पेड़ोंको भी देवता मान लिया गया सो क्यों ? तो सुनो—बड़का पेड़ तो इतना बड़ा होता है कि कहो बड़ी भारी बारात या छोटी मोटी सेना ठहर जाय, साथ ही उसकी छाया अत्यन्त शीतल होती है, और पीपलके पेड़के पत्तोंका स्पर्श करके बहने वाली हवामें एक ऐसा गुण बताते हैं कि वह निरोगता लाती है, अनेक रोगोंको दूर करती है। तो इस प्रकारके उपकारी होनेके कारण इन बड़, पीपल आदिके पेड़ोंको भी लोगोंने भगवान मान डाला, पर बताओ, ये कोई भगवान हैं क्या ? अरे भगवान तो वह होता जो सर्वज्ञ हो और वीतराग हो, पर उपकारी होनेसे लोगोंने बड़, पीपल आदिके पेड़ोंको भी भगवान मान डाला। अग्नि, जल, वायु आदिक उपकारी चीजोंको भी भगवान माना जाने लगा था किसी समय, पर परोपकारी होने मात्रसे कोई भगवान नहीं बन जाता। एक तो इन पेड़ोंने या अग्नि, वायु आदिकने जान-बूझकर पवित्र आशयसे उपकार किया हो, ऐसी बात नहीं है, पर उसका फायदा उठा लेते हैं लोग।

बड़े बलशाली पुरुषोंसे भी इन्द्रियविषयविजयकी अशक्यता—तो यहाँ प्रसंग यह है कि जो बहुत बड़े-बड़े कहलाते हैं वे भी अतीव दुःखकारी इन इन्द्रियोंको जीतनेमें समर्थ न हो सके। हरि, विष्णु आदि जिनके चरित्रमें यह बात लिखी होती हो कि वह अमुक स्त्रीमें आसक्त रहा, वह उनमें खेलता रहा तो इसके मायने क्या है कि वह इन्द्रियविषयोंको न जीत सका। शंकर, महादेव बहुत बड़े तपस्वी मुनि थे, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि थे, जिनके तपश्चरणके प्रभावसे ११ अंग और ९ पूर्वकी तो पूरी सिद्धि हो गई, इतने बड़े ज्ञाता हो गये जिनको कोई परवाह नहीं, कैलाशपर्वत पर निवास करते थे। भोजन-पानका कुछ विकल्प न करते थे, निरन्तर ध्यानमें लीन रहते थे। जिनके अनेक ऋद्धियाँ भी सिद्ध हुईं और विद्या भी सिद्ध हुई। जब १०वाँ पूर्व उन्हें सिद्ध होने लगा तो सैंकड़ो विद्या देवियाँ हाथ जोड़कर नाचने लगीं और बोलीं कि हे स्वामिन् मुझे आज्ञा दीजिए, जो आप कहेंगे उसे हम कर

डालेंगी। उस समय इस नग्न दिगम्बर मुनिका चित्त कुछ चलित हो गया, बस वहाँसे चलित पनेका चरित्र प्रारम्भ हो गया। तो ये भी इन्द्रियविषयोंको न जीत सके और अन्तमें पर्वत राजाकी पुत्री पार्वतीके साथ उनका पाणिग्रहण हुआ। तो कहनेका तात्पर्य यह है कि बड़े-बड़े तपस्वी प्राणी, ऊँचे लोग इन इन्द्रियविषयोंसे हार जाते हैं। इन्द्र जो अपनी विक्रियासे आश्चर्य भरे काम कर डाले, ऐसे बलिष्टसे बलिष्ट लोग भी इन दुःखकारी इन्द्रियोंको न जीत सके।

इन्द्रियविजयीको जिन व जिनेन्द्र संज्ञा—जिनेन्द्रदेवने इस सारे जगतको जीत रखा। एक बार रति और कामदेव ये दोनों जंगलमें घूमने जा रहे थे—रति मायने कामदेव और काम मायने भी कामदेव। एकको पुरुषका रूप दिया और एकको स्त्रीका रूप दिया। और अलंकारमें इन्हें देवता मान लिया। तो रति और कामदेव जंगलमें जा रहे थे तो एक जगह एक योगी आत्मध्यान कर रहा था और आत्मानुभवके आनन्दसे प्राकृतिक मुस्कान भी चल रही थी। उसे निरखकर रति कहती है—कोयं नाथ याने हे नाथ ये कौन बैठे हैं? तो वहाँ कामदेव कहता है कि जिने याने ये जिनेन्द्रदेव हैं। वे पार्श्वनाथ जिनेन्द्र थे। तो रति कहती है—भवेत्तववशी? याने क्या ये तेरे वशमें हैं? तो कामदेव बोला—ऊँ हूं, नहीं ये मेरे वशमें नहीं हैं।····क्यों वशमें नहीं हैं?····प्रिये, ये बड़े प्रतापी पुरुष हैं, ये मेरे वशमें नहीं हैं। तो रति कहती है कि यदि ये तेरे वशमें नहीं हैं तो आजसे तू अपनी शूरताकी डींग मारना छोड़ दे। तू तो कहता था कि मेरे वशमें सारा जगत है, पर यदि ये तेरे वशमें नहीं हैं तो अब तू कायर हो गया। अब मेरे सम्मुख अपनी शूरताकी डींग न मारना। तो कामदेव कहता है—'मोहोऽनेन विनिर्जितः प्रभुरतो तत्किंकराः के वयं' इन्होंने मोहको जीत डाला है, हम तो मोहके दास हैं। जहाँ मोह हो वहाँ ही हमारी खूब बनती है। जहाँ मोह नहीं रहा वहाँ हमारी दाल नहीं गलती। जब इन्होंने मोहको जीत डाला तब फिर हम किंकर इनका क्या कर सकते हैं? सो कविका यह कथन है कि ऐसी बात जिनके विषयमें रति और कामदेव भी कह उठते हैं वे पार्श्व जिनेन्द्र हम सबकी रक्षा करें। यह पूरा श्लोक इस प्रकार है—कोऽयं नाथ जिने भवेत्तव वशी, ऊँ हूं प्रतापी प्रिये। ऊँ हूं तर्हि विमुञ्च कातरमते शौर्यावलेपक्रियां। मोहोऽनेन विनिर्जितः प्रभुरसौ तत्किंकराः के वयम्। इत्येवं रतिकामजल्पविषयः पार्श्वो जिनः पातु वः॥ तो जिन्होंने इन्द्रियसुखोंको जीता, रागद्वेषादि विकारोंको जीता उन्हींको कहते हैं जिन अथवा जिनेन्द्र। ऐसे जिन भगवानके द्वारा जो धर्म बताया गया उसे कहते हैं जैनधर्म। यह जैनधर्म कबसे है? तो उत्तर यह है कि जबसे पदार्थ हैं तबसे जैनधर्म है। अब पदार्थ कबसे हैं? तो जो जवाब जो दे सो ठीक है। अनादिनिधन है। अनादिकालसे है,

क्योंकि जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता। जो सत् नहीं है उसका कभी उत्पाद नहीं होता, यह तो भगवद्गीतामें भी बताया है—"नासतोविद्यतेऽभाव:नाऽभाव:विद्यतेसते" तो जब यह है तो अनादिसे और जैनधर्म इस पदार्थका स्वरूप बताता है। उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला है जैनधर्म। यह कोई अलगसे बनी हुई चीज नहीं है, किन्तु जो पदार्थ है, उसमें जो बात है वैसी बात कही जाय, उसका नाम है जैनधर्म। तो ऐसे जिनेन्द्रके द्वारा ही ये इन्द्रिय सुख जीते गए। तो वास्तवमें बलशाली पराक्रमी वह ही कहलानेके योग्य है जो इन इन्द्रिय-सुखोंको जीत लेता है, इन्द्रियोंको जीत लेता है।

सौख्यं यदत्र विजितेंद्रियशत्रुदर्पः प्राप्नोति पापरहितं विगतांतरायं।
स्वस्थं तदात्मकमनात्मधिया विलभ्यं किं तद् दुरंतविषयानलतप्तचित्तः ॥६४॥

इन्द्रियविजयी आत्मध्यानी पुरुषोंके आनन्दकी विषयव्यामोही द्वारा अलभ्यता— इस संसारमें इन्द्रियके घमंडको भी चूर कर देने वाले पुरुष होते हैं कभी और पापरहित अविनाशी इस आत्मीय आनन्दको भोगते हैं ऐसे भी होते हैं पुरुष। तो जिन्होंने इन्द्रियके व्यापारको चूर कर दिया और आत्मीय आनन्दका अनुभव किया उसमें जो आनन्द मिलता उसे क्या ये रात-दिन विषय अग्निसे संतप्त रहने वाले पुरुष पा सकते हैं? कभी नहीं पा सकते। जैसे अग्निको जब तक बुझा न दिया जाय तब तक अग्निकी गर्मी शान्त नहीं हो सकती ऐसे ही विषयोंकी गर्मी जिस अविवेकीमें आ गई वह पुरुष भी कभी शान्ति नहीं पा सकता। कभी-कभी लोगोंको ऐसा लगता है कि हमारे विषयोंकी अग्नि कम हो गई, जब तक सामने कोई घटना नहीं आती तब तक सभी अपनेको बहुत चतुर, धर्मात्मा सज्जन, ऊँचे मान लेते हैं। जैसे जब तक पर्वत निकट नहीं आता तब तक ऊँटको ऐसा ही लगता कि क्या है, यह पर्वत तो अभी जरासे कदमोंमें ही पार कर लेंगे, पर जब उसके निकट आता है तब उसे पता पड़ता है कि अरे यह तो बड़ा ऊँचा है, इसे आसानीसे कैसे पार किया जा सकता? तो ऐसे ही कभी जीवोंको ऐसा मालूम होता है कि मेरे विषयभाव कम है, पर कम समझना यों भूल है कि जैसे कभी अग्निके कुण्डमें जिसके चारों तरफ बैठकर तापते हैं ना, तो उसमें कभी अग्नि कम हो जाय, बुझनेसी लगे और उसपर अगर घास-फूस, लकडी, कंडा आदिक धर दिए जायें तो उसे अब बुझी हुई न समझिये। अब भी उसमें वह दाहशक्ति है कि ईंधन मिल जाय तो फिरसे बढ़ जाय, ऐसे ही कभी विषयोंके भाव कुछ कमसे हुए हों, विरक्ति सी लग रही हो तो भी उसका कुछ विश्वास नहीं है। घटना घटनेपर वह भाव उमड़ सकता है और फंदेमें भी पड़ सकता है। जिसने मोहको अन्दरसे बिल्कुल खतम कर दिया और आत्माका सहज स्वरूप स्पष्ट दृष्टिमें रहता है वह तो है विजीय पुरुष, वह तो इन्द्रिय विषयोंके

चक्करमें न आ पायगा और अगर मंद राग हो जाय तो उस तकका भी विश्वास नहीं। ये विषयसुख जीवको इतना परेशान करने वाले होते हैं।

नानाविधव्यसनधूलिविभूतिवातं, तत्त्वं विविक्तमवगम्य जिनेशिनोक्तं।
यः सेवते विषयसौख्यमसौ विमुच्य, हस्तेऽमृतं पिबति रौद्रविषं निहीनः ॥६५॥

व्यसनत्यागियोंका भी कर्मविपाकवश इन्द्रियज सुखोंमें ललचा जाना—जो लोग व्यसनकी धूलीको पवनके समान उड़ा देते हैं, जिनेन्द्रदेवके कहे हुए तत्त्वोंका अध्ययन करते हैं वे पुरुष भी इन्द्रियसुखोंमें फंस जाते हैं और वे विषयभोगोंमें ही रहते हैं। उनकी करनी यों समझिये कि वे उस प्रकारके मूर्ख हैं जो हाथमें आये हुए अमृतके प्यालेको छोड़कर प्राणनाशक विषके भरे प्यालेको पी लेते हैं। पाया था तत्त्वज्ञान, विरक्तिका दशा पायी फिर भी सन्मार्गको छोड़ा और इन्द्रियविषयोंमें रति की तो उनका किया कराया सब खराब हुआ और जैसे अनादिसे मलिन थे उस मार्गपर अब यह आ गया। अब अपनी-अपनी बात देखें। विषय भोगोंमें कौन कितना चित्त रखता है? अगर रखता है तो वह अपनी गलती समझे और फिर उन गल्तियोंको दूर करे। रात-दिन खाने-पीनेकी धुनमें कौन रहता है? होते हैं ऐसे मनुष्य कि वे सोते हुएमें नहीं खा पाते और बाकी जब तक जगते रहते तब तक उनके मुखमें कुछ न कुछ चलता रहता है और उनसे कुछ त्याग सम्बंधी बातें कही जायें तो वे डटकर कहते कि हमारा तो सोते समय तकके लिए त्याग है। कितनी चीजें हैं। अब क्या खाया, अब क्या पिया? अब किसी मनसे किस चीजको खा रहे, कभी पान, कभी बीड़ो, कभी चाय, कभी चाट पकौड़ो, कभी कोई मिठाई, कभी कोई फल, यों किसी न किसी चीजके खानेका मन चलता रहता है, ऐसे भी मनुष्य होते हैं, पर ऐसे मनुष्य क्या धर्मके पात्र हैं?

विषयासक्ति छोड़कर धर्माचरणमें आनेका अनुरोध—अपनी-अपनी सोचिये—जब चाहे खा लेना, चलते फिरते खाना, ये तो मूर्खताके चिन्ह हैं। कवि लोग कहते हैं कि जो हँसता हुआ बात करे, खाता-पीता हुआ चले और दो के बीच होने वाली बातको खड़ा होकर सुनने लगे, तो वह तो मूर्खोंकी गिनतीमें कहलाता। तो विषयोंकी धुन रहना, यह इस जीवके लिए बड़ा घातक काम है। अब कोई कहे कि हमको फुरसत ही नहीं मिल पाती कि दो तीन बार या अनेक बार खा पी सकें, इतना हमारे सामने काम रहता है। सुबह चाय नाश्ता लेकर जल्दी ही कामपर निकल गए और करीब ३-४ बजे जब कामसे छूटे तब खाना खाया, हमारा संयम क्या किसी त्यागीसे कम है, ऐसा कोई सोच सकता, पर बताओ उसने संयम धारण कर लिया है क्या? अरे उसके विषयमें अनेक प्रकारके अन्य विषय बढ़ गए। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारों कषाय इस जीवको दुःखकारी हैं। अगर किसी समय तृष्णा चित्त

में है तो उस कालमें धर्मकी बात नहीं समा पाती । सो धर्मके कार्य करते हैं अनेक लोग, पर गृहस्थ दशामें बताया है कि हस्तिस्नानकी तरह है । जैसे हाथीने स्नान किया और तालाबसे बाहर जाकर सूँडमें धूल भर-भरकर अपने शरीरको फिर धूलसे खराब कर देता है ऐसे ही यहाँ लोग थोड़ासा धर्मसभामें या मंदिरमें धर्म करनेके बहाने आ-आकर बैठते, इतने समय तो परिणामोंमें बहुत कुछ फर्क हो जाता है, पर ज्यों ही वहाँसे बाहर निकले तो परिणाम फिर ज्योंके त्यों मलिन बन जाते हैं । अरे धर्मस्थान, मंदिर धर्मसभा आदि इन्हें तो धर्म सीखनेकी पाठशाला समझिये, वह तो धर्म सीखनेको जगह है, प्रयोग करनेकी जगह तो बाकी सब जगह हैं । चाहे दुकानमें बैठे हों, चाहे किसीसे कुछ वार्ता कर रहे हों, चाहे सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक किसी क्षेत्रमें काम कर रहे हों वहाँ उस सीखी हुई धर्मक्रियाका प्रयोग करना है । तो धर्मस्थानमें पहुंचकर जो तत्त्वज्ञान सीखा है वह दृष्टि बनाइये, जिसको सदैव अपने सत्यस्वरूपकी प्रतीति रहती है, मैं तो देहसे भी निराला केवल ज्ञानप्रकाश मात्र हूं, अन्य कुछ नहीं । इस मेरेका जगतमें परमाणुमात्र भी नहीं, ऐसी प्रतीति रखने वाला पुरुष मौलिक धर्मात्मा कहलाता है ।

विषयव्यामोहियोंका दुराग्रह—देखिये—गल्तीकी बात रोज-रोज कही जाती है उपदेशमें, जो भी व्याख्याता आयगा सो यही कहेगा कि मोह छोड़ो, मोह करना बुरा है····यह ही बात कहेगा और कहना भी चाहिए, पर आप सोच सकते कि जो भी यहाँ आता वह मोह छोड़नेकी ही बात कहता, पर कैसे मोह छोड़ा जा सकता ? ये तो सब कहने भरकी बातें हैं, ठीक है, ये जो कुछ कहते सो सुन लें, बादमें एक कानसे सुना और दूसरे कानसे निकाल दिया, क्या फर्क पड़ता, तो ऐसे भी लोग होते जो धर्मको बातें सुननेके आदी बन जाते, बीसों वर्ष धर्मकी बातें सुनते, यहाँ तक कि सारी उम्र धर्मकी बातें सुनते, पर अपने चित्तमें धर्मधारण नहीं कर पाते । इस प्रसंगमें एक दृष्टान्त है कि कहीं कोई धर्मसभा लगी हुई थी, रोज-रोज वहाँपर एक पंडितजी व्याख्यान दिया करते थे । तो उस धर्मसभामें अनेक लोग पहुंच रहे थे । उधरसे निकला कोई घुड़सवार । उसने लोगोंसे पूछा—आप लोग कहाँ जा रहे ? तो बताया कि धर्मसभामें व्याख्यान सुनने जा रहे । अब घुड़सवारने भी वहीं पासमें घोड़ा बांध दिया और व्याख्यान सुनने चला गया । वहाँ कोई वैराग्योत्पादक प्रकरण उस समय चल रहा था, तो उस प्रवचनको सुनते ही उस घुड़सवारको वैराग्य जगा और सब कुछ छोड़ छाड़कर जंगल चला गया, मुनि हो गया । खैर उसको मुनि हुए धीरे-धीरे कुछ वर्ष बीत गए और उधर वह धर्मसभा ज्योंकी त्यों प्रतिदिन चलती रही । एक बार वह मुनि उसी मार्गसे फिर निकला जहाँ कि वह धर्मसभा होती थी । देखा कि अनेक लोग उस धर्मसभामें पहुंच रहे

हैं, तो उनसे पूछ बैठा वह मुनि कि भाई आप लोग कहाँ जा रहे हो ? तो बताया कि हम लोग धर्मसभामें व्याख्यान सुनने जा रहे। फिर मुनिने पूछा कि तुम लोग कितने दिनोंसे धर्मके व्याख्यान सुनने जा रहे ? तो किसीने बताया १० वर्षसे, किसीने बताया २० वर्षसे, किसीने बताया ४० वर्षसे। तो वह आश्चर्यमें आकर बोला—धन्य है आप लोगोंको। आप लोग बहुत मजबूत हो।....कैसे ?...अरे मैं तो सिर्फ एक ही दिन कुछ देरके लिए इस धर्मसभामें व्याख्यान सुनने बैठा था तो पंडितजी की चपेटको न सह सका और सब कुछ छोड़ छाड़कर मुनि बन गया था, पर आप लोगोंको धन्य है जो बहुत वर्षोंसे पंडितजी की चपेटें सहते आ रहे, पर ज्योंके त्यों बने हैं। तो धन्य तो आप लोग हैं। देखिये—अब अपनी गल्तियोंका शोधन करें, यह बात दृष्टिमें रहनी चाहिये, चाहे इसमें कुछ समय लगे तो लगे, पर जगत्में मुझे कुछ न चाहिए मैं तो अपने आत्मस्वरूपमें मग्न हो सकूँ, उस ही का निरन्तर अभ्यास बनाना चाहिये।

दासत्वमेति वितनोति विहीनसेवां, धर्मं धुनाति विदधाति विनिंद्यकर्म।
रेफश्चिनोति कुरुतेऽतिविरूपवेषं, किं वा हृषीकवशतस्तनुते न मर्त्यः ॥९६॥

विषयासक्तिवश प्राणियों द्वारा हीनसेवा व धर्मविध्वंस—यह मनुष्य इन्द्रियोंके वश होकर न जाने क्या क्या विरूप कार्य नहीं कर डालता। इन्द्रियवश होकर ही हीन कुल वालों का दासपना स्वीकार करता है और उनकी सेवा करता है। जिसको अपने चिदानन्दघन सहज आत्मस्वरूप की सुध नहीं है, ज्ञान और सुखकी प्रकृतिके कारण कहीं न कहीं तो ज्ञान और सुख ढूंढ़ेगा, क्योंकि यह जीवकी प्रकृति है। न ज्ञान बिना रह सके न सुख बिना रह सके। यह चाहता है सुख तब अपने आपमें विशुद्ध ज्ञानप्रकाश न मिल सकेगा। और अलौकिक आनन्दकी दिशा न मिल सकेगी तब यह बाहरी विषयोंका ज्ञान और विषयोंके सुखोंमें मग्न होने लगता है। जीव पर यह बहुत बड़ी विपदा है। मोही जीव इस विपदाको नहीं देखता। कभी धर्म भी करेगा तो कुल रूढ़िवश कर लेगा। पाठ भी करेगा, धार्मिक समारोह भी करेगा, धर्मके नामपर सब काम कर लेगा, पर यह बात न तकेंगे कि मेरा अन्य पदार्थोंमें मोह कुछ कम हुआ कि नहीं। यथार्थ ज्ञान प्रकाश मेरेको मिला कि नहीं। यह तो न निरीक्षण करेंगे और बाहरी क्रियाकाण्ड ये सब करते रहेंगे। वे भी करें, मगर अपने आपकी निगरानी न हो, अपने आपमें यदि न निरखा जाय कि मेरेमें कितना मोह कम हुआ, कितनी कषायें कम हुईं तो फिर समझिये कि अभी तक हमने कुछ धर्म नहीं किया, किन्तु धर्मके नामपर अन्य अन्य कुछ किया, इतना तो निर्णय बनेगा। दिशा तो सही मिलेगी। सो यह जीवइन्द्रिय विषयोंके वश है, इस कारण वास्तविक जो धर्म है उसको दूर कर देते हैं।

विषयसेवन व धर्मपालनमें परस्पर विरोध—विषयसेवन और धर्मपालन ये दो तो बिल्कुल प्रतिपक्षी काम हैं परस्परमें। जो विषयोंकी सेवामें लगा है उसको धर्मपालन कहाँ है ? धर्मपालन है अपना सहज आत्मस्वरूप अपने ही सत्त्वके कारण अपने ही स्वरूपमें दृष्टि होना। जिसमें धर्मपालन है उसके विषयसेवन नहीं। तो इन्द्रियके विषयोंके वश हुआ यह जीव नाना निंद्य कार्योंको यदि करता है, कोई उपाय बनाना, विषयभोग चाहना, स्वाद चाहना, अच्छे रूपके निरखनेका निरन्तर बर्ताव चाहना, रागरागनी चाहना। दुनियामें नाम बढ़े, ये सब बातें जिसको चाहिये हैं वह इनकी पूर्तिके लिए न जाने क्या-क्या निंद्य कार्य नहीं कर डालता। यह इन्द्रियवशी जीव नाना विरूप भावोंको धारण कर-करके अपना जीवन व्यर्थ खोता रहता है, अपने स्वरूपकी सुध होती तो यह भगवानसे भी वार्ता कर डालता। ज्ञानी पुरुषके जब कभी अपने आपकी वर्तमान स्थितिपर घृणा होती है तो वह प्रभुसे बचनालाप कर बैठता है। प्रभु हमें भी वहीं ले लो। मैं अब इस संसारमें नहीं रहना चाहता। यहाँ कौनसी वस्तु है जिसे ग्रहण किया जाय ? कौनसा क्षेत्र है जहाँ इसका ठिकाना ठीक हो ? सब मायारूप हैं। भिन्न हैं, पर हैं, ठिकानेका तो कुछ साधन है ही नहीं यहाँ। एकत्वविभक्त अर्थात् ज्ञानमात्र परभावशून्य, ऐसी अपने अंतस्तत्त्वकी दृष्टि बने तो वह तो काम देगा और उसे छोड़कर जितनी भी बातें की जा रही हैं ये सब उल्टे काम करेंगी। कहाँ भूले, कहाँ भटक गए। अपने आपके धर्मकी ओर आना चाहिए। यदि यह बात बन गई तो समझो कि महान् है वह पुरुष, और यदि यह दृष्टि नहीं जगती तो फिर दुनियाका महान् बननेसे क्या लाभ मिलेगा ?

अब्धिर्न तृप्यति यथा सरितां सहस्त्रैर्नो चेंधनैरिव शिखीबहुधोपनीतैः।
जीवः समस्तविषयैरपि तद्वदेव, संचित्य चारुधिषणस्त्वजतींद्रियार्थान् ॥९७॥

विषयभोगोंसे तृप्तिकी असंभवता—इन्द्रियके भोग भोगनेसे, विषयसाधनोंके उपभोग से यह जीव कभी तृप्त हुआ क्या ? जब उपयोग परपदार्थोंकी ओर बना हुआ है और उस ही में अपना हित समझ रहे हैं तो वहाँ तृप्ति पानेका अवसर ही कहाँ है ? जैसे कभी समुद्र नदियोंके द्वारा तृप्त नहीं होता, कितनी ही नदियाँ आ-आकर समुद्रमें गिर जायें, फिर भी समुद्र कभी तृप्त नहीं होता। ऐसे ही नाना विषयसाधनोंके जुटानेपर यह जीव कभी तृप्त नहीं होता। एक मोटीसी बात समझ लो—जो समागम आज मिले हैं बताओ ये छूटेंगे कि नहीं ? अरे अवश्य छूटेंगे, और देख लो औरोंके भी छूट रहे हैं या नहीं ? अपने ही देख लो, पूर्वभवमें जो समागम पाये थे वह सब छूट गए कि नहीं। पहले भवका कुछ आज यहाँ थोड़ा बहुत सुख मिल रहा क्या ? कुछ भी नहीं मिल रहा, और उनकी कुछ आज खबर भी नहीं।

अब यह बताओ कि आजके प्राप्त समागममें आगे भी कुछ सुख मिलेगा क्या ? अरे रंच भी सुख इनसे न मिलेगा। तो थोड़ी देरको मिले हुए इन भोग साधनोंसे जो अपनेको जुदा नहीं रख पाते उनको भव-भवमें जन्म मरण करना पड़ता है। सो अपना महत्त्व आंकिये और अपने आपके अन्दर सोचिये कि मुझ आत्माका वास्तविक स्वरूप क्या है, करना क्या है और कर क्या रहा हूं, पर किसीके कुछ थोड़ी समझ भी आये, पर संस्कार ऐसे लगे हैं कि छोड़ ही नहीं पाते। तो यह भी उनपर बड़ी विपत्ति है अथवा आग्रह है, हठ है खोटी बातोंका। अपराधी है यह जीव। एक बार किसानोंकी पंचायतमें कोई सवाल आया, साधारणसी कोई बात थी कि ३० + ३० कितने होते हैं ? तो उन सबका मुखिया बोला कि ३० + ३० = ८० होते हैं। सभीने कहा कि आप गलत हिसाब लगा रहे हैं। ३० और ३० मिलकर तो ६० होते हैं। तो फिर मुखिया बोला—नहीं नहीं, ६० नहीं होते, ८० ही होते हैं, और यदि मेरी बात गलत निकल जाय तो मैं पंचोंको अपनी सातों भैंसें दे दूंगा। अब यह बात सुन ली मुखियाकी स्त्रीने कि मुखिया साहबने इस तरहसे पंचोंके बीच बोल दिया है सो यह सोचकर बड़ी दुःखी हुई कि अब तो हमारी सातों भैंसें पंचोंको देनी पड़ेंगी। सो जब मुखिया घर पहुंचा और अपनी स्त्रीसे उदासीका कारण पूछा तो स्त्री बोली—आपने पंचोंके बीच बोल दिया है कि ३० और ३० मिलकर ८० होते हैं, ६० नहीं; और यदि ८० न हों तो हम सातों भैंसें पंचोंको दे देंगे, सो अब इस बातका हमें दुःख है कि हमारी सातों भैंसें पंच लोग पा जायेंगे। अब हम लोग न जाने किस तरहसे अपना गुजारा करेंगे। इस बातका दुःख है। तो वह मुखिया बोला—अरी तू तो बड़ी बावली है। यदि मैं अपने मुखसे कह दूं कि ३० और ३० मिलकर ६० होते हैं तभी तो पंच लोग भैंसें ले पायेंगे, पर मैं तो यह बात कभी बोल ही नहीं सकता। मैं तो हमेशा यही कहूंगा कि ३० और ३० मिलकर ८० होते हैं। अब देखिये—इस बातको सुनकर मुखियाकी मूर्खता पर आप सब हंस पड़े, पर अपनी मूर्खतापर कुछ ध्यान नहीं दे रहे। आप लोग भी तो बाह्य पदार्थोंके प्रति झूठी हठ बनाये हैं कि ये तो मेरे ही हैं और मैं इनका ही हूं। सम्बंध है रंच भी नहीं, फिर भी हठ यही बनाये हैं कि ये तो मेरे ही हैं। ज्ञानी जन समझायें तो भी नहीं मानते और यही हठ बनाये रहते कि ये तो मेरे ही हैं।

मोहका हटना व कषायोंका मंद होना धर्मधारणकी पहिचान—धर्मके नामपर कितने ही काम करते, पर इस बातपर कभी विचार नहीं करते कि मेरे मोह और विषय कषायोंमें कुछ फर्क पड़ा कि नहीं। मोह तो ज्योंका त्यों बनाये हैं विषय कषायोंके प्रसंग ज्योंके त्यों चल रहे, धर्म भी करते जा रहे, पर यह विचार कभी नहीं करते कि मेरे रागद्वेष मोहादिक

विकारोंमें कुछ कमी आयी कि नहीं। हठ ज्योंकी त्यों बनी है कि ये दिखने वाले प्राप्त समागम ये सब मेरे ही हैं। तो बताओ यह मूर्खता भरी बात है कि नहीं? सम्बंध कुछ नहीं, फिर भी अपना मान रहे। तो इस हठका परिणाम कौन भोगने आयगा सो तो विचारो। यहां तो धनके हानि-लाभका लेखा-जोखा रखते कि सालमें इतना नफा हुआ और इतना नुक्सान हुआ, पर अपनी रोज-रोजकी करनीका कुछ लेखा-जोखा नहीं रखते कि मैं कितना तो पुण्य कार्य करता हूं और कितने पापकार्य करता हूं। देखिये—अपनी प्रतिदिनकी करनीका लेखा-जोखा रखना बहुत आवश्यक है। इन विषयभोगके प्रसंगोंमें ये सब संसारी प्राणी रम रहे और अपने जीवनके अमूल्य क्षण व्यर्थ खो रहे, पर एक बात ध्यानमें रहे कि इन विषयभोगके प्रसंगोंमें रहकर कभी तृप्त न हो सकेंगे। सारा जीवन इन विषयभोगके प्रसंगोंमें रह-रहकर बीत जायगा, पर उनसे तृप्त कभी न हो सकंगे। यहां तक वृद्धावस्था आनेपर सारी इन्द्रियां शिथिल हो जायेंगी, यह भोग न भोग सकेगा, फिर भी मन ही मन कुढ़ता रहेगा। जैसे कोई रोगी किसी असाध्य रोग हो जानेसे वह कुछ खा पी भी नहीं सकता, डाक्टरोंने खाने पीनेको मनाही कर दी है और वह देख रहा कि घरके सभी लोग अनेक बार खूब अच्छा अच्छा खाते-पीते हैं तो वह रोगी उन्हें खाता-पीता देख-देखकर मन ही मन कुढ़ता रहता है—हाय मैं क्यों न कुछ खा पी सकता, ठीक ऐसी ही दशा वृद्धावस्थामें होती। इन्द्रियां सब शिथिल हो जातीं, भोग भोग नहीं सकते, फिर भी मन ही मन कुढ़ते रहते कि हाय मैं क्यों ये भोग न भोग सका? तो इन इन्द्रिय विषयोंकी लालसा बनाये रहनेसे उनके पीछे निरन्तर हैरान होते रहनेसे तृप्ति कभी न मिलेगी, इसलिए इन इन्द्रिय विषयोंका तो परित्याग कर ही देना चाहिये। विवेकी जन तो इन इन्द्रियविषयोंको इस प्रकारसे असार जानकर त्याग देते हैं जैसे कि यहां प्रायः सभी लोग नाक छिड़ककर दूर फेंक देते हैं। नाक छिड़ककर फेंकनेके बाद जैसे उसे कोई दुबारा देखता नहीं, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष इन इन्द्रिय-विषयोंको त्यागकर फिर उन्हें दुबारा नहीं देखते। तो इन सब बातोंके लिए चाहिए अपने सहज ज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपकी निरंतर उपासना करना। बाहरमें कहीं कोई शरण नहीं। शरण है तो अपने आत्मदेवकी आराधना। इसमें विकारका काम नहीं। कष्ट और विकार आते हैं तो यह सब कर्मकी छाया है। जैसे दर्पण स्वच्छ है अपने स्वभावसे, पर उस पर बाह्य पदार्थका निमित्त पाकर छायारूप परिणमन हो जाता है, वह छाया दर्पणकी निजी चीज नहीं है, ऐसे ही ये विकार मेरे स्वभावकी चीज नहीं, यह सब कर्मकी छाया है, माया है। यदि यह बात ज्ञानमें रहेगी तो फिर इन बाहरी चीजोंके प्रति आसक्ति न रहेगी और यदि परभावोंको निजभाव मान लेंगे तो आसक्ति बनी रहेगी।

आपातमात्ररमणीयमतृप्तिहेतुं, किंपाकपाकफलतुल्यमथो विपाके ।
नो शाश्वतं प्रचुरदोषकरं विदित्वा, पंचेन्द्रियार्थसुखमर्थविदस्त्यजंति ।।९८।।

विषभोगोंकी वर्तमानमात्र रमणीयता एवं भविष्यमें कटुकष्टप्रदता—ये विषय वर्तमानमें बड़े रमणीक लग रहे हैं, पर ये अतृप्तिके कारण हैं और इनका भावी परिणाम बहुत विपत्तियोंसे भरा मिलेगा । जब जीवका स्वभाव ही नहीं है, स्वरूप ही नहीं है परपदार्थोंकी आशा, तृष्णा, आसक्ति आदिक करनेका फिर भी कोई अपने स्वरूपके प्रतिकूल चले तो उसे तो दुःखी होना पड़ेगा ही । वहाँ दुःखी होने कोई दूसरा न आयगा । अपने धामको छोड़कर परधाममें अधिकार समझने वाला दुःखी तो रहेगा ही । मेरा धाम मेरे प्रदेशों में है । मेरा सर्वस्व मुझ आत्मामें है । जो मेरा है वह कभी मेरेसे छूट नहीं सकता, और जो छूट जाता है वह मेरा था ही नहीं । जैसा हो वैसा ही अपने आपको निरखने वाले संत अपने आपमें तृप्ति पाते हैं अलौकिक आनन्द पाते हैं । जब ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान हो हो की स्थिति बनती है तो नियमसे अलौकिक परम आल्हादका अनुभव चलता है । उस आनन्दको चाहनेको इच्छासे ज्ञानीने आत्मध्यान नहीं बनाया, किन्तु स्वभाव ही है ऐसा कि जैसा है वैसा अपनेको माने तो उसमें यह आल्हाद आयगा अपने आप । तो यह अलौकिक आत्मीय आनन्द जिसे नहीं मिला, वह केवल वर्तमानके रमणीक विषयोंकी ही प्रीति रखता है ।

ज्ञानसाधनोंमें सहयोग व समर्थनका उज्ज्वल परिणाम—एक बात यह समझ लीजिए कि ज्ञान जगता है ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे । नहीं क्षयोपशम मिला है तो बस ज्ञान कुन्द है, आवृत है, पर ज्ञानावरणका क्षयोपशम कौन करने आयगा ? उपादान दृष्टिकी बात तो ठीक है, कर्मोंमें कर्मकी दशा कर्मकी परिणतिसे होगी, मगर उसमें निमित्त है अपना सद्भाव । ज्ञानवंतोंको देखकर रुचि होना, हर्ष होना यह ज्ञानावरणके क्षयोपशमका कारण है । ज्ञानके साधनोंमें उमंग होना, ज्ञानके प्रसारमें, ज्ञानके विकासमें अपना सर्वस्व भी लगे, ऐसा जिसका भाव रहता है वहां ज्ञानावरणका क्षयोपशम होना पड़ता है । यह सब निमित्तनैमित्तिक भाव व्यवस्था है । तो जिसे इच्छा है कि मुझे केवलज्ञान प्राप्त हो, अरहंतसिद्ध अवस्था प्राप्त हो तो वह ज्ञानका बोज है । मूल बीज, प्रारम्भिक उपाय यह है कि ज्ञानके साधनोंमें रुचि बनाइये और उसे सर्वोपरि मानिये धर्मके कार्योंमें । यदि ऐसी दृष्टि बनेगी तो क्षयोपशम मिलेगा और न ऐसी दृष्टि बनेगी तो जैसे हैं वैसे रहे जाइये । प्रगति न हो पायगी । तत्त्वज्ञान होगा तो इन इन्द्रियविषयोंपर विजय प्राप्त होगी, जबरदस्ती करके विजय न प्राप्त होगी । आज व्रत किया है, इन इन्द्रियोंके विषयोंका परिहार किया है । अरे विषयरहित ज्ञाता मात्र अंतस्तत्त्वकी तो दृष्टि नहीं है, अब विषयपरिहार कैसे कहलायेगा ? विषयोंके साधन छोड़ें,

इस प्रकारका जो विकल्प है और इस प्रकारकी जो परिस्थिति और व्यवहार है उसमें वह विषय बन गया। अपने मूल स्वरूपकी सुध हुए बिना धर्मका प्रारम्भ भी नहीं होता।

ज्ञानमात्र निजके अनुभवका आनन्द पानेके लिये परभावव्यामोहके परिहारकी अनिवार्यता—गजबकी बात तो यह है कि है तो ज्ञानस्वरूप और इस ही का ज्ञान नहीं हो पाता। जैसे तालाबमें ही तो मच्छ रह रहा और वह प्यासा बना है तो यह तो एक गजबकी बात ऐसे ही ज्ञानस्वरूप होकर भी यह जीव ज्ञान न कर सके यह भी गजबकी बात है। यहाँ तो सब घट रही हैं बातें ज्ञानस्वरूप होकर भी अपने ज्ञानस्वरूपका ज्ञान नहीं चल रहा। और जिनका चल रहा है उनको आवश्यक है कि ऐसी दृष्टि निरन्तर रहे। तो इन सबसे दृष्टि हटा लेने वाला तो यह वातावरण है विषयभोगोंका। ये वर्तमानमें तो रमणीक लग रहे हैं, मगर इन्द्रायण फलके समान इनका विपाक बुरा है। कोई इन्द्रायण फल होता है जो कि देखनेमें बड़ा सुन्दर चिकना होता और खानेमें भी मधुर होता, पर वह है विषफल। उसको खानेके बाद प्राण नष्ट हो जाते हैं, ऐसे ही यह पञ्चेन्द्रियके विषयोंकी प्रवृत्ति वर्तमान कालमें तो बड़ी सुहावनी लग रही है, मगर इसका परिणाम केवल कष्टकारी है। किसी भी दूसरे पदार्थ का संयोग इस जीवके लिए अहित है। अकेला ही रहे, अकेलेमें ही मग्न रहे, अकेलेका ही उपयोग रहे, बस वही एक पवित्रताकी स्थिति है। शुद्ध होनेके मायने है अकेला रह जाना। न शरीर रहे, न कर्म रहे, न विकार रहें। तो ऐसा अकेला रह जानेकी स्थिति तो सभी चाह रहे हैं वचनोंसे और अन्दरसे अपनेको अकेला निरखनेका उपाय नहीं किया जा रहा। यहाँ जो संयोग देखा जा रहा है उस ही में सुख माना जा रहा है कभी भी यह सिद्ध अवस्था (शुद्ध दशा) न प्राप्त कर सका। अकेला रह जानेके इच्छुक लोग वर्तमानमें अपने सत्त्व मात्र अपने आपको अकेला निहारें। यदि यहाँ अपने आपको अकेला निहार सके तो बस इस ही अकेले ज्ञानमात्र परभावशून्य ज्ञानघन अंतस्तत्त्वकी उपासनाके प्रसादसे वे निकट कालमें ही सिद्ध अवस्था पा लेंगे। इसके लिए इस वर्तमान संयोगसे दृष्टि हटाकर अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपमें अपने आपको अनुभवना होगा। ज्ञानी जन यही काम करते हैं। संसारके इन दृश्यमान विनाशीक विषयभोगके समागमोंको अहितकारी जानकर उनका त्याग कर देते हैं।

विद्या दया द्युतिरनुद्धतता तितिक्षा, सत्यं तपो नियमनं विनयो विवेकः।
सर्वे भवंति विषयेषु रतस्य मोघा, मत्वेति चारुमतिरेतिन तद्वशित्वं ॥६६॥

विषय वशंगत मनुष्योंके विद्या दया द्युति विनय धैर्य सत्यकी व्यर्थता व अनुद्भूति—जो इन्द्रियके विषयोंके वशमें है उसके कोई गुण नहीं रह पाते। विषयोंकी प्रीतिमें है पराकर्षण। जिसका आकर्षण परकी ओर लगा है उसके खुदमें गुण नहीं रह पाते। जैसे

विद्या—जो विषय लम्पटी है उसके विद्या नहीं ठहरती। विद्याका अर्जन नहीं हो पाता। पायी हुई विद्याका भी विस्मरण हो जाता। इन्द्रियके वश होनेपर कितना नुकसान होता है कि उसमें ज्ञान बुद्धि विवेक नहीं ठहरता। इन्द्रियविषय लम्पटीके दया कहाँ रहेगी, क्योंकि उसे विषयोंका अनुराग है, उस ओर ही दृष्टि है और उस धुनमें जीवहिंसा बचनेका उपयोग नहीं रहता और तत्काल भी जीवहिंसा होती रहती है। तो जो इन्द्रियके विषयोंका भोगी है, आसक्त है उसके दया भी नहीं ठहरती। कान्ति और विनय तेज और सहनशीलता ये भी उसके पास नहीं रहते। जिसके जितना आत्मबल है, आत्मस्वभावकी दृष्टिकी प्रखरता है उसके अन्दर तेज रहता है। शरीरसे चाहे दुर्बल भी हो, रोगी भी हो, पर आत्मतेज रहता है उसके जो विषयोंसे विरक्त पुरुष है। सहनशीलता भी उसके होती है। लोग तो जरा जरासी बातों में धैर्य खो देते हैं। उनके ५ इन्द्रिय और मन, इन दो विषयोंमें से किसी विषयमें आसक्ति है जिसके कारण धैर्य खो देते हैं। फिर वहाँ सहनशीलता नहीं रहती। कोई मनके विरुद्ध घटना घट जाय तो वे सहन नहीं कर पाते। चाहे उससे भी कठिन घटना अपनी किसी वस्तु के अनुरागके कारण आती जाय, उन घटनावोंको तो सहन कर लेते हैं, पर मनके विरुद्ध कोई बात चले तो इस घटनाको सहन नहीं करते। चाहे अन्य घटनासे छोटी घटना है, न कुछ जैसी घटना है, पर सहनशील नहीं रह पाते, क्योंकि वे विषयोंके आधीन हैं। मनका विषय तो इन्द्रियविषयोंसे भी कठिन है। विषय—लम्पटी पुरुषके सत्यताका भी निवास नहीं रहता। विषयानुराग है ना और मेरे विषय न मिटें इस लोभसे वह कुछसे भी कुछ कह सकता है और असत्य वचन भी निकल सकते हैं।

विषयवशंगत मनुष्योंकी संकटपात्रता—विषयोंके जो वश हैं वे जगतमें रुलने वाले जीवोंकी गिनतीमें है। एक भजनमें बोलते है ना—हम तो हैं उन चरणोंके दास जिन्होंने मन मार लिया। जिन्होंने मन मारा उन्होंने सभी इन्द्रियविषयोंको ठोकर दी। उनके भक्त होते हैं विवेकी लोग। तो जो विषयोंके वश हैं उनके सत्य नहीं रहता, तपश्चरण भी नहीं रहता। पुराणोंमें, अन्य दर्शनके पुराणोंमें प्राय: ऐसी घटनायें पायी जाती हैं कि कोई तपस्वी पुरुष है, महंत है, लोक पूजित है और कभी विषयोंका अनुरागी बन गया और उसके कोई कुचेष्टा होने लगी, ऐसी घटनायें मिलती हैं, पर अन्य श्रद्धालु उन घटनाओंको भी प्रशंसाके रूपमें उपस्थित करने लगते हैं। करें उपस्थित महत्ताके रूपमें यह तो उनकी कल्पना है, पर वास्तवमें तो वे स्वरूपसे डिग गए। जो इन्द्रियके विषयोंके वशमें हैं वे तपश्चरणसे भी गिर जाते। नियम और विनय ये दो बातें उसके चित्तमें नहीं ठहर सकतीं। गुरुजन हों, बड़े पुरुष हों, सामने हों तो भी जो विषयोंके वश हैं उनके चित्तमें उनके प्रति आदर विनयका भाव नहीं रह पाता

क्योंकि उसका चित्त ही ठिकाने नहीं है, विषयवृद्धि वाले पुरुषोंके विवेक नहीं ठहरता। विवेक कहते हैं हित करना और अहितसे दूर होना। ज्ञानीजन जानते हैं कि इन्द्रिय विषयोंके अनुरागके कितने दुर्गुण हैं और इसी कारण ज्ञानी पुरुष विषयोंके वश नहीं होते। जो विषयोंके वशीभूत हैं उनको अच्छी बात नहीं रुचती। विषयप्रसंगकी ही बात धुनमें रहनी और उसीमें ही अपनी महिमा समझते।

विषयासक्त पुरुषोंकी वैराग्य ज्ञानसुगन्धको छोड़कर विषयदुर्गन्धमें रुचि—कोई दो सहेलियाँ थीं—एक थी ढीमरकी लड़की और एक थी मालिनकी लड़की। दोनोंका अलग-अलग जगह विवाह हो गया। मालिनकी लड़की तो एक शहरमें ब्याही गई और ढीमरकी लड़की एक गाँवमें ब्याही गई। ढीमरकी लड़की तो मछली बेचनेका काम करे और मालीकी लड़की फूल तोड़ने, माला बनाने, सेज सजाने आदिके काम करे। एक बार ढीमरकी लड़की उस नगरमें मछलियाँ बेचने पहुंच गई जहाँ उसकी वह सहेली रहती थी। सारी मछलियाँ बेच चुकनेके बाद शाम हो गई, सो इस विचारसे वह ढीमरकी लड़की अपनी सहेलीके यहाँ पहुंची कि रात्रिको उसके यहाँ रहकर सवेरा होते ही अपने गाँव चली जायेगी। मालीकी लड़की अपनी पुरानी सहेलीको पाकर अत्यन्त हर्षित हुई, उसका बड़ा सत्कार किया, खूब खिलाया-पिलाया और सेज बहुत बढ़िया बिछाया सोनेके लिए। बहुत दिनोंमें मिली थी ना सहेली, सो अच्छा गद्देदार पलंग बिछाया और उसपर गुलाब, चमेली आदिक फूलोंकी पंखुड़ियाँ बिछा दीं। अब उसे सुला दिया, पर उस ढीमरकी लड़कीको नींद न आये। मालिनकी लड़कीने पूछा—तुम्हें नींद क्यों नहीं आती? तो ढीमरकी लड़की बोली—अरे तुमने यह क्या कर दिया, यहाँ फूलोंकी दुर्गन्ध ऐसी फैल गई कि उसकी वजहसे नींद नहीं आती। ....अरे दुर्गन्ध कैसे? फूल तो राजा महाराजावोंकी शय्यापर बिछा करते हैं।....बिछा करते होंगे, हमें तो उनकी बदबूके मारे नींद नहीं आती।...अच्छा तो ये सब फूल उठाकर अलग किए देती हूं। कर दिये सब फूल अलग, फिर भी नींद न आये, सो पूछा—अब क्यों नींद नहीं आती?...अरे फूलोंकी दुर्गन्ध तो इन गद्दों बिछोनों तकमें सब जगह भर गई है इन्हें हटा दो। हटा दिये मालीकी लड़कीने गद्दे बिछौने वगैरा फिर भी नींद न आये। तो फिर पूछा—कहो सहेली, अब क्यों नींद नहीं आती? क्या उपाय करें जिससे तुम्हें नींद आ जाय? तो ढीमरकी लड़की बोली—देखो जो हमारा मछलीका टोकना रखा है इस पर पानी के कुछ छींटे मार दो और उसे उठाकर हमारे सिरहाने रख दो तब नींद आयगी। आखिर वैसा ही किया तब उसे नींद आयी। तो ऐसे ही समझ लो कि जो विषयोंके वश होते हैं उनको विषयसाधन मिलें तो वे तत्काल कुछ मौजसा अनुभव करते हैं और प्रसंग मिल जाय

कोई ज्ञानका, ध्यानका, गुणानुवादका, ज्ञानचर्चाका तो उन्हें वह न सुहायेगा । और सुन लेवें कि प्रोग्राम है कुछ ज्ञानचर्चाका तो दूरसे ही उठ जायेंगे । यह इन्द्रियविषयोंके वशमें हुए पुरुषोंकी हालत है, क्योंकि उनका दिमाग पलट गया । खाने-पीनेके प्रसंग, स्त्रीप्रसंग, सिनेमा आदिक देखना, रंग रंगीली बातें सुनना, इनमें ही मन बहलता है इन मनुष्योंका । तो जो इन्द्रियविषयोंके वश हैं उनमें कोई गुण नहीं ठहरते ।

विषयवशित्व अवगुण मिटानेका उपाय—अब यह निरखें कि है तो यह बड़ा अवगुण विषयोंके वश होना, पर यह अवगुण मिटे कैसे ? उसका उपाय तो होगा कुछ । तो उपाय हैं दो तरहके—एक तो दवा जैसा और एक औषधि जैसा । दवा वह कहलाती है जो रोगको दबा दे और औषधि वह कहलाती जो रोगको जड़से मिटा दे । तो ऐसे ही समझो—जब किन्हीं धार्मिक कार्योंमें लग गए, कुछ भले काम करने लगे, धर्मसभामें बैठ गए या मंदिर में ही जाप करने बैठ गए तो यह तो है दवा । विषय वहाँ दब गया, मगर दवा कर-करके हैरान हो जाते हैं, वह विषय भावना फिर उछल जाती । और यदि औषधि हो जाय तो वह विषय भावना फिर न उठे । तो औषधि क्या है कि विषय विकार मलिनता आदिक कहाँ हैं मेरे स्वभावमें ? उस स्वभावका परिचय करे कोई और ऐसे स्वभावरूप मेरी सत्ता है, मैं तो यह हूं, और जो हो रहा है यह तो नैमित्तिक है, औपाधिक है, कर्मछाया परभाव है । तो जैसा अपना सहज स्वरूप है उस रूपमें अपनी स्वीकारता रहे और ऐसी ही दृष्टि बनाये रहने का प्रसंग बने तो यह है विषयोंके विजयकी औषधि । कोई इस ही स्वभावका निराकरण करके माने कि मैं तो ऐसा ही हूँ शुद्ध हूं, अविकारी हूं, वह तो इसमें धोखा खायगा, मगर जो जानता है कि मेरे स्वरूपमें विकार नहीं, मेरी भूमिमें विकार है, सो वह विकार मेरे स्वभावसे आया हुआ नहीं, किन्तु निमित्त पाकर आया है ।

निमित्तनैमित्तिक भावके सुपरिचयका फल अहंकारका अभाव, कायरताका अभाव व सुगमतया स्वभावदृष्टि—भैया, एक बात खास समझनेकी है कि जीवमें जो विकार जगते हैं उन विकारोंका निमित्त कारण सिर्फ कर्मविपाक है । जगत्के ये सारे पदार्थ जो दिख रहे हैं ये विकारके निमित्तभूत नहीं हैं. ये आश्रयभूत हैं । जिनको यह भेद नहीं ज्ञात है और इस स्वभावको भी निमित्त मानते हैं या मनाते हैं या कहते हैं वे इस खण्डनमें लगते कि निमित्त कुछ चीज नहीं । सामने पदार्थ दिखा और विकार न हुआ तो निमित्त तो न रहा । कोई वेश्या गुजरी तो उसको देखकर साधुके भाव वैराग्यके हुए और कामी पुरुषके भाव विषय वासनाके हुए, शृगाल, कुत्ते आदिकके भाव उसके भक्षण करनेके हुए, तो दृष्टान्त देते हैं कि देखो निमित्त तो वही है, पर काम एकसा कहाँ हुआ ? उनकी भूल है । निमित्त तो कामी

पुरुषके मोहनीय वेदका उदय चल रहा है सो उस अनुरूप उसके भाव हो रहे और उस भाव को व्यक्त करनेमें वह वेश्या आश्रयभूत हो रही और मुनि महाराजके कषायोंका उपशम है, क्षयोपशम है सो उसके अनुरूप वैराग्यके भाव हो रहे और उस वैराग्यके व्यक्त होनेमें वह मृतक वेश्या आश्रयभूत हो रही। निमित्तनैमित्तिक भावका सही परिचय करनेमें कायरता और अहंकार ये दोनों दोष दूर हो जाते हैं। जिसे यह परिचय नहीं ज्ञात है वह ऐसा सोचता है कि मैंने दूसरेको यों कर दिया, यह ही बात कर्तृकर्मभाव दोनों ओरसे चलती है। मैंने दूसरेको सुख दिया, बड़ा किया, ऐसा भाव यदि रहेगा तो अहंकार जगेगा और दूसरेने मुझे दुःखी किया या दूसरेके हाथमें मेरा सब कुछ परिणमन है ऐसा जानेंगे तो कायर बनेंगे, पर निमित्तनैमित्तिकका परिचय होनेपर न कायर रहेगा, न अभिमानी रहेगा। वह जानेगा कि बच्चोंके पुण्यका उदय है, उसकी वजहसे बच्चोंको सुखी होना है, उसमें मैं नौकर रूपसे सेवक बन गया। चित्तमें यों सोचेगा तो अहंकार न बनेगा या मुझको मेरी स्त्री पुत्रादिक दुःख देते इस प्रकारकी कायरता अपनेमें न लायगा। जहाँ सत्य जाना कि मैंने ही पूर्वभवमें जो परिणाम किया था उसका उदय है यह, और उस उदयमें मेरी ऐसी स्थिति हो रही है। उसके व्यक्त होनेमें ये दूसरे लोग आश्रयभूत मात्र हुए हैं। तो इन विषयसाधनोंके प्रति भी ज्ञानीका यों चिन्तन रहता है कि ये स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द ये मुझको रागी द्वेषी नहीं बनाते, मुझे कायर नहीं बनाते ये तो जड़ अपने स्वरूपमें अपने परिणमनसे रहते हैं। मैं ही खुद कर्मोदयका निमित्त पाकर तदनुरूप अपनेमें विकार कर रहा हूं। इस आश्रयभूतमें दृष्टि दूंगा तो वे विकार बुद्धिपूर्वक बनते जायेंगे, व्यक्त हो जायेंगे और इस आश्रयभूतको त्याग दूं तो विकार व्यक्त न होंगे। अव्यक्त होकर निकलेंगे। चरणानुयोगकी समस्त प्रक्रिया इसी आधारपर आधारित है। आश्रयभूत वस्तुवोंका परित्याग करिये, यह है चरणानुयोगकी जान। जिन जीवोंको यथार्थ बोधका परिचय नहीं है वे विषयोंके वशीभूत होते हैं और विषयवश होकर अपने समस्त गुणोंको भस्म कर डालते हैं।

लोकार्चितोऽपि कुलजोऽपि बहुश्रुतोऽपि, धर्मस्थितोऽपि विरतोऽपि शमान्वितोऽपि।
अक्षार्थपन्नगविषाकुलितो मनुष्यस्तन्नास्ति कर्म कुरुते न यदत्र निंद्यं ॥१००॥

लोकार्चित पुरुषोंकी भी विषयवशतामें विडम्बना—कोई पुरुष लोगोंके द्वारा पूज्य है, मान्य है, फिर भी वह इन्द्रियविषयरूपी सर्पके विषसे डसा हुआ है, आकुलित है तो वह मनुष्य कौनसा निंद्य कार्य नहीं कर सकता। लोगोंकी दृष्टि तो महत्ताकी है, पूज्यताकी है, बड़प्पन समझ रहे हैं, मगर वे चित्तमें इन्द्रियविषयोंके वश बने हुए हैं तो वे अपनी व्यक्त स्थितिके विरुद्ध कुछ काम कर डालते हैं। कोई पुरुष कुलीन है, अच्छे कुलमें पैदा हुआ है

राजकुलमें, मंत्रीकुलमें, पर वह इन्द्रियविषयोंका अनुरागी बने तो वह भी क्यासे क्या काम नहीं कर डालता। पुराणोंमें जो कहीं-कहीं यह सुननेमें आता कि अमुक राजपुत्र, अमुक जगह अमुक कन्यापर विमोहित हो गया तो उसके पीछे खाना-पीना छोड़ दिया, उसका दिल दब गया, बावलासा बन बया, अब चूंकि घरका लाड़ला था सो घरके तथा बाहरके लोग उसे बहुत-बहुत मनायें—कहो बेटा क्या चाहिए ? तुम जो कहो वह सब हम करनेको तैयार हैं। आखिर उसके मनमाफिक किया उसके माता-पिताने। अब चूंकि घरके लाड़ले थे सो किया वैसा नहीं तो दो लट्ठ लगाते तो अक्ल ठिकाने हो जाती। यह है विषय व्यामोहकी घटना। उत्तम कुलमें पैदा हुए तो भी यह स्थिति।

उत्तम कुलज पुरुषोंकी भी विषयवशतामें विडम्बना—जब राम और सीताके विवाह की चर्चा चलने लगी या ज्ञानसे जान लिया नारदने। तो वह अनेक बार सीताको देखने गया। देखिये—नारद बड़े ब्रह्मचर्यमें परिपूर्ण होते हैं। रानियोंके महलमें वे कहीं चले जायें, पर राजा सब जानता है कि यह ब्रह्मचर्यके बड़े परिपूर्ण हैं, बालस्वभाव वाले हैं, सो गया वह नारद इस भावसे कि देखें तो सही कि कैसी है श्रीरामको चाहने वाली कन्या। जब नारद पहुंचे सीताके निकट तो उस समय सीता आईनेमें मुख देखकर अपने केश संवार रही थी। उस आईनेमें जब नारदका प्रतिबिम्ब पड़ा तो डरावना चेहरा होनेसे वह डर गई और डरकर दूर भाग गई। उधर नारदके मनमें यह आया कि मैं इस कन्याको इष्ट नहीं लगा, इस कारण यह मेरेसे दूर भागी, सो तुरन्त उसपर क्रोध कर बैठे और मनमें आ गया कि मैं भी इसे छका कर रहूंगा। सो क्या किया किया कि सीताका एक चित्रपट लिया और वह चित्रपट विद्याधरोंकी नगरीमें ले गया जहाँ कि उस सीताका भाई भामण्डल भी था। सो उस भामण्डलने जब सीताका चित्रपट देखा तो उसपर मुग्ध हो गया और उसे पानेके लिए सेनासहित वहाँसे चल पड़ा। रास्तेमें जहाँ एक वन मिला तो पूर्व घटनावश उसे स्मरण हो आया कि जिसके विषयमें हम इतना खोटा विचार कर रहे थे वह तो मेरी सगी बहिन है। उसे अपने पर घृणा आयी। मगर देखो तो विडम्बना कि जो चाहे जैसा चाहे करने लगता। देखिये—पुरुषोंका ऊधम आज ही नहीं है, पहलेसे ही चला आ रहा है। तो यह सब इन्द्रियवश हुए प्राणियोंकी विडम्बना है।

बहुश्रुत आदिकी भी विषयवशतामें विडम्बना—बहुत शास्त्रोंका ज्ञाता है कोई तिस पर भी यदि इन्द्रियविषयोंसे व्यामुग्ध है तो वह भी आचरणसे गिर जायगा। कोई विरक्त है, क्षमाशील है मायने त्याग किया है तिसपर भी इन्द्रियविषयोंका अनुरागी पुरुष ऐसा कौनसा निंद्य कार्य है जिसे वह न करे। इस जीवको परेशानी क्या है ? बस मोह और विषयानु

राग। एक द्वेषकी भी परेशानी है, मगर द्वेष नहीं आता। मोहमें बाधा आये जिसके द्वारा उस पर द्वेष उमड़ता है। तो द्वेषको जीत लेना सरल है, मगर रागको विषयको जीत लेना सरल नहीं है। तब ही तो करणानुयोगमें द्वेषका क्षय ९वें गुणस्थानमें बताया और रागका क्षय १०वें गुणस्थानके अन्तमें बताया। संसारमें यह जीव अकेला अपने आपमें सुख दुःख जन्म मरण आधिव्याधियोंको भोगता आया है। क्यों भोगता आया कि अपने अविकार स्वरूप की सुध नहीं है। जो औपाधिक विकार जगा उसे स्व मान लिया, यह मैं हूं, भूल कितनीसी की, पर उससे विडम्बना कितनी बन गई। एक वृक्षको ही ले लो तो वृक्षके अनेक बड़ी शाखायें, अनेक उपशाखायें, अनेक टहनियाँ, भिन्न-भिन्न प्रकारके पत्ते, भिन्न भिन्न प्रकारके फूल, भिन्न भिन्न तरहके फल, भिन्न भिन्न प्रकारके आकार ये सब पाये जाते हैं। तो यह किसका फल है ? विकारमें आत्मत्व अनुभव किया उसका फल है संसार विडम्बना, और स्वभावमें आत्मत्व अनुभव करें तो उससे मिलेगा संकटोंसे छुटकारा। तो यह बहुत आवश्यक है कि इस स्वभावकी पहिचान करें और उस रूप अपनेको मानें और उसकी दृढ़ताके बलसे समस्त विषयकषायोंसे दूर होनेका पौरुष करें।

लोकार्चितं गुरुजनं पितरं सवित्रीं, बंधु सनाभिमबलां सुहृदं स्वसारं।
भृत्यं प्रभुं तनयमन्यजनं च मर्त्यो, नो मन्यते विषयवैरिवशः कदाचित् ॥१०१॥

निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयकी विषयोंकी उलझन मिटानेमें समर्थता—जो पुरुष विषय बैरियोंके वशमें रहता है वह किसीको भी बड़ेको भी कुछ नहीं समझता। आत्माका अहित करने वाले विषय और कषाय हैं। सो विषयोंपर दृष्टि क्यों जाती है जीवोंकी और विषयोंकी ओर क्यों उलझे रहते हैं उसका कारण है यह कि इन जीवोंको अपने सहज स्वरूपका परिचय नहीं है। विषयभाव ये कहीं अन्य पदार्थके नहीं हैं। हो रहे हैं जीवोंमें, फिर भी ये जीवके नहीं हैं। यह बात न समझ सकें तो विषयोंमें प्रीति दिखती है। इच्छा आशा प्रतीक्षा रागद्वेष इष्टभाव अनिष्ट भाव सुख दुःख जितने भी विकारभाव हैं ये विकारभाव, यह विकारपरिणति जीवके स्वभावसे उठे नहीं, कर्मकी परिणतिसे आये नहीं, किन्तु क्या स्थिति है कि कर्मविपाकका निमित्त पाकर यह छाया माया हुई, इस कारण यह औपाधिक है और परभाव है। दो बातें होती हैं—(१) कर्तृकर्मभाव और (२) निमित्तनैमित्तिक भाव। कर्तृकर्मभाव वस्तुतः एक ही पदार्थमें होता है और निमित्तनैमित्तिक भाव गलत नहीं है। सारा विज्ञान, सारा व्यवहार सब कुछ देख रहे है, रसोई बनाते हैं तो अग्नि जलाते। जानते हैं ना कि रोटी पकानेका निमित्त अग्नि हो सकती, जीव नहीं हो सकता, यह खूब परिचय है, पर अग्नि जलानेपर सिकी रोटी या अग्नि सिकी। वस्तुस्वरूप और निमित्तनैमित्तिक भाव

सर्वत्र एक साथ चल रहे। अब जिनको निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयका माहात्म्य नहीं मालूम और वास्तवमें निमित्त क्या होता है जीवके विकारमें, यह भी नहीं मालूम, उनकी दृष्टि यह बन जाती है कि दुनिया भरके जो पदार्थ हैं बाह्यमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द जो कुछ ये दिख रहे हैं उन्हें लोग निमित्त कहते चले आये। सो जब कभी अन्य प्रकार बात देखते हैं तो बात क्या है कि तीन बातें होती हैं जीवके विकार प्रकट होनेमें—(१) उपादान, (२) निमित्त और (३) आश्रयभूत। आश्रयभूतकी बात लोगोंने नहीं समझ रखी, कोई-कोई तो आश्रयभूतका नाम तक नहीं जानते। जब तक ये तीन बातें समझमें न आये तब तक निमित्तनैमित्तिक भावका मर्म न समझमें आयगा। निमित्तनैमित्तिक भावका परिचय स्वभाव दृष्टि करानेके लिए हुआ करता है। कर्तृकर्मभाव बनानेके लिए नहीं हुआ करता।

नैमित्तिक भावकी निमित्तानुरूपता—एक उदाहरण लें—मान लो कोई स्त्री मर गई, अब उसको उसके पतिने भी देखा और साधु महाराजने भी देखा, तो उसे देखकर उसके पतिको तो उसके प्रति रागभाव हुआ और साधु महाराजको वैराग्यभाव हुआ या दयाभाव हुआ, करुणा उपजी। अब ऐसी घटना देखकर जिसे बोध न हो या कुछ बोध हुआ भी हो वह झट कह बैठता कि देखो दोनोंका निमित्त एक है, पर एक जैसा भाव दोनोंका नहीं हुआ, इसलिए निमित्त फिमित्त कुछ नहीं, कुछ कार्यकारी नहीं···पर उनको यह पता नहीं कि साधु महाराजके जो वैराग्यभाव हुआ उसका निमित्त वह मृतक वेश्या नहीं है, उसका निमित्त है अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण जो कषाय है, कर्मप्रकृति है उसका क्षयोपशम। तो जैसा क्षयोपशम है उसके अनुसार साधु महाराजके भाव बने और उसमें आश्रयभूत वह मृतक स्त्री हो गई। और उस पतिके रागभाव होनेमें निमित्त उसकी वह स्त्री नहीं है, किन्तु मोहनीयकर्मका उदय है, वेदप्रकृतिका उदय है, सो उसके अनुसार उसके रागभाव जग रहा है और उसमें आश्रयभूत बनी उसकी स्त्री। तो तीन बातोंका भले प्रकार परिचय करें। मेरे जितने भी विकार होते हैं उनका निमित्त है कर्मोदय। कर्मोदय होनेपर ही विकार होता, कर्मोदय न होनेपर विकार नहीं होते। कर्मका उदय कर्ममें चल रहा, पर ऐसा ही योग है कि जिस अनुभाग वाले कर्मका उदय विपाकमें है तो उसकी छाया, माया, प्रतिबिम्ब यह अनिवार्य रूपसे होगा। अब ये बाहरी पदार्थ हैं, ये निमित्त नहीं हैं, ये आश्रयभूत हैं। रागप्रकृतिका उदय हुआ। हमारे रागभावमें कर्मोदय निमित्त है और उसके व्यक्त होनेमें ये बाहरी विषयभूत पदार्थ आश्रयभूत हैं।

निमित्त शब्दके बोलनेपर उसके वाच्य आश्रयभूत या वास्तविक निमित्तकी छांट करनेके विवेककी आवश्यकता—आश्रयभूतको भी निमित्त शब्दसे कहते हैं लोग और वास्त-

विक निमित्तको भी निमित्त कहते हैं। तो निमित्त नाम दोनोंका पड़ जानेसे विवेक नहीं करते और दोनोंको निमित्त मानकर चूंकि आश्रयभूतके साथ विकारका नियम नहीं है कि अमुक पदार्थ होनेपर विकार हो ही हो, पर कर्मोदयके साथ इनका सम्बंध है कि राग प्रकृति का उदय होनेपर जीवमें राग होगा। अब स्वभावदृष्टि कैसे बनती ? जैसे दर्पणके आगे हाथ किया तो हाथका प्रतिबिम्ब दर्पणमें है। अब वहाँ सब कोई जान रहा है कि यह प्रतिबिम्ब दर्पणके स्वभावसे नहीं उठा। उठा दर्पणमें, मगर समक्ष निमित्त पाकर उठा, और जब ही हाथ सामने किया तो प्रतिबिम्ब आया और हाथको हटाया तो प्रतिबिम्ब हट गया। तो निमित्तनैमित्तिक योग स्पष्ट है। उसके परिचय बिना ये विसम रचनायें हो ही नहीं सकतीं। पर यहाँ समझना क्या है कि जितनी विसम रचना है, जितनी विकार सृष्टि है वह नैमित्तिक है, वह मेरे स्वरूपकी चीज नहीं है। मेरा स्वभाव तो केवल प्रतिभास मात्र है।

स्वभाव और पर्यायका विश्लेषण—देखो एक ही पदार्थमें परिस्थिति बताना और बात है और स्वभाव कहना और बात है। जैसे एक दृष्टान्त लो—पानी गर्म हो गया, चूल्हेपर बटलोहीमें पानी गर्म कर दिया, तेज गर्म हो गया, ऐसे गर्म पानीके प्रति पूछा जाय कि बताओ पानीका स्वभाव कैसा है ? तो हर एक कोई यही कह देगा कि पानीका स्वभाव ठंडा है, मगर सर्वथा ठंडा स्वभाव समझकर अगर उस तेज गर्म पानीको कोई पी ले तब तो उसका मुख जले बिना न रहेगा। उस तेज खौलते हुए गर्म पानीको वह पी तो नहीं सकता। तो उसकी परिस्थिति विकारमें है, पर स्वभाव जब सुहा जायगा तो प्रकट न होते हुए भी वह कहा जायगा जो अपनी ही सत्ताके कारण अपने आपमें पाया जाता हो। जब स्वरूपकी उपासना की जाती है तो उसका अर्थ लगाइये—शक्तिकी उपासना की जा रही है। स्वभाव की उपासना है वह। और परिणमन तो यहाँ अशुद्ध चल रहा है। अशुद्ध परिणमन होते हुए भी अपने स्वभावको निरखना है। यही एक उपाय है कि अशुद्ध परिणमनको मिटाया जा सकता है। तो यह अशुद्ध परिणमन निमित्त पाकर नहीं होता और यों ही कह दिया जाय कि जब अशुद्ध परिणमन होता है तो जो सामने आ जाय उसे निमित्त कह देते हैं। तो इसका अर्थ यह होगा कि अशुद्ध परिणमन जीवमें अपने स्वभावसे हो रहा है। अब नाम कहांसे लगा दें कि यह निमित्त है। तो जब अपने स्वभावसे हो रहा है अशुद्ध परिणमन तो उसके मिटनेका कोई उपाय नहीं हो सकता।

विकारोद्भवमें परसंगकी निमित्तताके परिचयोके स्वभावदृष्टिका अवसर—मेरे स्वभावसे विकार नहीं हुआ करते। विकार होनेमें परपदार्थका संग ही निमित्त है। बंधाधिकार में समयसारके अन्तमें निचोड़ रूपमें कहा है—"तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽय

मुदेति तावत्" अगर रागादिक भाव हो रहे हैं। संसारमें हो रहे तो उसमें निमित्त परपदार्थ का संग ही है और यह वस्तुस्वभाव है अर्थात् उपादान अनुकूल निमित्त पाकर ही विकाररूप परिणमता है। निमित्तके अभावमें विकाररूप नहीं परिणमता। तो इस चर्चासे स्वभावको निरखनेकी प्रेरणा मिलती है। ये विकार मेरे स्वभावसे नहीं उठते, ये विकार मेरे भाव नहीं हैं, ये परभाव हैं। परका निमित्त पाकर हुए हैं। तो प्रयोजन तो अपने विशुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि करना है। सो जितना यह हमपर विषय कषायका बोझ 'चलरहा है तो यह सब नैमित्तिक है। जो नैमित्तिक हो वह मिटाया जा सकता है। जो स्वाभाविक हो वह नहीं मिटाया जा सकता।

परभावकी उत्पत्ति व ज्ञप्तिके साध्य साधनकी भिन्नता—अब इस आश्रयभूत पदार्थ को जो अज्ञानवश निमित्त मान लेते हैं तो क्या दृष्टि बन जाती कि जब विकार हो तब ये निमित्त कहलाते हैं, पर थोड़ा ध्यानमें लाना, दार्शनिक विषय है थोड़ासा। उत्पत्ति और ज्ञप्ति। जैसे जब जानकारीकी बात कहते हैं कि धुवाँ देखकर अग्नि जान ली गई तो यह जानकारीका साध्य साधन है। इसका नाम है अनुमान प्रमाण। वहाँ यह बात समझमें आयी कि धुवाँ देखकर अग्निका ज्ञान हुआ। जब धुवाँ हुआ तब जाना गया कि अग्नि है यहाँ। अब यह बतलावो कि धुवाँ और अग्निमें निमित्तनैमित्तिक क्या है? धुवाँ नैमित्तिक है और अग्नि निमित्त है, सो वहाँ नैमित्तिकका ज्ञान होनेपर निमित्तका बोध हुआ, यह ज्ञप्तिके बारेमें बात है। अब उत्पत्तिके विषयमें समझ बनाइये, धुवेंसे आग उत्पन्न हुई है या आगसे धुवाँ उत्पन्न हुआ? उत्पत्तिमें यह ही कहा जायगा कि आग निमित्त है और धुवाँ नैमित्तिक है, और चाहे धुवेंका आप बोध करें या न करें, पर जहाँ अग्नि है सो ही है। जहाँ कारण-कलाप है वहाँ छुपा हुआ है। तो यहाँ निरखिये कर्मका उदय निमित्त है, विकार नैमित्तिक है, ऐसा कहना कि जब विकार हुआ हैं तब निमित्तका ज्ञान हुआ कि उस समय यह निमित्त था। सो ज्ञानके बारेमें तो यह बात ठीक है, क्योंकि कर्म सूक्ष्म हैं। उन्हें कोई जानता नहीं, पर नैमित्तिक घटना जानकर निमित्तका बोध हुआ, पर ऐसा नहीं है कि जब विकार हो तब निमित्त हाजिर हो। निमित्त अपने समयपर आया, उपादानमें वहाँ योग्यता है और उसका निमित्त पाकर विकार जग गया। एक और दृष्टान्त लो—जैसे कोई नदी बह रही है तो जहाँ से बह रही उस ऊपरके हिस्सेमें तेज वर्षा हुई और नदीमें पूर बढ़ गया तो ज्ञप्तिमें तो आप यह कहेंगे कि पूर बढ़ा दिखे तो आपको ज्ञान हुआ कि ऊपर वर्षा हुई। ज्ञानमें यह बात आयी। पूर देखकर, पानीका तेज बहाव देखकर आपको ज्ञान हुआ कि वर्षा हुई। नैमित्तिक देखकर आपको निमित्तका ज्ञान हुआ, यह ज्ञानमें तो बात ठीक बैठी, पर उत्पत्तिमें क्या ऐसा

है कि जब पूर हुआ तब वर्षा हुई ? जब नदीमें जलका प्रवाह बढ़ा तब वर्षा हुई, क्या ऐसा होता ? नहीं । वर्षा हुई तब यह पूर निकला । तो उत्पत्तिमें और ढंगसे निरखा जायगा और जानकारीमें और ढंगसे निरखा जायगा । अब जानकारीका तो ढंग बोले और उत्पत्तिकी बात कहे तो बस वह गलत हो जाता है ।

विषम कार्योत्पादमें निमित्तकी अनारोपितहेतुता—आपको कर्मोदय ज्ञात हो या न हो, जब कर्मोदय होता है तो विकार होता है । आपने पीछे पैर रखा और वहाँ अग्नि थी । आपको अग्निका ज्ञान हो या न हो, पैर पड़ेगा तो वह जलेगा । निमित्तनैमित्तिक भाव किसी की जानकारीके आधार पर नहीं चलता । वह तो सान्निध्यपर चलता है । तो निमित्तनैमित्तिक भाव सर्व घटनावोंमें पाया जा रहा है, पर यहाँ यह परिचय बनाना कि जितना नैमित्तिक भाव पाया जा रहा है वह उस वस्तुका स्वभाव नहीं है । वह निमित्त पाकर हुआ । आप जानते हैं ना कि पानी गर्म हुआ है तो पानीका स्वभाव नहीं है गर्म होना, वह तो निमित्त पाकर गर्म हुआ है । तभी तो जब आप अग्निको हटा लेते हैं तो थोड़ी देरके बाद वह गर्म पानी ठंडा हो जाता है । तो यह उपकारकी दृष्टिसे देखें तो जब निमित्तनैमित्तिकका ज्ञान होता है तो अपने स्वभावको निर्दोष देख रहा है वह । मेरे स्वभावमें राग नहीं, यह नैमित्तिक है । मेरा स्वरूप बिगड़ा नहीं, यह बिगड़ा औपाधिक है, यदि मैं स्वभावको ही बिगाड़ दूं तब तो फिर सिद्धको भी बिगड़ जाना चाहिए, क्योंकि अब तो निमित्त पाये बिना भी बिगाड़ होना तुमने मान लिया । तो सिद्धभगवान हो गए, फिर विकार आ जाना चाहिए, पर आता तो नहीं, क्योंकि उनके निमित्तका सदाके लिए वियोग हो गया । कर्मोंका उनके क्षय हो चुका । अब उनके विकार बिगाड़की सम्भावना नहीं । यहाँ विकार और बिगाड़ चल रहे हैं, मगर जिसे बोध है कि ये विकार मेरे स्वभाव नहीं, ये औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं, इनमें कोई दम नहीं है, ये विनश्वर हैं, ये टिक नहीं सकते और मैं ध्रुव हूँ, स्वभावमात्र हूं, सहज आनन्दरूप हूं । मैं अपने स्वरूपको ही देखूँगा ।

आश्रयभूत पदार्थोंके आश्रय व अनाश्रयमें अशुद्ध जीवके विकारोंकी व्यक्तता व अव्यक्तता--मैं यह हूं और विकल्पके आश्रयभूत पदार्थका मैं आश्रय न करूँगा तो ये विकार प्रकट न होंगे, पर अप्रकट तो जरूर रहेंगे । जैसे किसी कांचके पीछे लाल मसाला लगा दिया जाय तो उसमें प्रतिबिम्ब साफ दिखाई देता है और जिस कांचके पीछे मसाला नहीं लगा है, कोई प्रकारका मैल तक नहीं लगा है, बिल्कुल साफ है उस कांचमें तो प्रतिबिम्ब नहीं प्रकट होता, मगर प्रतिबिम्ब उसपर भी आता जरूर है । और दर्पणकी तरह प्रतिबिम्ब नहीं होता । ऐसे ही जब आश्रयभूत पदार्थोंका हम आश्रय लें तो ये विकार प्रकट नहीं हो पाते, लेकिन ये

अप्रकट रूपसे होते हैं। सो इसी स्वभावदृष्टिके अभ्याससे जैसे व्यक्त विकारको दूर किया ऐसे ही कर्मोंमें क्षय आदिक होकर ये विकार भी अव्यक्त दूर हो जायेंगे। तो कर्तव्य है अपने सहज स्वरूपमें अपना सत्त्व निरखना, इसीको कहते हैं अपनेको शुद्ध निरखना। पर्यायरूपसे शुद्ध न निरखना, वह तो गलत है, पर्याय कहाँ शुद्ध है? और जो पर्यायरूपसे अपनेको इस समय शुद्ध निरखने लगे तो वह प्रगति कर ही नहीं सकता। अहंकारमें रहेगा कि मैं तो शुद्ध हूं। उसको कोई अवसर ही न रहेगा अपने आपको शुद्ध करनेका, और जो स्वभावदृष्टिको शुद्ध न निरखेगा, यही निरखे कि मैं तो सर्वथा अशुद्ध हूं तो वह भी शुद्ध होनेका पौरुष न कर सकेगा। स्वभाव मेरा सबसे निराला है, एकत्वगत् है, परिस्थितियाँ ये सब औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं। मैं इन परभावोंसे निराला हूं और अपने ज्ञानस्वभाव मात्र हूं।

उपादान, निमित्त व आश्रयभूतके परिणामोंसे तथ्यकी स्पष्टता—देखो तीन बातें स्पष्ट कर लेना। मेरे विकार आदिक होनेमें सिर्फ कर्मदशा ही निमित्त है, अन्य पदार्थ निमित्त नहीं होते। फिर उनके खण्डनके लिए क्यों दिमाग पच्ची किया जाय। निमित्त है ही नहीं, निमित्त तो कर्मदशा है, सो कर्मोदयका और विकारके साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बंध है अर्थात् कर्मोदय होनेपर ही विकार होवे, कर्मोदय न होनेपर विकार कभी होवे ही नहीं, ऐसा अन्वय व्यतिरेक सम्बंध है, पर आश्रयभूत पदार्थके साथ मेरे विकारका अन्वयव्यतिरेक सम्बंध नहीं है। सो जैसे दूध नाम गाय, भैंस, बकरी आदिकके दूधका भी है और दूध नाम आकके दूध का भी है, पर आकका दूध कोई छटाँक भर पी ले तो उससे प्राणघात हो जाता है। अब आकके दूधको प्राणघातक जानकर कोई यह ढिंढोरा पीटता फिरे कि दूध तो प्राणघातक होता है, दूध न पीना चाहिए, तो उसका यह कथन भला है क्या? अरे वहाँ तो यह विवेक रखना चाहिये कि आकका दूध तो प्राणघातक होता है, पर गाय, भैंस, बकरी आदिकका दूध प्राणपोषक होता है। जैसा कि व्यवहारमें निरखा जाता है। तो निमित्त नाम इनका भी रख दिया जो बाहरी पदार्थ हैं, पर निमित्त नाम वास्तवमें कर्मदशाका ही है। अब इन निमित्तोंके साथ जो कि निमित्त नहीं है वास्तविक नहीं, आरोपित हैं, ख्याल करें तो निमित्त कहलाते, यह बात आश्रयभूतमें है, वास्तविक निमित्तमें नहीं। वैज्ञानिक लोग प्रयोग करते रहते हैं कि अमुक चीज मिला दी जाय अमुक वस्तुके साथ तो यह असर होता है और इसी आधार पर सारी रचना चल रही है। हम आप आज मनुष्य हैं, कोई पशु हैं, पक्षी हैं, तिर्यञ्च हैं, ऐसी गड़बड विडम्बनाकी बात निमित्तनैमित्तिक भाव बिना चल सकती है क्या? पर वहाँ खोज यह करनी है कि मेरा वास्तविक स्वरूप तो दर्शन ज्ञान है, आनन्दरूप है, सर्व परभावोंसे निराला है। मैं अपने आप अपने ही सत्त्वके कारण अविकार हूं।

स्वभावपरिचय बिना निमित्तनैमित्तिक भावके सुपरिचयकी असंभवता व निमित्त-नैमित्तिक भावके सुपरिचय बिना स्वभावपरिचयकी अशक्यता—भैया सहज स्वरूपको निरखना है निमित्तनैमित्तिक भावकी जानकारीसे, और यह बहुत ही सुगम तरीका है कि हम परभावोंसे छूटें और अपने स्वभावमें आयें। उसमें यह तरीका सुगम है कि ये विकार नैमित्तिक हैं। मैं इनमें न लगूंगा। ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। जो नैमित्तिक समझता है उसे स्वभाव का ज्ञान है। दर्पणमें फोटो आ गया, अब जो उस फोटोको नैमित्तिक समझता है उसको है ज्ञान कि यह दर्पण भीतरमें बहुत स्वच्छ है। और जो उस फोटोको दर्पणका स्वभाव मानता है वह दर्पणकी स्वच्छताकी परख कैसे करेगा? जो विकार समझता है उसने स्वभाव भी समझा है और जो विकारको विकार न समझकर अंग समझ लेता है उसको स्वभावका भी परिचय नहीं। तो मूल प्रयोजन है स्वभावदृष्टिका। उस ही में धर्मका पालन है। सो यह आगममें जितना भी वर्णन है सबका इस ढंगसे अपनेको सम्बोधिये कि मैं परभावोंसे हटकर अपने स्वभावमें आऊँ। तो विषय बैरियोंके वश हुआ पुरुष लोक द्वारा पूज्य गुरु जनोंको भी यह कुछ नहीं समझता। माता-पिता, बहिन-भाई, सेवक इनको कुछ नहीं समझता, इनकी कुछ चिन्ता नहीं करता विषयोंमें आसक्त हुआ पुरुष। उसे तो ये विषय ही प्रिय हैं। तो इन विषयभावोंसे हटना है और अपने स्वभावमें अपनेको आना है, यह पौरुष करना है।

येनेंद्रियाणि विजितान्यतिदुर्धराणि, तस्याविभूतिरिह नास्ति कुतोपि लोके।
श्लाध्यं च जीवितमनर्थविमुक्तमुक्तं, पुंसो विविक्तमतिपूजिततत्त्वबोधैः ॥१०२॥

इन्द्रियविजयीके ज्ञान और आनन्दकी विभूतिकी अनुपमता—जिस पुरुषने अत्यन्त दुर्धर इन्द्रियोंको जीत लिया है उसकी इस विभूतिके समान दुनियामें अन्य कहीं भी विभूति नहीं है। आत्माकी विभूति ज्ञान और आनन्द है। जो मुख्य प्रकटतया समझमें आता है, यही आत्माका अतिशय है ज्ञान और आनन्दका सही प्रकट होना, सो जब तक इन्द्रियाँ नहीं जीत ली गईं तब तक सही ज्ञान और आनन्द प्रकट नहीं हो पाता। आत्माका स्वरूप जानना है, पर इंद्रियके द्वारा जानना यह आत्माका स्वरूप नहीं, किन्तु एक परिस्थिति है, आत्माका स्वरूप आनंद है, किन्तु विषयमें उपयोग लगाकर इस तरहका सुख पाना यह आत्माका स्वभाव नहीं है, किन्तु एक परिस्थिति है। जैसे कोई मनुष्य किसी कमरेमें बंद पड़ा है तो वह खिड़कियोंके द्वारा ही बाहरकी बात जान सकता है। तो खिड़कियों द्वारा जाने यह मनुष्यका स्वरूप नहीं है, किन्तु परिस्थिति है वह ऐसी जो खिड़कियोंसे ही जान पाता है। तो ऐसे ही यह आत्मा इस देहरूपी मकानमें बंद है सो इस समय हम आप इन्द्रिय और मन इन ६ द्वारों

से ही जान पाते हैं। तो यह एक बंधनकी परिस्थिति है, पर स्वभाव इसका जाननेका है। ज्ञान द्वारा जानता है। तब यह बंधन न रहेगा कर्मका और इस देहका तो यह चारों ओरसे ही जानेगा फिर इसके लिए सब जगतके पदार्थ साक्षात् हैं। जैसे हम अभी आँखोंके सामनेकी बात जान पाते हैं, पर बंधन मुक्त होनेपर आत्माके लिए कौनसा सामना है? जब तक इन्द्रिय है तब तक सामना कहलाता है यह आँखका सामना। जब इन्द्रियका बंधन नहीं है तब सामना तो सब हो गया। जो भी सत्ता है वह इसके सामने है।

यथार्थ ज्ञान और आनन्द प्रकट न होनेका कारण इन्द्रियव्यामोह—ऐसा अलौकिक ज्ञान और निराकुल अलौकिक आनन्द जो नहीं हो पा रहा, उसका कारण यह है कि विषयों के ज्ञानमें और सुखमें यह जीव लगा हुआ है। सो जो इन इन्द्रियविषयों पर विजय प्राप्त कर लेता वही पुरुष सच्चा ज्ञान और आनन्द प्राप्त करता है। हम आप सब दो ही बातें तो चाहते हैं कि हमारा खूब ज्ञान बढ़े और खूब आनन्द मिले। और इन दो बातोंमें भी अधिकतर यह बात चाहते हैं कि हमको आनन्द मिले। ज्ञान पर भी हमारी अधिक दृष्टि नहीं रहती। तो मुख्य ध्येय है जीवका कि आनन्द प्राप्त हो। मगर वह आनन्द ज्ञानके साथ ही है, इस-लिए ज्ञान और आनन्द दोनोंके लाभकी वांछा जीवके रहती है। और इसीलिए सर्वत्र यत्न भी करते, किन्तु आनन्द कहीं नहीं मिलता, उसका कारण यह है कि जो भी प्रयत्न करते हैं वह कषायवश करते हैं। पौरुष ही कषायका है। कभी धर्ममार्गमें भी चले तो वहाँ पर भी कषायके आधीन रहते हैं। जिसमें जो कल्पना की, जो मान लिया उसका पक्ष हो जाता। कहनेको तो यह है कि ज्ञानकी बात कही जा रही, पर प्रयोगमें यह है कि जो रुचा जो कषाय जगी बस उस ही का पक्ष है। तो धर्ममार्गमें भी ये निष्पक्षका व्यवहार नहीं कर पाते। लौकिक मार्गमें भी निष्पक्षताका आदर नहीं कर पाते। सो इष्ट विषयोंमें राग बना हुआ है तो वास्तविक आनन्द इन्हें प्राप्त नहीं है।

यथार्थ आनन्द पानेके इच्छुकोंको अपने यथार्थ स्वरूपके व यथार्थ आनन्दके स्वरूपके परिचयकी प्रथमावश्यकता—जिसे सत्य आनन्द चाहिये उसको दो बातोंका पुष्ट निर्णय करना होगा, एक तो यह कि मैं वास्तवमें क्या हूं और एक यह कि आनन्द वास्तवमें कहलाता क्या है? चाहने वाला और चाहे जाने वाली बात ये दो बातें यदि उपयोगमें सही हों तब तो मोड़ बनेगा, तो मैं वास्तवमें क्या हूँ, स्वयं अपने आप सहज अपनी सत्तासे। मैं हूँ एक प्रतिभास स्वरूप पदार्थ। तो इसका नाम धरा जा सकता क्या? और यदि नाम धरा जा सकता है तो वह सभीका एक ही नाम रहेगा। प्रतिभास स्वरूप आत्मपदार्थका कोई नाम धरेगा चेतन, आत्मा, जीव कुछ भी नाम धरेगा तो वह सबका नाम है। सबका न होकर मेरा ही नाम हो

ऐसा कोई नाम नहीं है जो मुझ चैतन्यस्वरूपका कहा जाय। जिसको नाम दिया गया है वह मैं नहीं हूँ, वह मैं परमार्थ नहीं हूँ। निरपेक्ष सहज तत्त्व नहीं हूं। जिसमें लोग नाम देते हैं वह अनेक वस्तुवोंका पिण्डोला है। तो एक जीवद्रव्य और इसके साथ लगे अनन्त शरीर परमाणु और इसीके साथ लगे हैं अनन्त कर्मपरमाणु और साथ ही लगा है शरीर और कर्मके उम्मीदवार परमाणु। कर्मका उदय चल रहा है। इस भूमिपर छाया प्रतिबिम्ब हो रहा, निमित्तनैमित्तिक भाववश अनेक घटनायें चल रही हैं, इन सबका पिण्डोला है यह जिसका कि दुनियामें नाम धरा जाता है। तो जिसका नाम धरा जाय वह मैं नहीं, जो वास्तवमें मैं हूं उसका नाम ही नहीं धरा जा सकता। और धरा जायगा तो वही सबका नाम है। मैं वास्तवमें यह हूँ ऐसा जब निर्णयमें आता है तो सारी बातोंका निर्णय बन गया कि परपदार्थ का मेरे साथ सम्बंध क्या है? कोई भी परपदार्थ मेरा नहीं है जहाँ यह आकिञ्चन्य भाव आये कि मेरा जगत्में कुछ नहीं है, मैं मात्र मैं ही हूं। तो वहाँ आनन्द पानेकी दिशा मिल जाती है।

मोहमें स्वयंपर गजब सितमका ढाना—मोहमें कैसा गजब हो रहा है कि खुद ही तो मैं ज्ञानस्वरूप पदार्थ हूं और खुद ही का ज्ञान नहीं हो पा रहा। कोई दीपक खुदका ही प्रकाश न करे और दूसरे पदार्थोंका ही प्रकाशक रहे ऐसा कोई दीपक अब तक नहीं देखा गया, मगर यह मोही आत्मा खुद ज्ञानमय होकर भी खुदका ज्ञान नहीं कर पा रहा है। यह गजबकी बात बन रही है। वेदान्तकी टीकामें एक उदाहरण दिया गया कि एक पुरुष किसी संन्यासीके पास पहुंचा और बोला—महाराज हमें ज्ञान नहीं है हमको ज्ञान दीजिए, तो संन्यासी बोला—भाई अमुक तालाबके अमुक घाट पर एक मगरमच्छ रहता है उसके पास जावो वह तुम्हें ज्ञान देगा। पहुंचा वह पुरुष मगरके पास और बोला—मगरराज मुझे आत्मा का ज्ञान दे दो। तो मगरराज बोला—भाई, मुझे बहुत जोरकी प्यास लग रही है। तुम्हारे हाथमें लोटा डोर है सो पासके उस कुवेंसे एक लोटा पानी भरकर पिला दो, अपनी प्यास बुझा लें तब फिर तुम्हें आत्माका ज्ञान दें। तो वह पुरुष बोला—मगरराज, हमें तो एक संन्यासीने आपको ज्ञानी समझकर आपके पास भेजा, पर आप तो पूरे मूर्ख दिखाई देते हो। …कैसे?…अरे आप स्वयं चारों ओर जलसे घिरे हुए हैं फिर भी कह रहे कि एक लोटा जल कुवेंसे भरकर दे दो, प्यासे हैं। तो मगर बोला—बस यही उत्तर तो तेरे लिए है। तू भी तो ज्ञानसे लबालब भरा हुआ है, ज्ञानघन है, ज्ञानसिवाय तेरा और कुछ स्वरूप नहीं है। ज्ञानमय पदार्थ है, फिर भी कह रहा कि मेरेको ज्ञान नहीं है, ज्ञान दे दो। सो जब अपने आपकी ओर दृष्टि हो, इन बाह्य पदार्थोंकी वाञ्छासे छुट्टी मिले तो निश्चित ही यह प्रयोग

रूपसे निज ज्ञानात्मक अंतस्तत्त्वको जान लेता है। जगतमें कष्ट है कहाँ ? अपने स्वरूपके उपयोगमें न रहें और बाहरी पदार्थोंसे सुखकी आशा करने लगे तो वहाँ कष्ट हो गया। अपने स्वरूपको देखें और सत्य निर्णय रखें कि मेरेको आनन्द किसी बाहरी पदार्थसे मिलता ही नहीं है। मिल ही नहीं सकता और मिलनेकी जरूरत भी क्या है ? मैं तो स्वयं आनन्दमय हूं, अपने आपके एकत्वमें आयें तो मेरे सारे संकट समाप्त हो जाते हैं।

मोक्षप्राप्तिका उपाय उपयोगमें निज सहज स्वरूपकी सम्हाल—जिन्होंने मोक्ष पाया उन्होंने और किया ही क्या है ? अपने आत्माकी सम्हाल की है, अपनेको ज्ञानानन्द स्वरूप देखा है। उनके ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप ही समाया है। किसी भी परपदार्थसे आनन्द पानेकी उनके भावना नहीं रही, सो स्वमें स्वकी सम्हाल की है। यही काम किया है जिससे कि मुक्ति प्राप्त हुई है। अब इन कामोंको जो करेगा, जो अपने आत्माकी सम्हाल बनायेगा उसको अनेक बाधायें नियमसे होंगी, क्योंकि अनन्त भवोंसे विषयोंका संस्कार इन जीवोंपर लदा आया है, सो एक बार सही ज्ञान हो जानेपर भी वे विषयसंस्कार, वे दुर्भावनायें, वे सब संस्कार उखड़ते है, सामने आते हैं तो उनसे सुरक्षित होनेके लिए दिन-रातकी चर्यामें यह ज्ञानी अपनेको पवित्र रखता है जिससे कि व्यसन और पापका संस्कार मुझको हैरान न कर दे। उस संस्कार पर विजय पानेके लिए गृहस्थ गृहस्थधर्म जैसा आचरण करता है, मुनि मुनिधर्म जैसा आचरण करता है। धर्म यद्यपि दोनोंका एक है, स्वभावदृष्टि करना और स्वभावरूप ही अपने आपको जानते रहना, यह प्रयोग करके तो कोई बताये कि सीधा यही काम खूब बन जाय, नहीं बन पाता। अनेक काम करने पड़ते हैं घर गृहस्थीमें अनेक बातें हैं और यह चित्त पूर्व संस्कारवश डगमग रहता है। तो इस अस्थिरताको दूर करनेके लिए व्रत, नियम, संयम रूप से अपना जीवन बिताता है और ऐसे पवित्र जीवनमें पवित्र आत्मतत्त्वकी उपासना करता है। सो अभी गृहस्थको पूरा मौका नहीं मिल रहा, क्योंकि घरके आरम्भ, घरके सम्बंध, घर के अनुराग, घरका बंधन इसका चित्त डगमगाता रहता है। तो जिसमें वैराग्य विशेष बढ़ा वह सबका त्याग करके निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो जाता है, पर किसलिए हुआ वह निर्ग्रन्थ दिगम्बर ? एक इस स्वभावदृष्टिकी दृढ़ता बनाये रखनेके लिए धर्म प्रारम्भसे अन्त तक वास्तवमें एक ही रूप है। अपने आपको सहज दर्शन ज्ञानस्वरूप आनन्दमय निरखना। मैं यह हूँ। जैसा मैं हूं परमार्थसे वैसा ही मैं दृष्टिमें रहूं, इसके लिए ही सर्व व्यवहारधर्म पालन किए जा रहे हैं।

सुलक्ष्यविहीनतामें संसारविडम्बना—कोई व्यवहारधर्मका पालन तो करता रहे, सारी क्रियावोंको तो निभाता रहे, पर मैं किसलिए कर रहा हूं, इसका जिसको पता नहीं है

उसकी प्रगति कैसे बनेगी मोक्षमार्गमें ? जैसे कोई नाव पर बैठकर खुद ही नावको खूब खेता रहे और उसका कोई लक्ष्य नहीं बना है कि हमको कहाँ पहुंचना है ? तो वह कभी इधर नाव खेया, कभी उधर नाव खेया, यों ही भटकता फिरेगा। उसने चारों तरफ नावके खेनेका परिश्रम तो किया, मगर फायदा कुछ नहीं होता, क्योंकि हमें कहाँ पहुंचना है यह उसके मन में था ही नहीं। ऐसे ही हम कार्य तो सारे करें व्यवहार धर्मके, और उद्देश्यका पता न हो कि ये सब मैं किसलिए कर रहा हूं तो उससे मोक्षमार्गका लाभ नहीं मिल पाता। मेरेको कार्य केवल एक यही करना है अन्तरंगमें कि मैं सहज ज्ञानानन्दस्वभाव मात्र हूँ। मैं अपनी सत्तासे केवल अपने स्वरूप मात्र हूँ। मेरेमें मेरे स्वरूपमें अन्य पदार्थका प्रसंग नहीं। मेरे स्वरूपमें विकारभाव नहीं, विकार नहीं है, उपाधिकी छाया है, परभाव है, मेरा स्वरूप नहीं। मैं केवल प्रतिभास स्वरूप हूं। सो यही मैं अपनी निगाहमें बना रहूं, बस यही एक काम करनेको पड़ा है। अब काम तो एक ही है धर्मपालनके लिए, मगर कोई भी करके दिखा तो दे, क्योंकि ऐसा अशुद्ध जीव है भव-भवके बाँधे हुए कर्मोंका विपाक है, अपने आपके विकार का चलन है कि जिसकी वजहसे ऐसा अनुभवन बनता नहीं है। जो उल्टा हम चल रहे हैं उसको दूर करनेका भी तो पौरुष होना चाहिए। बस वह पौरुष है साक्षात् व्यवहारधर्म।

यथाशक्ति चारित्रपालन—चरणानुयोगके अनुसार यथाशक्ति बताये गए व्यवहारधर्म का पालन करते हुए जो स्वभावदृष्टिका भीतरमें प्रयोग बनानेका पौरुष करता है वह सफल होता है, और जो यथा तथा जैसा चाहे स्वच्छंद व्यवहारसे जीवन गुजारता है उसको स्वभाव दृष्टिका अवसर नहीं आ पाता। प्रभुभक्ति इसीके मायने है कि जिस मार्गसे प्रभु चले उस मार्गके प्रयोगसे हमें चलना चाहिए। यदि यह देहका वासनाका बंधन न होता तब तो कुछ करनेकी जरूरत भी न थी। यह तो स्वयं आराममें था, पर इतने बंधनोंमें रहते हुए इतने विचार विपरीत विपरीत उठते हैं तो उन विपरीत विचारोंको तो दूर करना है, और उसका साक्षात् उपाय है व्यवहारधर्म। यम, नियम, संयम, तप आदिक, प्रभुभक्ति, स्वाध्याय, सत्संग और इन सबको करते हुए लक्ष्य रहता है ज्ञानीका स्वभावदृष्टि। तो चरणानुयोगके अनुसार अपना जीवन बनाकर जैसा कि सबके लिए बताया, कम विरक्त है उस गृहस्थको बताया, कुछ अधिक विरक्त है उसको बताया, पूर्ण विरक्त है उसको बताया। उसके अनुसार अपना जीवन चलाते हुए स्वभावदृष्टि करना यह है धर्मपालन।

साधनारम्भमें ज्ञानीकी अन्तर्वृत्ति—ऐसी कल्पना करना कि मैं जो कर रहा हूं सो ठीक कर रहा हूं और दूसरे साधक लोग जो कर रहे हैं वे गलत कर रहे हैं, ऐसी भावना ज्ञानीमें नहीं होती। ज्ञानी पुरुष तो अपने आपके अन्दर कमी देखनेकी आदत रखता है,

मुझमें क्या दोष रह गए, क्या कमी रह गई, यह निरखनेकी आदत ज्ञानीके होती है। मैंने कितने गुण पा लिये, यह निरखनेकी आदत ज्ञानीमें नहीं होती, क्योंकि अपने अन्दर कमी (दोष) निरखनेकी बात रहेगी तो उन दोषोंको टालनेका यत्न करेगा और जो गुणविकास हुआ उस ही को देखनेकी लत रहेगी तो उसके अहंकार जगेगा और जो गुण पाया है उसे भी खत्म कर डालेगा। इसीलिए स्पष्ट बताया है कि ज्ञानी अपनी निन्दा, अपनी गर्हा करता है, दूसरेकी निन्दा नहीं किया करता, स्पष्ट लक्षण है। जैसे किसी संन्यासीका हृदय पहचाननेके लिए बाह्य लक्षण, मोटा लक्षण यह है कि वह अपने पैरोंमें जूते डालकर न चलेगा, क्योंकि जूते पहिनकर चलने वाले संन्यासीके जीवदयाका भाव नहीं, नम्रताका भाव नहीं, कुछ गर्व भी रहेगा, वे सब बातें उसमें आती जातीं। कहनेको एक बाहरी बात है। तो ऐसे ही समझिये मोटा लक्षण कि जो परनिन्दा करे, दूसरेके दोष निहारता रहे और दोषोंको बताते रहने से ही अपनेको धर्मपालन माने और उसीमें ही जीवन गुजारे, वह ज्ञानीका चिन्ह नहीं है। जो सर्व जीवोंमें अपने समान स्वरूपको निरखता है वह तो विरोधीपर भी यह दृष्टि रखता है कि यह मेरा कुछ विरोध नहीं कर रहा। ये सब कर्मोंके उदय हैं और वहाँ ऐसा ही बर्त रहा है, यह जीव तो निरपराध है। तो सर्व जीवोंमें एक सहज परमात्मतत्त्वके दर्शन होना यह ज्ञानी की आदत है। दूसरेके दोष निरखना यह ज्ञानीकी आदत नहीं है। सो ऐसे आत्मज्ञान द्वारा जिसने दुर्धर इन्द्रियको जीत लिया उसका ही जीवन प्रशंसनीय है और वह सब अनर्थोंसे छूट गया है और वही वास्तविक आनन्दका पात्र है।

६—स्त्रीगुणदोषविचार

उद्यद्गंधप्रबंधां परमसुखरसां कोकिलालापजल्पां
पुण्यंसक्षोकुमार्यां कुसुमशरबधूं रूपतो निर्जयंती।
सौख्यं सर्वेंद्रियाणामभिमतममितः कुर्वतीं मानसेष्टं
सत्सौभाग्या लभंते कृतसुकृतवशाः कामिनीं मर्त्यमुख्याः ॥१०२॥

पुण्यका लौकिक फल—इस प्रकरणमें स्त्री सम्बंधी गुण और दोषोंका विचार किया गया है। इस छंदमें यह बतला रहे हैं कि उत्तम स्त्री किसी पुण्यवान पुरुषको ही प्राप्त होती है। जिसका शरीर सर्वदा सुगंधित रहा करता है। जो परम सुख रसका अनुभव कराती है। कोयल जैसे मीठे मीठे वचनोंको जो बोलती है। समस्त इन्द्रियोंको सुख प्रदान करने वाली और मनके अभीष्टको सिद्ध करने वाली, जिसका फूलकी मालाके समान कोमल शरीर है, ऐसी स्त्री किसी मुख्य मनुष्यको ही प्राप्त होती है। स्त्रियोंमें जहाँ शारीरिक दोष हैं वहाँ किसी

पुण्यवानमें शारीरिक उतने दोष नहीं होते । जैसे कई स्त्रियाँ दुर्गन्धित शरीर वाली होती हैं, पर अनेक स्त्रियोंके दुर्गन्ध नहीं होती, प्रत्युत लुभाने वाली गंध भी मिलती है । राग स्वर अच्छा होना यह स्त्रियोंमें प्रधानतया गुण पाया जाता है । तो ऐसी स्त्री उन पुरुषोंको प्राप्त होती है जिन लोगोंने पूर्व जन्ममें पुण्य किया है । जिसके सौभाग्यका सितारा देदीप्यमान है, स्त्रियोंके इतनी सुन्दरता होती है जो रूपसे कामदेवकी स्त्री रतिको भी जीत ले । वस्तुतः जिन पुरुषोंके वैराग्य है उनको तो सुन्दरता जंचती है । सो लौकिक दृष्टिमें जो विशेष सुन्दरता मानी गई है वह भी पुण्यके उदयसे प्राप्त होती है । तो ऐसी स्त्री जो सुन्दरतामें कामदेवकी स्त्री रतिको भी जीत ले वह उन्हीं पुरुषोंको मिलती है जिन्होंने पूर्वभवमें कुछ ठीक भाव किया, जिससे ऐसे पुण्यका बंध किया । इस छंदमें यह गुण प्रधानदृष्टिसे कहा जा रहा है कि आज्ञाकारिणी सुन्दरी मधुर वचन बोलने वाली स्त्री भाग्यवान पुरुषोंको प्राप्त होती है ।

अक्ष्णोर्युग्मं विलोकान्मृदुतनुगुणतस्तर्पयतीं शरीरं,
दिव्यामोदेन वक्त्रादपगतमरुता नासिकां चारुवाचा ।
श्रोत्रद्वंद्वं मनोज्ञाद्रसनमपि रसादर्पयंती मुखाब्जं
यद्वत्पंचाक्षसौख्यं वितरति युवतिः कामिनां नान्यदेवं ॥१०४॥

लोकमें युवतियोंकी तृप्तिकारिता—इस छंदमें स्त्रियोंकी महत्ता बतायी गई है । देखनेसे जो नेत्रोंको तृप्त करती है याने इतनी शान्ति सुन्दरता जिन स्त्रियोंमें है कि उन्हें देखने से देखने वालेके नेत्र तृप्त हो जाते हैं । जिसके कोमल शरीरके स्पर्शसे शरीर तृप्त होता है, जिसके सुगंधित मुखकी गंधसे नासिका तृप्त होती है । मीठी-मीठी वाणीके सुननेसे कर्ण तृप्त होते हैं, मुखकमलके अर्पण किए जानेसे जिह्वा तृप्त होती है अर्थात् कामियोंको पञ्चेन्द्रियके सुख देने वाली जो स्त्री है वह इस लोकमें लौकिक जनों द्वारा ऐसी उत्तम मानी जाती है कि जैसा मानो अन्य कुछ न हो, इस छंदमें स्त्रियोंकी प्रशंसा की है । ये सब प्रशंसायें की जा चुकेंगी, उसके बाद जब वैराग्यका प्रकरण होगा और ऐसी स्त्रियां भी परिहार्य हैं, उनके दोष की बात आयगी तब उनका परिहार करनेमें सुगमता मिले, यह बात सुगमतया समझमें आयगी ।

या कूर्मोच्चांघ्रिपृष्ठारुणचरणतला वृत्तजंघा वरोरूः ।
स्थूल श्रोणीनितंबा प्रविपुलजघना दक्षिणावर्तनाभिः ।
इन्द्रास्त्रक्षाममध्या कनकघटकुचा वारिजावर्त्तकंठा
पुष्पस्रग्बाहुयुग्मा शशधरवदना पक्वबिंबाधरोष्ठी ॥१०५॥

संशुम्भत्पांडुगंडा, प्रचकितहरिणीलोचना, कीरनासा,
सज्येष्वासानतभ्रू:, सुरभिकचचया, त्यक्तपद्मेव पद्मा ।
अंगैरंगं भजंती धृतेमदनमदैः प्रेमतो वीक्ष्यमाणा
ने दृग्यस्यास्ति पोषा स किमु वरतपो भक्तितो नो विधत्ते ॥१०६॥

सुमहिलावोंकी महत्ता—इन दो छंदोंमें यह बताया है कि ऐसी स्त्री जिस पुरुषके पास नहीं है वह पुरुष इस संसारमें भाग्यहीन है । यह सब लौकिक दृष्टिसे वर्णन किया जा रहा है ताकि ऐसी स्त्रियोंको छोड़ देने वाले यतिराजोंके प्रति भक्ति विशेष उमड़े । जो सुन्दर और दुनियामें शोभायोग्य चीज है उसे भी जो छोड़ सके वह बड़ा विजयी पुरुष कहलाता है । जिस स्त्रीके चरणोंका पृष्ठ भाग कछुवेके समान ऊँचा है अर्थात् पैरका ऊपरी भाग ऊँचा होता है तो वह भाग्यवान समझा जाता है । जिसके चरणोंके तल भाग लाल हैं, जंघायें गोल हैं और जंघावोंके नीचे, घुटनेके नीचे जो ऊरू भाग है वह भी सुन्दर है, जिसमें श्रोणी और नितम्ब स्थूल हैं, जघन्न भाग विपुल है, नाभि भ्रमरके समान दक्षिणवर्त है अर्थात् दक्षिणकी ओर मुड़ेर लिए हुए है । कमर वज्रके समान पतली है । कुचा स्वर्णकलशके समान स्थूल है, ग्रीवा अर्थात् गला शंखके समान है, ऊँचा-नीचा है । भुजायें पुष्पमालाके समान गोल हैं, मुख चंद्र सरीखे हैं, ओंठ पके हुए बिम्ब फल जैसा लाल है, ऐसा पुण्य जिसपर झलक रहा है । सुन्दर शरीर वाली स्त्री किसी भाग्यवानको प्राप्त होती है । इन कथनोंसे दृष्टि कहाँ ले जानी चाहिये कि ऐसी सुन्दर योग्य हजारों स्त्रियोंको भी त्यागकर मुनि बने हैं बड़े-बड़े चक्री तो उनका मन कितना ऊँचा है, कितना उनको तत्त्वज्ञान है । तो वे ही पुरुष मोक्षमार्गके वास्तविक पात्र हैं । जिन स्त्रियोंके कपोल पीले हैं, नेत्र भयभीत हिरणीके समान चंचल हैं, नाक तोतेकी नाककी तरह पतली और लम्बी है । जिनकी भौंहें चढ़े हुए बाणसे युक्त धनुषके समान हैं, जिनके केश कोमल सुरभि गायकी तरह लम्बे हैं जो कमलको छोड़कर स्थल पर रहने वाली मानो साक्षात् लक्ष्मी ही है । प्रेमसे देखे जानेपर शरीरके अवयवोंको कामचेष्टासे युक्त अपने शरीरके अवयवोंके साथ मिलान कर आनन्द प्रदान करती है, ऐसी स्त्री जिसके नहीं है वह भक्तिसे उत्कृष्ट तप क्यों नहीं करता अर्थात् इस छंदमें यह बताया है कि बड़े पुण्यके प्रसादसे ऐसी स्त्री प्राप्त होती है ।

संत्यक्तव्यक्तबोधस्तरुरपि वकुलो मद्यगंडूषसिक्त:
पिंडीवृक्षश्च मुंचुश्चरणतलहतः पुष्परोमांचमच्यं ।
सौख्यं जानाति यस्या जितमदनपतेर्हाविभवास्पदाया-
स्तां नारी वर्जयंतो विदधति तातोप्यूनमात्मानमज्ञा। ॥१०७॥

नारीकी विशेषता—इस छंदमें भी स्त्री जनोंकी प्रशंसा बतायी है कि भाग्यवान स्त्रियोंको जो मनुष्य छोड़ देते हैं उनको वृक्षसे भी न्यून गिना जाता है। युवती स्त्रियोंके कुल्लोंसे वकुलवृक्षकी कलियाँ खिल जाती हैं, जिनके पैरोंकी ताड़नासे अशोकवृक्ष फूल उठता है, ऐसा कविजन अपने काव्योंको बताते हैं। उसके अनुसार इस छंदमें बताया है कि जिन स्त्रियोंके स्पर्श मात्रसे एकेन्द्रिय अल्प ज्ञानी अज्ञानी वृक्ष तक भी प्रसन्न हो जाते, उन्हें भी जो लोग रुष्ट होकर छोड़ देते हैं वे मानो वृक्षसे भी अल्प ज्ञान वाले हैं।

गौरीं देहार्धमीशो हरिरपि कमलां नीतवानश्च वक्षो
यत्संगात्सौख्यमिच्छुः सरसिजनिलयोऽष्टार्धवक्त्रो बभूव।
गीर्वाणानामधीशो दशशतभगतामाप्तवानस्तधैर्यं
सा देवानामपीष्टा मनसि सुवदना वर्तते नुर्न कस्य ॥१०८॥

नारीकी लोकाभिलषितता—जिस स्त्रीके फंदेमें पड़कर बड़े-बड़े देवता लोग भी अपनी शक्तिको खो बैठे हैं और उनके सेवक बन गए हैं, भला वे उत्तम बदन वाली स्त्रियाँ किस मनुष्यकी जितेन्द्रियताको वश न करेंगी अर्थात् बड़ेसे बड़े जितेन्द्रिय भी स्त्रियों द्वारा चलित हो गए। देखो महादेवने गौरीको अपने आधे अंगमें रखकर सदाके लिए अर्द्धांगिनी बना डाला। कृष्ण जी लक्ष्मीके मोहमें इतना फंसे कि वे उसे रात-दिन अपने वक्षस्थल पर ही रखे रहा करते थे। ब्रह्माने स्त्रीविषयसुखकी इच्छासे चार मुख कर लिए। और इन्द्रने तो इतनी बेसब्री की कि अपने हजार नेत्र बना डाले। इस छंदमें यह बताया है कि बड़े-बड़े पुरुष और कोई-कोई तपस्वी भी स्त्रीसुखकी लम्पटतासे विडम्बनाको प्राप्त हुए। यह वर्णन सुनकर इस ओर ध्यान देना चाहिए कि जो विरक्त पुरुष ऐसी स्त्रियोंका भी परित्याग कर देते हैं उन्होंने कितना ऊँचा आत्मीय आनन्दका अनुभव किया होगा जिसके कारण दुनियासे न त्यागने योग्य स्त्रियोंको भी त्याग देते हैं।

यत्कामार्तिं धुनीते सुखमुपचिनुते प्रीतिमाविष्करोति
सत्पात्राहारदानप्रभववरवृषस्यास्तदोषस्य हेतुः।
वंशाभ्युद्धारकर्तुर्भवति तनुभुवः कारणं कांतकीर्ति-
स्तत्सर्वाभीष्टदात्री प्रवदत न कथं प्रार्थ्यते स्त्रीसुरत्नं ॥१०९॥

स्त्री जनोंकी लोकाभ्यर्थितता—इस छंदमें बताया है कि ऐसी स्त्रीकी चाह कौनसा मनुष्य नहीं करता? किसकी प्रार्थनाके योग्य नहीं होती जो स्त्री कामपीड़ाको दूर करती है और सुख प्रदान करती है। बात बातमें प्रेम प्रकट करती है। जो निर्दोष पुण्यमें सहायता करती है अर्थात् गृहस्थका कर्तव्य है कि सत्पात्रको दान दे तो सत्पात्रके योग्य आहार बनाये

तब ही तो दान दिया जा सकता। तो यह कार्य स्त्रियोंकी व्यवस्थामें होता है। तो सत्पात्रके दिए गए आहार दानसे उत्पन्न जो निर्दोष पुण्य है उस पुण्यके लाभमें मदद करती है। जो वंशका उद्धार करने वाले पुत्रको जन्म देती है। ऐसी सभी मनोकामनायें पूर्ण करने वाली स्त्री श्रेष्ठ रत्नके समान है। और रत्न बताये ही गए हैं १४। उन रत्नोंमें एक स्त्रीरत्न भी कहा है। कन्यारत्न भी कहा है। तो ऐसी योग्य स्त्री किसके द्वारा प्रार्थना किये जाने योग्य नहीं होती।

कृष्णत्वं केशपाशे, वपुषि च कृशतां, नीचतां नाभिबिंबे,
वक्रत्वं भ्रूलतायामलककुटिलतां, मंदिमानं प्रयाणे।
चापल्यं नेत्रयुग्मे, कुचकलशयुगे कर्कशत्वं दधाना,
चित्रं दोषानपि स्त्री लसति मुखरुचा ध्वस्तदोषाकरश्रीः ॥११०॥

स्त्रीसंगसे दोषोंकी लोकमें गुणरूपता—जो बातें दूसरी जगह दोषमें शामिल की जाती हैं वे ही बातें देखिये स्त्रियोंमें गुण समझी जा रही हैं। जैसे कालापन यह दोषमें गिना गया है, मगर स्त्रियोंके केशपाशमें अत्यन्त अधिक कालापन है और वह शोभा और गुणमें शामिल है। नीचता यह दोष माना गया है, सो नाभिमें नीचता होना अर्थात् गहराई होना यह गुण कहा गया है। वक्रता याने टेढ़ापना होना जगतमें निंद्य माना गया है, किन्तु नेत्रके ऊपर होने वाली भौंहोंमें वक्रता होना, यह शोभामें शामिल है और उससे भाग्यवान स्त्रीका बोध होता है। कृषता याने क्षीण होना यह दोष माना गया है, किन्तु स्त्रीके शरीरमें क्षीणता हो अर्थात् मोटापा न हो तो वह गुण माना गया है। कुटिलता, अत्यन्त टेढ़ापन या कई जगह टेढ़ापन होना यह दोष माना गया है, किन्तु स्त्रीके केश यदि अनेक जगह टेढ़े हो-होकर लहरायें तो वह शोभामें शामिल किया गया है। मंदपना यह दोष माना गया है, किन्तु स्त्रियों की गतिमें जो मंदपना है वह गुण समझा गया है। चपलता दोष है, किन्तु स्त्रीजनोंके नेत्र चंचल होते हैं। छिनमें कहीं देखना, छिनमें कहीं देखना और नेत्रका चलना यह उनमें शोभा मानी गई है। कठोरता याने कड़ापन होना यह दोष माना गया है, पर स्त्रियोंके कुचोंमें कठोरता होना दुनियामें शोभाकी बात मानी गई है अर्थात् काव्योंमें कविजन इस प्रकार शोभाका वर्णन करते हैं। इस छंदमें यह बताया गया है कि स्त्री एक ऐसा विचित्र पदार्थ है कि जिसमें दोष आकर भी गुण बन जाया करते हैं। सो ये सब बातें, कामीजनोंके भावोंकी बातोंके अनुसार हैं। वस्तुतः जो ऐसी स्त्रियोंको भी त्याग देते हैं, प्रशंसनीय पात्र तो वे कहलाते हैं।

बाहुद्वंदेन माली, मलविकलतया पद्धतींस्वभ्रंवानीं,
हंसीं गत्यान्यपुष्टी मधुरवचनतो, नेत्रतो मार्गभार्यां ।
सीतां शीलेन, कांत्या शिशिरकरतनुं, क्षांतितो भूतधात्रीं
सौभाग्याद्या विजिग्ये गिरिपतितनयां, रूपतः कामपत्नीं ॥१११॥
वक्षोजो कठिनो, न वाग्विरचना, मंदा गतिर्नोमति,
वक्रं भ्रूयुगलं मनो न जठरं, क्षामं नितंबो न च ।
युग्मं लोचनयोश्चलं, न चरितं, कृष्णा कचा, नो गुणा,
नीचं नाभिसरोवरं, न रमणं, यस्या मनोज्ञाकृतेः ॥११२॥
स्त्रीतः सर्वज्ञनाथः सुरनतचरणो जायतेऽबाधबोध-
स्तस्मात्तीर्थं श्रुताख्यं जनहितकथकं मोक्षमार्गावबोधः ।
तस्मात्तस्माद्विनाशो भवदुरिततते: सौख्यमस्माद्विबाधं
बुध्वैनं स्त्रीं पवित्रां शिवसुखकारिणीं सज्जनः स्वीकरोति ॥११३॥

महापुरुषोंकी जननी—वंदनीय जो सर्वज्ञ देव हुए हैं वे भी आखिर स्त्रियोंसे ही तो उत्पन्न हुए। जो सर्वज्ञदेव सच्चे शास्त्रोंका उपदेश देते हैं, जिन सच्चे शास्त्रोंसे मोक्षमार्गका ज्ञान होता है, मोक्षमार्गके ज्ञानसे संसारका नाश होता है अर्थात् संसारसे छुटकारा होता है। संसारसे छुटकारा मिलनेपर बाधारहित नित्य आत्मीय अनन्त मोक्षका आनन्द मिलता है। तो ऐसे सर्वोपकारी सर्वज्ञदेव भी स्त्री जनोंसे उत्पन्न हुए हैं वे स्त्री जन भाग्यवान हैं। जिस स्त्रीकी बाहें पुष्पमालासे भी अधिक कोमल हैं, जो निर्मलतामें आकाशको भी मात करती है, जिसका गमन हंसके गमनसे भी मंद मंद होता, जिसके वचनमाधुर्यमें कोकिलसे भी मीठे हैं। जो नेत्रोंकी चंचलतासे हिरणीको भी जीत लेती है, जो शील द्वारा सीताकी होड़ करती है, जिसकी कांतिसे चंद्रमाकी भी कांति फीकी पड़ जाती है, जिसमें क्षमा पृथ्वीसे भी अधिक होती है, ऐसी स्त्रीको लोग परम्परासे मोक्षका कारण जानकर, पवित्र जानकर हर्षके साथ स्वीकार करते हैं यहाँ जो परम्परासे मोक्षका कारण यह शब्द कहा है, उसका भाव यह है कि ऐसी स्त्रियाँ आहारदान आदिकमें सहयोग देती हैं। गृहस्थधर्मके पालनेमें उन्हें उत्साह होता है। इस कारणसे उनके संगसे भावोंमें शुभ अशुभकी बात विशेष बनती है, इस कारण कहा है। जिन स्त्रियोंका सौभाग्य पार्वतीके सौभाग्यसे भी बढ़ा-चढ़ा है। जो रूप द्वारा रतिके रूपको जीतती है, जिसके सिर्फ कुच ही कठिन हैं, वचन कठिन नहीं हैं, जिनकी गति ही मंद है, बुद्धि मंद नहीं है, भौंहें ही टेढ़ी हैं, मन टेढ़ा नहीं है। उदर ही कृष है, विचार कृष नहीं हैं। नेत्र ही चंचल हैं, चरित्र चंचल नहीं है। केश ही काले हैं, गुण काले

नहीं हैं अर्थात् दोषवान नहीं है। नाभि ही निम्न है, पर जिसके कार्य निम्न नहीं, ऊँचे हैं, स्त्री स्त्रीको पवित्र जन, सज्जन पुरुष हर्षके साथ स्वीकार करते हैं। यहाँ यह प्रशंसा करके यह बात दिखाई जायगी कि ऐसे स्त्री जनोंको भी जो त्याग देते हैं वे पुरुष बड़े विजयी पुरुष हैं।

भृत्यो मंत्री विपत्तौ भवति रतिविधौ याऽत्र वेश्या विदग्धा,
लज्जा लुर्या विगीता गुरुजनविनता गेहिनी गेहकृत्ये।
भक्त्या पत्यौ सखी या स्वजनपरिजने धर्मकर्मैकदक्षो
साल्पक्रोधाल्पपुण्यैः सकलगुणनिधिः प्राप्यते स्त्री न मर्त्यैः ॥११४॥

नारीका चातुर्य—जो स्त्री विपत्तिमें चतुर स्त्रीका काम करती है याने विपत्तिके समय सही मंत्रणा देकर विपत्तियोंसे बचानेका प्रयत्न कराती है। जो स्त्री रतिके समय वेश्या से भी अधिक चतुराई दिखाती है। जो स्त्री पति द्वारा निन्दित होकर लज्जासे नीचा मुख कर लेती है, जो स्त्री गुरुजनोंके प्रति विनय करती है, ज्येष्ठ सास ससुर आदिक बड़े पुरुषोंका विनय रखती है, घरके काम-काज करनेमें चतुर होती है, जो स्त्री भक्तिसे मित्रके समान पति का काम करती है, जो धर्मकर्म करनेमें चतुर है, अतएव किसी-किसी प्रसंगमें कार्यसिद्धिके लिए स्वजन और परिजनोंमें अल्प क्रोध दिखाती है वह स्त्री समस्त गुणोंकी खान है। वह अल्प पुण्य वाले मनुष्योंके भाग्यमें नहीं होती। दुनियामें देखा जा रहा है कि सभी पुरुषोंके स्त्री है, पर अक्सर किसीकी स्त्री कटुस्वभाव वाली है, जिससे मन न मिले, जिद्दी टाइपकी है, अनेक प्रकारकी बातें हैं, पर कोई स्त्री हर प्रकारसे घरके कामोंमें मददगार सबको संतुष्ट रखने वाली नाना गुणोंकी खान होती। वे स्त्रियाँ अल्प पुण्य वाले मनुष्योंके भाग्यमें नहीं हैं, जिन्होंने पूर्व जन्ममें महान् पुण्य किया, उनको ही ऐसी स्त्रियाँ प्राप्त होती हैं। यहाँ यह विशेष जानना कि महापुरुष ऐसी विशिष्ट स्त्रियोंको भी त्यागकर केवल अपने आत्मामें रमण करते हैं। उन पुरुषोंका कितना ऊँचा ज्ञान और वैराग्य होता है।

कृत्याकृत्ये न वेत्ति त्यजति गुरुवचो नीचवाक्यं करोति,
लज्जालुत्वं जहाति व्यसनमतिमहद्गाहते निन्दनीयं।
यस्यां शक्तो मनुष्यो निखिलगुणरिपुर्माननीयोऽपि लोके,
सानर्थानां निधानं वितरतु युवतिः किं सुखं देहभाजाम् ॥११५॥

स्त्रीसंगसे पुरुषोंके विवेकका ह्रास—ऊपरके कुछ श्लोकोंमें स्त्रियोंके गुण बताये गए, अब जो मनुष्य स्त्रीजनोंमें आसक्त रहते हैं वे करने योग्य और न करने योग्य अर्थात् अच्छे और बुरे कामको नहीं विचारते। वे मनुष्य गुरुवचनोंका पालन नहीं करते, उनकी उपेक्षा

करते हैं, वे पुरुष नीच पुरुषोंके बहकायेके अनुसार चलते हैं। कामासक्त पुरुष लज्जा गुणको छोड़ देते हैं अर्थात् बेशर्म होकर अटपट प्रवृत्ति करने लगते हैं। कामासक्त पुरुष निन्दनीय व्यसनोंमें फंस जाते हैं। चाहे वे कितना भी मान्य हों, पर उनके समस्त गुण भस्म हो जाते हैं। तो यों यह स्त्री कितने ही गुणोंकी खान हो तो भी पुरुष आत्माके लिए किसी भी प्रकार हितकारी नहीं है। ऐसे महान् अनर्थकी खान स्त्री संसारमें अच्छे मनुष्योंको कैसे सुख दे सकती है? तब विचारशील पुरुषोंका कर्तव्य यही है कि वे कामविषयक भावोंको मूलसे नष्ट करके स्त्री संसर्गको तज दें, और स्त्रीविषयक मनमें रंच भी भावना, आशा, प्रतीक्षा मत रखें। आत्मानुभवके लिए ही अपना जीवन समझें।

शश्वन्मायां करोति स्थिरयति न मनो मन्यते नोपकारं,
या वाक्यं वक्त्यसत्यं मलिनयति कुलं, कीर्तिवल्लीं लुनाति।
सर्वारम्भैकहेतुर्विरतिसुखरतिध्वंसिनी निंदनीया,
तां धर्मारामभंक्त्रीं भजति न मनुजो मानिनीं मान्यबुद्धिः ॥११६॥

स्त्रियोंकी प्रकृतिका वर्णन—स्त्रियाँ प्रकृत्या ही सदा माया करती हैं। वह भव ही ऐसा है कि जो मायाचारके फलमें प्राप्त हुआ है। स्त्रियोंका मन कभी स्थिर नहीं होता, चंचलता उनकी प्रकृतिकी देन है। स्त्रीजन उपकारियोंका भी उपकार नहीं मानतीं अर्थात् अपना दाव पड़नेपर सबका ही अपकार कर बैठती हैं, स्त्रीजन झूठ बोलनेमें बड़ी चतुर होती हैं। कितनी जल्दी किस बातको बदल दें, किस तरहसे पेश कर दे, यह उनकी प्राकृतिक देन है। स्त्री जन अपने चारित्रसे कुलमें भी धब्बा लगा बैठती है। स्त्रीजन कीर्तिरूपी लताको काट डालती हैं अर्थात् अपनी कीर्ति कायम बनाये रखें, ऐसी उनकी आदत नहीं होती। कीर्ति रहे या कुलमें धब्बा रहे जो उनके मनमें आता है उस कषायके अनुसार अपनी चेष्टा करती हैं। ऐसी इन स्त्रियोंके कारण मनुष्योंको बड़े आरम्भ और परिग्रहोंमें फंसना पड़ता है। आत्मार्थीका तो कर्तव्य यह है कि अपने एकत्वगत आत्मस्वरूपका ध्यान रखें, उसकी ही उपासनामें रहे, अन्य समागम न चाहें, फिर स्त्री समागम तो एक विडम्बनाका कारण होता है। स्त्रीकी संगति रखने वाले पुरुष वैराग्यजन्य सुखसे हाथ धो बैठते हैं। अतएव जो विचारशील पुरुष हैं वे धर्मके मूलको काटने वाली स्त्री जनोंका सेवन नहीं करते और उनसे दूर ही रहा करते हैं।

या विश्वासं नराणां जनयति शतधालीकजल्पप्रपञ्चै-
र्नं प्रत्येति स्वयं तु व्यपहरति गुणानेकदोषेण सर्वान्।

कृत्वा दोषं विचित्रं रचयति निकृतिं यात्मकृत्यैकनिष्ठा,
तां दोषाणां धरित्रीं रमयति रमणीं मानवो नो वरिष्ठः ॥११७॥

स्त्रियोंका अन्तःकरण—जो स्त्रियाँ मनुष्योंसे सैंकड़ों बातें कहकर अपना विश्वास उत्पन्न करा देती हैं, पर स्वयं किसीका विश्वास नहीं करतीं। जो जीव स्वयं अविश्वसनीय हैं, विश्वासघात किया करते हैं उनको दूसरोंपर विश्वास नहीं हो पाता। स्त्रीजनोंमें ऐसी कला है कि कई प्रकारके वचनालाप द्वारा दूसरोंका विश्वास करा दें, पर स्वयं दूसरोंका वश्वास नहीं करतीं। ये स्त्रीजन एक दोषसे ही दूसरे समस्त गुणोंपर पानी फेर देती हैं अर्थात् एक दोष ही कोई व्यक्त कर दें तो बाकी गुणोंपर फिर कोई प्रकाश नहीं रहता। स्त्री जन नाना प्रकारके विचित्र ढोंग रचकर लोगोंकी दृष्टिमें निर्दोष बनी रहती है। चाहे हों स्वयं सदोष और कितने ही भीतर दोष बसे हों, उनको वे ही जानें, लेकिन अपनी वचनकलासे, अन्य कलावोंसे ढोंग रचकर लोगोंकी दृष्टिमें अपनेको ऐसा सिद्ध कर देती है कि मानो वे अत्यन्त निष्कलंक हैं। जो स्त्रीजन अपना ही अपना स्वार्थ साधती रहती हैं सो ऐसे स्त्री जनोंको श्रेष्ठ पुरुष, विवेकी जन कभी स्वीकार नहीं करते।

उद्यज्ज्वालावलीभिर्भवरमिह भुवनप्लोषके हव्यवाहे,
रंगद्वीचौ प्रविष्टं जलनिधिपयसि ग्राहन क्राकुले वा।
संग्रामे वारिरौद्रे विविध शरयुतानेकयोधप्रधाने
नो नारीसौख्यमध्ये भवशतजनितानंतदुःखप्रवीणे ॥११८॥

स्त्रीसुखकी कष्टकारिता—इस छंदमें बतला रहे हैं कि स्त्रियोंके सुखमें पड़कर जीवों को सैंकड़ों और हजारों भवोंमें दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है। चाहे तीनों लोकको जला देनेमें समर्थ अग्निकी तेज ज्वालामें जल-भुनकर खाक हो जाय तो भी स्त्रीसुखमें पड़नेकी अपेक्षा अच्छा है। पर स्त्रीसुखमें पड़कर बेसुध हो जाना यह भला नहीं है, क्योंकि इससे सैंकड़ों और हजारों भवोंमें दुःख उठाना पड़ता है। अग्निमें जलकर तो एक बार ही खाक हुआ, पर स्त्रीसुखमें आसक्त होकर यह भव-भवमें दुःखी रहेगा। चाहे कोई लहर और मगर-मच्छोंसे व्याप्त समुद्रके जलमें गिर जाय तो वह अच्छा है, स्त्रीसुखमें पड़नेकी अपेक्षा अच्छा है, पर स्त्रीसुखमें पड़कर तो यह हजारों भवोंमें दुःख भोगेगा। किसी जल जंतु व्याप्त लहरों से परिपूर्ण समुद्रमें गिरनेसे एक ही भवमें मरता है, पर स्त्रीप्रसंगसे भव-भवमें जन्म मरण करना पड़ता है। कोई पुरुष नाना शस्त्रोंके धारक योद्धावोंके युद्धमें उन बैरियोंके बाणोंसे प्राण दे दे तो भी उसका परस्त्रीके सुखमें पड़कर बेसुध करना और भव-भवमें दुःख पाना भला नहीं है, सांसारिक अनेक दुःखोंका घर है यह स्त्रीसुखमें पड़ना, इससे आत्मा अपने स्व-

रूपकी सुध खो बैठता है और भव-भवमें जन्म मरण आदिकके दुःख भोगता है।

विद्युदद्योतेन रूपं रजनिषु तिमिरे वीक्षितुं शक्यते यैः,
पारं गंतुं भुजाभ्यां विविधजलचरक्षोभिणो वारिधीना।
ज्ञातुं पारोऽमितनां विदति विचरतां ज्योतिषां मंडलएव,
नो चित्तं कामिनीनामिति कृतमतयो दूरतस्तास्त्यजंति ॥११९॥

स्त्रियोंके चंचल मनके पारकी अशक्यता——लोग बड़ी विकट अंधेरी रातमें बिजलीके सहारे रूप देख सकते हैं। लोग नाना प्रकारके जलचरोंसे व्याप्त समुद्रको भुजाओंसे तैरकर पार कर सकते हैं और अनेक लोग अनगिनत आकाशके तारोंको भी किसी न किसी प्रकार गिन सकते हैं, परन्तु स्त्रीके चंचल मनकी बातका पार ये कोई पुरुष पा नहीं सकते। जिसके मनका कुछ पता ही न पड़े उसकी संगति इस जीवको बहुत कष्टप्रद है। सो बुद्धिमान् पुरुष स्त्रीसंगतिसे दूर ही रहा करते हैं। इस छंदमें यह बताया गया है कि जो अन्यसे असम्भव बात हो वह चाहे सम्भव हो जाय, परन्तु स्त्रीके मनमें क्या बात है इसका पता पाड़नेमें कोई समर्थ नहीं हो सकता। फिर यह संसार है। यहाँ सब जीव अकेले-अकेले ही जन्म मरण किया करते हैं। कोई किसीका साथी नहीं है। किसी अन्यके संगसे इस जीवका क्या लाभ है और फिर मायारूप मन वाली स्त्रीकी संगतिसे तो लाभ कुछ है ही नहीं।

काऽत्र श्रीः श्रोणिबिम्बे स्रवदुदरपुरे वाऽस्ति खद्वार वाच्ये,
लक्ष्मीः का कामिनीनां कुचकलशयुगे मांसपिण्डस्वरूपे।
का कान्तिर्नेत्रयुग्मे कलुषजलजुषि श्लेष्मरक्तादिपूर्णे,
का शोभा वक्त्रगर्ते निगत यदहो मोहिनस्ता। स्तुवन्ति ॥१२०॥

कामिनीकामनाप्रेमी कवियोंकी कलम——अहो संसारमें अज्ञानकी बड़ी अधिक प्रबलता है, लोग अज्ञानके वश होकर स्त्रियोंके शोभाविहीन श्रोणिबिम्ब कुचयुगल, नेत्रयुगल और मुख कमलकी कितनी बड़ी-बड़ी प्रशंसायें कर डालते हैं जिससे बड़ी-बड़ी पुस्तकें कवियोंने भर डाली है, पर वास्तवमें देखा जाय तो वे कविजन, वे प्रशंसक पुरुष बिलकुल घृणाके पात्र हैं। अब सारा लोक ही इस कामवासनाकी व्यथासे पीड़ित है सो स्त्रियोंके अङ्गोंकी प्रशंसा करने वाले कवि जनोंकी वे कदर करते हैं। बड़े-बड़े कविसम्मेलन कराकर बड़ा खर्च करते हैं, खूब राग रागनीके शब्द सुनते हैं, पर वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो स्त्रियोंके अङ्गोंकी प्रशंसा करने वाले कविजन जनताके मित्र नहीं हैं, बल्कि शत्रु हैं। जनताको अहितके मार्गमें लगाने वाले हैं। बड़े आश्चर्यकी बात है कि कहाँ तो वह श्रोणि (योनि स्थान) रज और मूत्र को बहाने वाला एक बाहरी इन्द्रियद्वार है और कहाँ ये कुच जिनकी उपमा कविजन कलशसे

देते हैं वे मांसके लोदे हैं। नेत्र भी मलिन जलसे मैले हैं और मुख कफ, रक्त आदिक अपवित्र पदार्थोंका घर है। देखिये—कुछ समझदार कवि नाम धरा लेने वाले पुरुष भी इस अज्ञान और मोहके विकट चक्करमें आ जाते हैं।

वक्त्रं लालाद्यवद्यं सकलशशिभृता स्वर्णकुम्भद्वयेन,
मांसग्रन्थी स्तनौ च प्रगलदुरुमला स्यंदनांगेन योनिः।
निर्गच्छद्दूषिगस्त्रं यदुपमितमहो पद्मपत्रेण नेत्रं,
तच्चित्रं नात्र किंचिद्यदपगतमतिर्जायते कामिलोकः ॥१२१॥

कामी पुरुषोंके विडम्बित वचन—संसारमें कामी पुरुषोंकी भी बड़ी विचित्र विडम्बनायें हैं। उनकी महिमा अपरम्पार है, देखिये उन्होंने जो स्त्रीमुख लार, थूक आदिक अपवित्र वस्तुवोंका घर है उस मुखको पूर्णमासीके चन्द्रमासे उपमा दी जाती है। तो देखिये उन कामी पुरुषोंका कैसा चित्त लुट गया है कि वे भी निर्धन होकर यथा तथा बकवाद करते हैं। इन कवि जनोंने मांसके पिण्ड स्तनोंको बहुमूल्य स्वर्णकलशके समान माना है यह उन कामी कवियोंकी बुद्धिकी कैसी विडम्बना है? जो सदा रक्तादिक मलोंको चुवाती रहती है ऐसी योनि को चक्र तुल्य बताया है। कैसा बेतुका मेलकी बात ये कामी कविजन करते हैं, इनकी भी विडम्बना वचनोंके अगोचर है। ये नेत्र जो कीचड़ आदिक दुर्गन्धित पदार्थोंको बहाने वाले हैं उन नेत्रोंको कमलसे भी अधिक सुन्दर बना दिया गया है। तो संसारमें कामी लोग भी अति अधिक विडम्बनामें फंसे हुए हैं।

यत्त्वग्मांसास्थिमज्जाक्षतजरसवसाशुक्रधातुप्रवृद्धे,
विष्टामूत्रासृगश्रुप्रभृतिमलनवस्रोतमत्र त्रिदोषे।
वर्चः सद्मोपमाने कृमिकुलनिलयेऽत्यंतबीभत्सरूपे,
रज्यन्नंगे वधूनां व्रजति गतमतिः श्वभ्रगर्भे कृमित्वं ॥१२२॥

स्त्रीमें आसक्तिका दुष्परिणाम—स्त्रियोंमें रमण करनेका अंग कितना अपवित्र वस्तुवोंसे भरा हुआ है यह बात लोकप्रसिद्ध है। चमड़ी, मांस, हड्डी, मज्जा, रक्त, सवसा और शुक्र इन ७ धातुवोंका बना है और इतना ही नहीं, विष्टा, मूत्र, रक्त, अश्रु आदिक ९ मलोंके बहाने वाला नाला है, और इतना ही नहीं, किन्तु वात्त, पित्त, कफ आदिक तीन दोषोंसे सहित है तथा विष्टा और कीड़ोंका घर है। ऐसे अपवित्र देहमें यह मूढ़ मनुष्य क्रीड़ा करता है। कैसा महान् बीभत्स अंगोंमें यह अज्ञानी, कामी पुरुष रमण करते हुए व रमणके बाद अपनेको धन्य समझते हैं। तो ऐसे पुरुष जो स्त्रीदेहमें आसक्त हैं और उस ही में रमण कर अपनेको धन्य समझते हैं वे नरकमें पड़े हुए कीड़ेके समान गिने जाते हैं अथवा सुनिश्चित ही

है कि ऐसे अज्ञानी लोग जो स्त्रियोंके अंगोंमें आसक्त हैं वे पुरुष नरकोंमें ही जायेंगे और वहाँ कीड़ोंकी तरह नाना प्रकारके दुःख भोगेंगे। जो विवेकी पुरुष हैं वे स्त्रीसंसर्गसे दूर रहकर अपने स्वरूपकी आराधना करके इस दुर्लभ जीवन और शासन समागमको सफल किया करते हैं।

छायावद्या न त्याज्याचिररुचिचपला खड्गधारेव तीक्ष्णा,
बुद्धिर्वा लुब्धकस्य प्रतिहृतकरुणा व्याधिवन्नित्यदुःखा।
वक्रा व सर्परीतिः कुनृपगतिरिवावद्यकृत्यप्रचारा:,
चित्रा वा शक्रचापं भवयकिचबुधैः सेव्यते स्त्री कथं सा ॥१२३॥

स्त्रियोंकी असेव्यता— जो स्त्री छायाके समान पीछे-पीछे चलती है, जो बिजलीके समान चंचल होती है, तलवारकी धारके समान तीक्ष्ण होती है और कसाईकी बुद्धिके समान निर्दयी रहती है, वह रोगकी नाईं सर्वदा दुःख ही दुःख देती है, सांपकी गतिके समान टेढ़ी रहती है, खोटे राजाकी तरह सदा पापका ही प्रचार करती है एवं इन्द्रधनुषकी तरह विचित्र रहती है। ऐसी स्त्रीको संसारसे भीत ज्ञानी पुरुष कैसे सेवन कर सकते हैं? जो संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त है उन पुरुषोंका कर्तव्य है कि चंचल चित्त वाली स्त्रीका सेवन न करें अथवा स्त्रीविषयक कामभावके कारण संसारका बंधन ही बढ़ता है, आत्माका उसमें कोई हित नहीं है। स्त्रीसम्बंध परदयारहित हो जाता है। दूसरेकी हिंसा कराने तकमें कसर नहीं छोड़ता। उसका प्रसंग ही यदि वह खुश है तो दुःखमें समय व्यतीत होता है और यदि वह रुष्ट है तो भी दुःखमें व्यतीत होता है। जिसका मन कुटिल है, जिसका कोई पार नहीं पा सकता, ऐसा पापका प्रचार करने वाली स्त्रीको कोई भी बुद्धिमान सेवन नहीं कर सकता। जिसको आत्मकल्याणकी भावना है वह स्त्री संसर्गसे दूर रहकर आत्मस्वभावकी आराधना करे।

संज्ञातोऽपींद्रजालं यदुत युवतयो मोहयित्वा मनुष्या-
न्नानाशास्त्रेषु दक्षानपि गुणकलितं दर्शयंत्यात्मरूपं।
शुक्रासृग्यातनाक्तं ततकुथितमलैः प्रक्षरत्स्रोतगर्तैः,
सर्वैरुच्चारपुंजं कुथित भृतपटं छिद्रितं यद्वदत्र ॥१२४॥

स्त्रियोंकी इन्द्रजालोपमता—स्त्रियाँ मनुष्योंका मन लुभानेमें इन्द्रजालसे भी बढ़कर काम किया करती हैं। इन्द्रजाल तो सामान्य बढ़े लाखों लोगोंमें ही अथवा मूर्ख जनोंमें ही मोहबुद्धिको बना देता है, परन्तु ये स्त्रियाँ तो बड़े-बड़े शास्त्रोंके जानकार मनुष्योंको भी बातोंमें ही अपने मोहमें फंसा लेती हैं और इतना तक फंसा लेती हैं कि अत्यन्त निन्दनीय अपने

शरीरको गुणोंसे भरपूर दिखा दिया करती हैं।

या सर्वोच्छिष्टवक्त्रा हितजनभुषणासद्गुणास्पर्शनीया,
पूर्वाधर्मात्प्रजाता सततमलभृता निद्यकृत्यप्रवृत्ता।
दानस्नेहा शुनीव भ्रमणकृतरतिश्चाटुकर्मप्रवीणा,
योषा सा साधुलोकैरवगतजननैर्दूरतो वर्जनीया ॥१२५॥

साधुवों द्वारा स्त्रियोंकी त्याज्यता—जिसका मुख सर्व लोकके उच्छिष्टसे जूठा रहता है, जो हितू जनोंसे बैर किया करती है, जो दुर्गन्धसे परिपूर्ण होनेके कारण स्पर्श करने योग्य नहीं है, जो पूर्वजन्ममें किए गए पापके उदयमें ही उत्पन्न होती है, रक्तादिक मलोंसे मलिन होती हैं, सदैव निन्द्य कार्य करती है, कुत्तीके समान जिसका दान देने वालेमें ही स्नेह रहा करता है, सदा इधर-उधर डोलनेकी आदत हुआ करती है। मिन्नत खुशामद करनेमें जो बड़ी कुशल होती है ऐसी स्त्रियाँ साधु लोगों द्वारा दूरसे ही त्याग देने योग्य है। इन स्त्रियोंका हितूजनोंसे स्नेह नहीं रहता, बल्कि जो शिक्षा दें उनसे बैर बढ़ जाता है। तो विद्वान् पुरुषोंको चाहिये कि वे स्त्रीसंसर्ग तजकर अपने आत्मानुभवमें ही रमण करनेका पौरुष करें।

दुःखानां या निधानं भवनमविनयस्यार्गला स्वर्गपुर्याः,
श्वभ्रावासस्य वर्त्म प्रकृतिरयशसः साहसानां निवासः।
धर्मारामस्य शस्त्री गुणकमलहिमं मूलमेनोद्रुमस्य,
मायावल्लीधरित्री कथमिह वनिता सेव्यते सा विदग्धैः ॥१२६॥

प्रज्ञों द्वारा स्त्रियोंके सेवनपर आश्चर्य—जो स्त्रियाँ दुःखकी खान हैं, जिनका संग करनेसे पुरुष दुःख ही प्राप्त किया करते हैं। जो स्त्रियाँ अविनयका घर हैं, किसी भी वचनों द्वारा दूसरोंका अपमान करनेमें कुशल हैं। जो स्वर्गपुरी जानेमें भी बाधक होती हैं, जो नरकके सीधे रास्तारूप हैं, जो अपयशकी जड़ हैं, ऐसी स्त्रियोंका सहवास करनेसे उल्टा लोकमें अपवाद फैलता है, चाहे कोई किसी भी बर्तावसे रहे। तो जो बदनामीकी जड़ है, जो साहसोंका अड्डा है, स्त्री जन साहस करनेमें बड़ी समर्थ होती हैं, उनका साहस होता है खोटे कामोंकी ओर। धर्मरूपी बगीचेके लिए जो छुरी है अर्थात् धर्मका मूल काट देने वाली है। गुणरूपी कमलोंके लिए बर्फकी तरह है। जैसे बर्फके गिरनेसे कमलोंका वन जल जाता है, इसी तरह सर्व गुण इस स्त्रीसंसर्गसे जल जाते हैं, जो पापरूपी वृक्षकी जड़ है, मायाकी बेल है, ऐसी स्त्रियोंका विद्वान् पुरुष कैसे सेवन कर सकते हैं? यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है।

श्रोणीसद्मप्रपन्नैः क्रिमिभिरतिशयारुंतुदैस्तुद्यमाना,
यत्पीडातोऽतिदीना विदधति चलनं लोचनानां रमण्यः।

तन्मन्यंतेऽतिमोहादुपहतमनसः सद्विलासं मनुष्या,
इत्येतत्तथ्यमुच्चैरमितगतियतिप्रोक्तमाराधनातः ॥१२७॥

स्त्रियोंकी अन्तर्वेदनाकी प्रतिक्रियामें कामियों द्वारा सौन्दर्यका दर्शन—इस ग्रन्थके करने वाले आचार्य अमितगति यहाँ अपना सिद्धान्त जाहिर करते हैं अर्थात् अपना मत बताते हैं कि स्त्रियोंकी योनियोंमें जो विषैले कीड़े होते हैं उनके काटनेसे स्त्रियोंको एक विलक्षण रतिकी पीड़ा होती है जिसके कारण उस पीड़ाको न सह सकनेसे स्त्रियां अपने नेत्रोंको घुमाती हैं, मींचती हैं या इधर-उधर चढ़ाती हैं, पर मोहके फंदेमें पड़ा हुआ यह मनुष्य ऐसा मूढ़ है कि वह स्त्रियोंका इसमें विलास और कटाक्ष समझता है। इस छंदमें यह बताया गया है कि उनकी जो चेष्टा है सो उनकी वेदनासे होती है। योनिमें रहने वाले विषैले कीड़ोंकी रतिसे पीड़ा बनती है। उस पीड़ाको न सह सकनेसे उनके नेत्र चंचल हुआ करते हैं, पर मोही लोग क्या समझते हैं कि यह कोई शोभाकी बात है अथवा यह कटाक्ष है, इस प्रकार इस नामसे पुकारते हैं। सो स्त्रियोंके शरीरको अशुचि निरखकर, स्त्रियोंके शरीरकी चेष्टावोंको वेदनाजन्य निरखकर उनमें मोहित न होना चाहिये।

॥ इति सुभाषित रत्नसंदोह प्रवचन प्रथम भाग समाप्त ॥

श्री पार्श्वनाथ पुस्तकालय
(DR. N. C. JAIN'S HOME LIBRARY)
गली पार्श्वनाथ, मौ० ठठेरवाड़ा, ... शहर
.... अनुयोग पुस्तक ... .